

**THE BOOK WAS  
DRENCHED**

UNIVERSAL  
LIBRARY

OU\_186778

UNIVERSAL  
LIBRARY



**OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY**

Call No. **H 330.4**  
**V 78 S** Accession No. **G.H. 2744**  
Author **विनोबा**  
Title **सर्वोदय - संदेश १९६०**

This book should be returned on or before the date  
last marked below.



**अल्पमोली संस्करण**

# **सर्वोदय-संदेश**

सर्वोदय के बुनियादी तत्वों पर प्रकाश डालनेवाले प्रवचन

प्रवचनकार

विनोबा

पुस्तक भेंट के निमित्त है



सस्ता साहित्य मंडल-प्रकाशन

१९६०

Checked 1969

प्रकाशक  
मार्तण्ड उपाध्याय  
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,  
नई दिल्ली-१

---

पहली बार : १९६०  
अल्पमोली-संस्करण  
मूल्य : डेढ़ रुपया

---

मुद्रक  
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस,  
दिल्ली

## प्रकाशकीय

पाठकों को संभवतः ज्ञात होगा कि गांधीजी के निधन के बाद 'गांधीजी के भाईचारे में विश्वास रखनेवाले' व्यक्तियों की एक संस्था स्थापित हुई थी— 'सर्वोदय-समाज'। उसका प्रति वर्ष एक सम्मेलन होता है, जिसमें सारे देश के रचनात्मक कार्यकर्ता तथा कुछ विदेशी व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं। अबतक इसके बारह सम्मेलन हो चुके हैं। उन सम्मेलनों में विनोबाजी ने जो उद्घाटन तथा उपसंहारात्मक प्रवचन दिये थे, उन्हींको इस पुस्तक में संग्रहीत किया गया है। पहले खण्ड में उद्घाटन-प्रवचन दिये गए हैं, दूसरे में उपसंहारात्मक। अनगुल तथा सेवाग्राम के अधिवेशनों में विनोबाजी नहीं जा सके थे, अतः वे छोड़ दिये गए हैं।

इन प्रवचनों में विनोबाजी ने बड़े ही बुनियादी विचार दिये हैं। सर्वोदय के आदर्शों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने उद्घाटन-प्रवचनों में वर्ष-भर के कार्य का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है और उपसंहारात्मक प्रवचनों में अन्य बातों के साथ प्रत्येक सम्मेलन की कार्रवाई का सार दिया है। सर्वोदय तथा भूदान का विचार किस प्रकार उदित और पल्लवित हुआ, इसकी विस्तृत जानकारी इस पुस्तक के प्रवचनों को पढ़कर हो जाती है।

हम आशा करते हैं कि इस पुस्तक को रचनात्मक कार्यकर्ता ही नहीं, समाज और देश के अम्युदय में रुचि रखनेवाले सभी पाठक पढ़ेंगे। पुस्तक अधिक-से-अधिक हाथों में पहुँचे, इससे इसका मूल्य इतना कम रक्खा गया है।

—मंत्री

## विषय-सूची

### खण्ड १

५-१०७

१. सर्वोदय का अर्थ
२. नये युग का पंचविध कार्यक्रम
३. सर्वोदय की दिशा में
४. तीसरी शक्ति
५. पक्षातीत कार्य
६. सत्याग्रह का विधायक स्वरूप
७. कलियुग नहीं, कृतयुग
८. वेदांत और अहिंसा का समन्वय
९. विश्व-शान्ति का आधार
१०. 'जयहिन्द' से 'जयजगत'

५  
७  
१७  
२८  
४४  
५४  
७१  
८३  
८८  
९८

### खण्ड २

१०८-१८८

१. सर्वोदय की विचार-धारा
२. अहिंसा का रास्ता
३. शांति-सैनिकों की आवश्यकता
४. नीतिधर्म की प्रेरणा
५. धर्म-रहस्य
६. अहिंसा का सार्वभौम आवाहन
७. सत्त्व और शक्ति
८. विज्ञान और आत्मज्ञान
९. विचार-निष्ठा
१०. वेदान्त, विज्ञान और विश्वास

१०८  
११४  
१२०  
१२१  
१३०  
१४१  
१५२  
१६४  
१७५  
१७६



# सर्वोदय-संदेश

खण्ड १

## १ : : सर्वोदय का अर्थ

यह सर्वोदय-समाज के सेवकों का सम्मेलन है। यह एक नया समाज बनने जा रहा है। आज तो उसमें चन्द लोग इकट्ठे हुए हैं, लेकिन वे चन्द ही रहनेवाले नहीं हैं। अगर परमेश्वर ने चाहा तो सारी दुनिया सर्वोदय-समाज बनेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। और दुनिया को तो तभी शान्ति मिलेगी जब वह सर्वोदय-समाज बन जायगी। गांधीजी की मृत्यु के बाद इसका एक छोटा आरम्भ हमने किया है। अभी वह चीज बन रही है। वैसे तो इसे सर्वोदय-समाज का पहला ही सम्मेलन कहना चाहिए। इसलिए इस तरफ आप लोगों का ध्यान स्वभावतः विशेष आकृष्ट हुआ है और एकाग्र होगया है, यह मैं जानता हूँ। यों पिछले साल एक सम्मेलन हुआ था, लेकिन वह एक संकल्पमात्र था। इस एक साल में जो कुछ अनुभव आया है उसके आधार पर इस साल यह सम्मेलन हो रहा है। इसलिए इसमें आगे के प्रचार-कार्य की योजना तैयार होगी। लेकिन जब आप लोगों ने इस सम्मेलन को यहां निमन्त्रण दिया है तो हम आशा करते हैं कि यहां के अर्थात् मध्यभारत के लोग इस कल्पना को ठीक तरह समझ लेंगे। अपने जीवन में उसका अधिक-से-अधिक अमल करने की कोशिश करेंगे और गांव-गांव तथा घर-घर में इसका प्रचार करेंगे।

सर्वोदय एक ऐसा अर्थघन शब्द है कि उसका जितना अधिक चिन्तन और प्रयोग हम करते जायेंगे उतना ही अधिक अर्थ उसमें से पाते जायेंगे। सारा अर्थ एकदम सूझनेवाला नहीं है। आहिस्ता-आहिस्ता वह सूझेगा। लेकिन उसका एक अर्थ स्पष्ट है कि जब भगवान् ने इस दुनिया में मानव-समाज का निर्माण किया है तो मानव का आपस-आपस में विरोध हो या एक का हित दूसरे के हित के विरोध में हो यह उसकी मंशा कदापि नहीं हो सकती। कोई बाप यह नहीं चाहता कि

एक लड़के का हित दूसरे लड़के के विरोध में हो। लड़कों में विचार-भेद हो सकता है, लेकिन हित-विरोध नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न विचार हों, तो ऐसे अनेक विचार मिलकर एक पूर्ण विचार बन सकता है, क्योंकि किसी एक ही आदमी का पूर्ण विचार सूझे, यह नहीं हो सकता है। एक को एक अंग सूझेगा, दूसरे को दूसरा अंग सूझेगा, तो तीसरे को तीसरा अंग सूझेगा। इस तरह सबके अंगों का मिलकर एक पूर्ण विचार होगा। इसलिए विचार-भेदों का होना जरूरी है। उसमें दोष नहीं है, बल्कि गुण ही है। पर हित-विरोध नहीं होना चाहिए।

लेकिन हमने अपना जीवन ऐसा बनाया है कि एक के हित में दूसरे के हित का विरोध पैदा होता है। धन आदि जिन चीजों को हम लाभदायी मानते हैं, उनका सामनेवाले की परवा किये बगैर और कभी-कभी उससे छीनकर भी हम संग्रह करते हैं। प्रेम से भी अधिक कीमत धन को यानी सुवर्ण को हमने दे रखी है। ऐसी सुवर्ण माया दुनिया में फैल गई है। उसीका नतीजा है कि जो परस्पर मेल या समन्वय आसान होना चाहिए था वह मुश्किल होगया है। उस मेल की शोध में कई राजकीय, सामाजिक और आर्थिक शास्त्र बन गये हैं। फिर भी सबका हित नहीं सध रहा है। लेकिन एक सादी बात समझ लेंगे तो वह सधेगा। हर एक दूसरे की फिक्र रखे और अपनी फिक्र भी ऐसी न रखे कि जिससे दूसरे को तकलीफ हो। यही वह सादी बात है। यही कुटुम्ब में होता भी है। कुटुम्ब का वह न्याय समाज को लागू करना कठिन नहीं होना चाहिए, बल्कि आसान होना चाहिए। इसीको सर्वोदय कहते हैं।

सर्वोदय का यह एक बहुत ही सरल और स्पष्ट अर्थ है। हम जैसे-जैसे प्रयोग करते जायेंगे वैसे-वैसे उसके और भी अर्थ निकलेंगे। लेकिन उसका कम-से-कम और स्पष्ट अर्थ यह है और इससे यह प्रेरणा मिलती है कि हमें दूसरे की कमाई का नहीं खाना चाहिए। दूसरे का धन किसी तरह हम ले लें इसे अपनी कमाई नहीं कही जा सकती। कमाई का अर्थ है प्रत्यक्ष पैदाइश करें। ये दो नियम हम ले लें तो सर्वोदय-समाज का प्रचार दुनिया में हो सकेगा।

वैसा प्रचार जब होगा तब होगा, लेकिन आज सर्वोदय-समाज के सम्मेलन का यहां से आरम्भ हो रहा है, इसलिए इस मध्यभारत में उसका आरम्भ होजाय तो सारे भारत में फैल सकता है। यह एक पुण्यभूमि है। नर्मदा नदी का यह क्षेत्र है। हिन्दुस्तान में नर्मदा को पुण्य-सलिला कहते हैं। 'कलौ नर्मदा'—कलियुग में नर्मदा का महत्व क्यों है? इसीलिए कि यह उत्तर हिन्दुस्तान और दक्षिण हिन्दुस्तान की संधि-सरिता है। ऐसे मध्यभारत में आप खड़े हैं। इसीलिए मैं उम्मीद करूंगा कि सर्वोदय-समाज के सम्मेलन के निमित्त से इस कल्पना का हर गांव और हर घर में प्रचार करेंगे। एक छोटा बच्चा भी सर्वोदय-समाज का सेवक बन

सकता है, अगर वह दूसरे की सेवा करता है और कुछ-न-कुछ पैदाइश करता है। इस तरह लाखों-करोड़ों सेवकों इस समाज के बन जायेंगे। ये लोग उन सेवकों का रजिस्टर रखते हैं, लेकिन तब ऐसी नौबत आयेगी कि किन-किन के नाम रजिस्टर में लिख जायें ? क्योंकि, सारी दुनिया अपना नाम इसमें देगी। मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि ऐसा दिन आये।

**पहला सर्वोदय सम्मेलन**

**राऊ, ८ मार्च १९४६**

## २ : : नये युग का पंचविध कार्यक्रम

राऊ में कुछ बातों का जिक्र मैंने किया था, जो उन दिनों मेरे चित्त में निरंतर चल रही थीं और मुझे जिन्होंने व्याकुल-सा बना दिया था। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद और विशेष करके गांधीजी के निर्वाण के बाद हमें किस तरह से प्रगति करनी चाहिए, क्या रास्ता लेना चाहिए, इसका बहुत मंथन मेरे दिल में चल रहा था और उन दिनों ट्रेन में प्रवास करना हुआ था। ऊंचे दर्जे में, जो जीवन में किसी भी कारण से क्यों न हो, पहली ही बार मुझे सफर करना पड़ा था। हिंदुस्तान के आधे से अधिक हिस्से में घूमना हुआ। उस समय चित्तन निरंतर चलता रहा था। इस तरह कुछ भाइयों से मैं मिला, जिनके स्थानों और कामों के बारे में मैंने सिर्फ कानों से सुना था। उनके कामों का दर्शन मुझे हुआ यह लाभ तो जरूर हुआ, लेकिन क्या इस तरह मैं घूमता रहूँ तो हम अहिंसा को गति दे सकते हैं ? और जो परिवर्तन हम समाज में लाना चाहते हैं, वह ला सकते हैं ? आखिर वह जो प्रवास था वह कोई अहिंसा के आधार से होता था, ऐसी बात नहीं है। रेलवे बनी किस तरह, जिन पैसों के आधार पर हमने प्रवास किया, वे पैसे आये कहां से इत्यादि ये सब बातें मन में आया करती थीं और यह भी लगता था कि ऐसे गतिमान साधन, जो विचार की गंभीरता नहीं, बल्कि खलबली ही पैदा करते हैं, अहिंसा के प्रचार के लिए लाभदायक होंगे क्या ? इन साधनों से आम जनत' तक क्या हम कभी पहुंच सकेंगे ?

यह सब मन में चल रहा था और उधर उन दिनों गांधीनिधि काम कर रही थी। जब गांधीजी की मृत्यु के बाद हमारे बड़े लोगों ने तय किया कि उनकी स्मृति में उनके कामों को चलाने के लिए एक निधि अर्थात् पैसा इकट्ठा किया जाय तब वह बात मुझे हृदयंगम नहीं हुई थी। फिर भी बड़े लोगों ने जो काम किया उसके विरुद्ध सोचना भी मुझे अच्छा नहीं लगता था, बोलना तो दूसरी बात है। उसके विरोध में मैं बोला भी नहीं। लेकिन प्रवास में एक मौका आया जब लोगों ने पूछा

कि आप बहुत सारे विषयों पर बोलते हैं तो निधि के बारे में भी कुछ कहिये। मैंने बहुत नम्र भाव से कहा कि मैं इस तरह पैसा इकट्ठा करना पसंद नहीं करता। गांधीजी के कामों के लिए ही क्यों न हो, लेकिन पैसा इकट्ठा करने से लाभ के बजाय हानि अधिक होगी, यह मेरे दिल में हमेशा लगता था।

और यह तो सोचने के लिए एक निमित्त हुआ। लेकिन अपने आश्रम हमने किस तरह चलाये उसका भी मैंने धितन किया। हमारा निज का जीवन किस तरह चला, वह भी सोचा। सब सोचकर इस नतीजे पर आया कि अब जमाना बदल गया है, युग-परिवर्तन हुआ है। अब जो काम करना है वह बहुत गहरा है और अत्यंत कठिन है। स्वराज्य-प्राप्ति, याने परकीय सत्ता को यहां से हटाना, वह काम उतना कठिन नहीं था जितना आगे का हमारा काम कठिन है। वह एक काम तो हमने पचास-साठ साल के परिश्रम से कर लिया। अब जबकि हमें नया सामाजिक और आर्थिक क्रांति का काम हाथ में लेना है तो उसके लिए पुराने तरीके नहीं चल सकते, ऐसा मुझे लगा।

आज पाटिलसाहब ने पूछा था कि क्या वही रचनात्मक कार्यक्रम, जो स्वराज्य के पहले हमने सोचा था, स्वराज्य के बाद भी चलेगा या उसमें कुछ परिवर्तन की गुंजाइश और जरूरत रहेगी? यह विचार मेरे मन में चलता था। तो मुख्य परिवर्तन हमारे सामने यह होना चाहिए कि हम पैसे का आधार तोड़ें और श्रम-निष्ठा पर ही निर्भर रहें। शरीर-परिश्रम से जितना हो सकता है करें। दान लेना है तो भी परिश्रम का ही लें। इस तरह अगर आगे का काम हम चलायें तो हमारा सारा जीवन तेजस्वी होगा, नहीं तो अभी तक जो हमने अध्ययन किया, याने कमाया वह उत्तरोत्तर निस्तेज होता जायगा और सामाजिक तथा आर्थिक क्रांति की कल्पना हवा में रह जायगी। और दूसरे लोगों के दूसरे तरीकों के लिए हमें अवकाश देना होगा, कर्मयोग के मैदान में से एक तरह से हट जाना होगा, ऐसा निर्णय मेरे मन ने लिया। तो पाटिलसाहब के प्रश्न का उत्तर यह है कि अब आधार साक्षात् परिश्रम के जीवन पर रखना चाहिए।

श्रीमानों से अभी तक हमने दान लिया और उन्होंने दिया। उसके लिए उनका उपकार जरूर मानना चाहिए। लेकिन वे दिन अब गये जबकि ऐसे दानों पर हमारा काम चलता था। दान तो खैर जैसे पहले मिला वैसे अब भी मिल सकता है, अगर हम लेना चाहें, लेकिन यह दान हमारे काम को बढ़ायेगा नहीं, बल्कि तोड़ेगा। याने नतीजा यह होगा कि हम कोई बुनियादी काम करनेवाले साबित नहीं होंगे। कुछ तो सेवा हमसे जरूर होगी, लेकिन सेवा करना एक बात है और समाज की बुनियाद में ही परिवर्तन करना दूसरी बात है। दोनों में बहुत अंतर है। सेवा तो हर हालत में हमको करनी है। सेवा-भावना हममें है तो सेवा हम करेंगे, लेकिन हमारी सेवा किसी और विचार की भी दासी बन सकती है और हमारे आत्म-

विचार की भी वह सेविका हो सकती है। तो जो सेवा हमारे आत्म-विचार की सेविका नहीं होगी, बल्कि दूसरे विचारों की सेवा करनेवाली होगी वह सेवा हमें कुछ काम देनेवाली नहीं है। उससे हमारी उन्नति नहीं होगी, आत्मसमाधान हमको नहीं मिलेगा और जिस काम की अपेक्षा लोग हमसे करते हैं वह काम हमसे नहीं बनेगा।

यों सोचकर कुछ विचार मैंने राऊ के सम्मेलन में बताये थे। उनपर लोगों ने आक्षेप भी उठाये थे। मावलंकरजी ने मुझे एक पत्र लिखा था। उस व्याख्यान में मैंने कस्तूरबा निधि का उल्लेख किया था। उस निधि के पैसे बैंक में रखने पड़ते हैं और उसका ब्याज भी लेना पड़ता है। इन पैसों पर अगर ब्याज मिल रहा है तो वह पैसे दूसरे किसी काम में लगे हुए हैं, यह बात साफ है। ये काम ग्रामोद्योगों के होते हैं, ऐसी भी बात नहीं है। इस तरह का कुछ मैंने उल्लेख किया था। मैंने तो चरखा-संघ का और गांधी-निधि का भी उल्लेख किया था। लेकिन यह उल्लेख मैंने आत्म-परीक्षण के उद्देश्य से किया था। अगर टीका का ही उद्देश्य मन में होता तो ऐसा उल्लेख मैं नहीं करता। वह मैं मन में ही रख लेता। शब्दों में तो कम-से-कम प्रकट नहीं करता। लेकिन उल्लेख करने में मेरी दृष्टि आत्म-परीक्षण की थी। फिर भी मावलंकरजी को लगा कि शायद इससे लोगों में कुछ गलतफहमी होने की संभावना है। सो उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा और सफाई दी कि क्यों यह पैसा बैंक में रखना पड़ता है। एकदम से तो वह खर्च नहीं होता है। आहिस्ते-आहिस्ते ही खर्च होता है। उसे दूसरे किसी काम में लगाना, ट्रस्टी-मंडल के जो नियम हैं, उसके अनुकूल नहीं होगा। और कस्तूरबा ट्रस्ट का जो विधान आदि बना है वह गांधीजी के सामने बना है, अर्थात् गांधीजी की सम्मति उसमें ली गई थी। ऐसा उन्होंने लिखा। हमने उनको थोड़े में उत्तर दिया कि आपने जो सफाई दी है वह हम पहले से जानते थे, और कस्तूरबा-निधि के काम के विषय में हमें कोई गलतफहमी नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि वह निधि जिस तरह काम कर रही है, उसके लिए हमारे मन में बहुत आदर है। लेकिन हमने जो सवाल उठाया है वह बुनियादी है और उसका उत्तर आपकी सफाई में नहीं मिलता है।

लेकिन आप लोगों के सामने मैं इतना प्रकट कर देना चाहता हूँ कि हम लोगों के सामने हमेशा यह एक चीज रहती है कि फलाने विषय में गांधीजी क्या करते थे या उनका क्या कहना है। मैं यह तो नहीं कहूंगा कि इस तरह विचार करना कोई पाप है, लेकिन इतना जरूर कहूंगा कि गांधीजी के वचनों का और उनकी कृति का उपयोग अगर हमें आगे बढ़ाने में होता है, तो जरूर करना चाहिए। लेकिन हमारी प्रगति में अगर वह बाधक होता है तो उसको छोड़ देने की हमारी हिम्मत होनी चाहिए। अपने पूर्वजों के अनुसरण का नतीजा यह नहीं होना चाहिए कि अपनी प्रगति में रुकावट आ जाय। उनका भी यह उद्देश्य नहीं हो सकता। हम

लोगों में एक बहुत अच्छा वचन प्रचलित है 'अनंता वै वेदाः।' याने वेद अनंत है। हम जानते हैं कि वेद चार ही हैं और उनके मंत्र इने-गिने हैं। लेकिन यह वाक्य हमको कहता है कि वेद अनंत हैं। कहने का भावार्थ यह है कि जो कुछ वेद बोलते हैं उतना ही वेद नहीं हैं, बल्कि जो भी सद्विचार मनुष्य को पहले कभी सूझा और इसके आगे कभी सूझेगा, सारा परमेश्वर-प्रेरित होता है। इसलिए वेदों के विचारों का अंत नहीं है। इसलिए गांधीजी ने जो एक बात कही उसके आगे कोई कदम नहीं उठाना चाहिए, जमाना बदलने पर भी पुरानेजमाने की चीज ही हमको चलानी चाहिए, इस तरह का विचार हम छोड़ दें। ऐसा विचार हम अग्रर करते हों तो अपने पुण्य पुरुषों के लिए हम अनादर नहीं प्रकट करते, बल्कि उनके अनुकूल ही हम होते हैं।

लेकिन यह तो बीच में मैंने थोड़ी-सी बात बता दी है। मुझे तो यह कहना था कि वह जो विचार, अपरिग्रह और पैसे से मुक्ति का मेरा चल रहा था उसके अमल के लिए भगवान ने बीच में अवकाश दे दिया। प्रवास तो मेरा चल रहा था और कई स्थानों से बुलावा आता था। और जो मनुष्य घूमने लगता है वह उसी ढंग से सोचता भी है। जाने की उपयुक्तता होती है। जितनी सेवा होती है उतनी कर भी लेता है। लेकिन भगवान ने मेरे शरीर में रोग-बीज निर्माण कर दिया और अपनी अजीब भाषा में आज्ञा दी कि अब तू ठहर जा और जो दूसरे काम करने हैं वे करने लग। भगवान की आज्ञा का अर्थ मैं यह समझा कि रोग तो किसी भी सम-बुद्धिवाले और ठीक विचार करनेवाले को होता नहीं। तो कुछ-न-कुछ जीवन में और विचार में दोष है, उसे पहचान ले और कम-से-कम इतना तो कर कि औषधियों का उपयोग छोड़ दे। मनुष्य की श्रद्धा की कसौटी मौके पर ही होती है। कम-से-कम इस वक्त जब भगवान से सूचना मिली है, बिना औषधि के ही मैं काम करूं। वह भी अहिंसा का एक प्रयोग होगा। यों सोचकर मैं ठहर गया। एक जगह बैठ गया और जितना हो सकता था उतना जीवन का संशोधन किया। रोग-निर्मूलन यद्यपि नहीं हुआ तथापि आहिस्ता-आहिस्ता रोग-नियमन काफी हुआ। कह सकते हैं कि अब शरीर, जितना काम मैं चाहता हूं, उतना दे देगा।

उस समय मैंने यह विचार किया कि हमारी संस्थाओं को, जिनके मार्ग-दर्शन की जिम्मेदारी मुझपर है, अग्रर मैं पैसे से मुक्त कर लूं और उसमें कामयाब हो जाऊं, तो बैठे-बैठे एक बड़ी सेवा हो जायगी। उस काम में मैंने मन को और तन को भी लगाया। और जब आहिस्ता-आहिस्ता शरीर काम देने लगा तो पांच-छः घंटे परिश्रम होने लगा। जो काम मैंने चुना वह खेती का था।

अब यहां मैंने एक फरक आपको बता दिया कि स्वराज्य-प्राप्ति के पहले का रचनात्मक काम और बाद का रचनात्मक काम इन दोनों में क्या फरक होना चाहिए। मुझे यह लगा कि पहले हमने खेती की तरफ कोई खास ध्यान नहीं दिया

था, लेकिन अब वह नहीं चलेगा। किसानों के जीवन में हमें दाखिल होना पड़ेगा और किसान ही बनना होगा। कई कारणों से यह पहले हम नहीं कर सकते थे। वे कारण अब मौजूद नहीं रहे। रचनात्मक काम में यह फर्क होना चाहिए, ऐसा मुझे लगा और खेती का आरंभ मैंने कर दिया।

उसका नतीजा काफी अच्छा आया। सेवाग्राम-आश्रमवालों ने यह निश्चय किया कि इस साल की समाप्ति के बाद पैसे का दान नहीं लेगे और जो कुछ काम वहां हो सकता है वह शरीर-परिश्रम से ही किया जायगा। यह चीज मुझे बहुत महत्व की लगी, क्योंकि जहां गांधीजी का निवास-स्थान था वहां अगर आश्रम जैसी कोई साकार वस्तु नहीं रहती है तो वह अच्छा है। इससे निराकार और निर्गुण में जो पवित्रता होती है उसका अनुभव लोगों को आयेगा। लेकिन अगर कुछ साकार वस्तु वहां रहती है, याने कोई संस्था वहां रहती है, तो वह प्रकट होनी चाहिए और आज की जो आवश्यकता है उस आवश्यकता की पूर्ति का दर्शन उस संस्था में होना चाहिए। और जो शुद्धतम आदर्श हमारा है उसके पालन का प्रयत्न वहां होना चाहिए। इस साल आश्रमवालों के साथ काफी बातें हुईं। उन लोगों ने इस विचार को मान लिया।

मुझे जो करना था वह सिर्फ इतना नहीं था कि संस्था को मैं पैसे से मुक्त करूं; लेकिन काम यह था, और यह है, कि संस्थाओं के जरिये आस-पास के गांवों में प्रवेश करना और ग्रामीण जीवन को जहां तक हो सकता है, बाजार से मुक्त रखना अर्थात् मुख्यतः अन्न, वस्त्र और मकान और कुछ सीधे-सादे उपयोग के औजार, इतनी वस्तुओं में अगर वे स्वावलंबी बनें, तो बाकी चीजों के लिए बाजार रहेगा। बाजार छोड़ देने की न आवश्यकता है, न शक्यता है। लेकिन इन बुनियादी चीजों को बाजार से लाने की हालत न रही तो आज की कठिन परिस्थिति का बहुत-कुछ इलाज होगा। मुझे कोई पूछता है कि आजकल जो सब चल रहा है उसके विरोध में आप क्या योजना सुझाते हैं? उसके उत्तर में मेरे पास यह असली योजना है। इससे भी बेहतर योजना हो सकती है। लेकिन वह योजना इस योजना को तोड़नेवाली नहीं होगी, बल्कि इसकी पूर्ति करनेवाली होगी। लेकिन मेरे दिमाग में कोई दूसरी योजना नहीं सूझती है। मैं चाहता हूं कि सारे हिन्दुस्तान में हमारे जो कार्यकर्ता हैं वे जरा मन में सोचें और एक नया उत्साह और एक नई दृष्टि संपादन करें।

मैं जानता हूं कि कुछ कार्यकर्ता बहुत पुराने हैं। शरीर से कुछ थके हुए भी हैं। लेकिन उनसे भी मैं आशा करता हूं कि वे विचारों में फिर से युवा बन जायें। शरीर चाहे साथ कम दे या अधिक दे उसकी विशेष परवा न करें, बल्कि जब कुछ अनुभव हो चुका है तो शरीर से हम भिन्न हैं, इस चीज पर जोर दें। जो युवा हैं, उनका शरीर तो इस काम के लिए तैयार हो ही सकता है। तो ये युवा और वे

पुराने अनुभवों, दोनों मिलकर जहां-जहां हमारे छोटे-मोटे केन्द्र हैं या छोटी-मोटी संस्थाएं हैं उन सबको शरीर-परिश्रम पर और विशेष करके खेती के परिश्रम पर और अपरिश्रम पर खड़ी करें। यह सर्वोदय-सेवकों के लिए एक बात मैंने कही।

एक भाई ने मुझे पत्र लिखा है, जिसमें वह कहते हैं कि सर्वत्र व्यापक जो भगवान है उसकी हस्ती से इन्कार करना और सर्वत्र विराजमान पैसे के विषय में विरोध पैदा करना कहां तक सम्भव है? वह जो उपमा उन्होंने दी वह काफी समाधानकारक है, ऐसा मुझे लगा, क्योंकि भगवान को तो हमने देखा ही नहीं, लेकिन पैसे को तो चारों ओर देखते हैं, और जैसा अर्जुन ने कहा था कि तुझे पूर्व में नमस्कार और पश्चिम में नमस्कार, वैसे हम उन पैसें को सब दिशाओं में नमस्कार करते हैं। हमारा सिर दश दिशाओं में इसके सामने झुकता है। इस हालत में इसके पंजे से मुक्त होना कठिन है, यह मैं कबूल करता हूँ। इसमें काफी विवेक रखने की आवश्यकता है और सब लोगों को मिलकर काम करने की आवश्यकता है। यह अकेले मनुष्य का काम है, ऐसा मैं नहीं मानता। लेकिन इस काम के लिए हमारे कई भाई तैयार हो जायें, तभी सर्वोदय-विचार फैलेगा, अहिंसा फैलेगी। अगर हम इतनी हिम्मत न करें तो हमको कबूल करना होगा कि हम वे लोग नहीं होंगे जिनके जरिये यहां अहिंसक क्रान्ति पैदा होगी, याने अहिंसा के जरिये क्रान्ति नहीं होगी। फिर क्रान्ति के लिए दूसरे साधन ढूंढने होंगे या फिर हिंसा का साधन लेना होगा। लेकिन भगवान ने अगर हमको अहिंसा की प्रेरणा दी है और एक ऐसे महान पुरुष का आश्रय दिया, जिसका वरदहस्त हमपर रहा और जिसके साथ हमने काम किया है, तो उस विरासत में मिली हुई चीज को आगे बढ़ाने में हमारे शरीर मिट जायें, यह अच्छी बात होगी। इससे बेहतर हमारे शरीर का अन्त और कोई नहीं हो सकता। हमको यह भी नहीं सोचना चाहिए कि इतना करने के बावजूद क्या दुनिया की हालत वैसी-की-वैसी रहेगी या इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप कुछ परिवर्तन होगा। मैं कहता हूँ कि इस तरह सोचना बेकार है। यह फलासक्ति हमें रखनी ही नहीं चाहिए, बल्कि निश्चयपूर्वक इस काम में जुट जाना चाहिए, ऐसी मेरी राय है।

इसके प्रयोग का कुछ आरम्भ वर्धा में शुरू होगया है और दूसरी जगहों में भी भगवान प्रेरणा दे रहा है। कई जगहों से मुझे मालूम हुआ कि लोग इस चीज को पसन्द करते हैं और हो सकता है तो इसे हाथ में लेने की इच्छा रखते हैं। मैं चाहता हूँ कि जिसकी जितनी श्रद्धा, भक्ति, निष्ठा है वह सारी इस विचार को दृढ़ करने में लगाये और पूर्ण प्रयत्न करते हुए अपना जीवन इस कार्य के लिए दे दें। इस विचार को सुनकर जवानों में अत्यन्त स्फूर्ति पैदा होती है, इसका अनुभव मैंने किया है। पवनार में मेरे पास काम करने के लिए पुराने साथी कम हैं। नये ही साथी ज्यादा आये हैं। बहुत-से कॉलेज आदि के लड़के हैं। इस प्रयोग के नाम

से कालेज छोड़कर आये हैं। उनको वहांपर कुआं खोदने और धूप में खेतों में काम करने में एक अजीब-सा आनन्द मिलता है, यह मैं देख रहा हूं। इसका अर्थ यह है कि यह परमेश्वर की इच्छा है और वह इस चीज को चाहता है, नहीं तो जो युवा कालेज में पढ़ते हैं उनको अपनी विद्या में तो इसकी तालीम नहीं मिलती है, कालेज की विद्या तो बिल्कुल इसके विपरीत चलती है। वावजूद इसके जब वहां के चन्द विद्यार्थियों को ही क्यों न हो, ऐसी प्रेरणा भगवान देता है तो उसका मतलब यही है कि भगवान की यह इच्छा है। ऐसा समझकर हिम्मत के साथ इस काम में हम लोग लग जायें, यह एक मेरी प्रार्थना है।

दूसरी बात जो मैं कहना चाहता हूं, और जिसको करने का आप लोगों ने सोचा भी है, वह है शान्ति-सेना की। शान्ति-सेना लोगों में जहां अशान्ति पैदा होती है वहां एक दूसरे स्वरूप में प्रकट होती है। लेकिन सर्वसामान्य प्रसंगों पर भी शान्ति-सेना की आवश्यकता होती है और तब वह रचनात्मक काम भी करती है। मैं चाहता हूं कि हमारे मुल्क में जितने भी रचनात्मक कार्य के केन्द्र हैं, उनमें से दो-चार शान्ति-सेना के ऐसे केन्द्र होने चाहिए जो गांव-गांव में घूमते रहेंगे। हफ्ते में एक दिन भी क्यों न हो, लेकिन गांवों में घूमने का काम जारी रहना चाहिए और लोगों के साथ संपर्क में हमेशा आना चाहिए। उन लोगों का परिचय होना चाहिए, जो दुःखी हैं, दरिद्र हैं, पीड़ित हैं या कई कारणों से जिनके दिमाग का शांत रहना कठिन होगया है। समाज में ऐसे कई अंश होते हैं। उन अंशों से परिचित रहना और उनके हृदय के साथ अपना संपर्क बनाना जरूरी है। इसके लिए जगह-जगह शान्ति-सेना खड़ी होनी चाहिए। शान्ति-सेना का यह मतलब नहीं है कि केवल अशांति के समय काम करें। यह तो अहिंसा की सेना है। इसलिए महीने भर में एक बार इकट्ठे हो जायें और जो थोड़ा-सा समझ लेना है, वह सुन लिया करें और बाकी घूमने का काम करें। लोगों में जाकर प्रत्यक्ष काम करें। शान्ति-सेना की इस तरह की रचना होनी चाहिए।

जहां हम ऐसी रचना की बात करते हैं वहां काम कौन करेगा और इसकी संघटना कैसी हो, यह सवाल पैदा होता है। मेरा अपना तो शब्द पर ही विश्वास है। और जो तुलसीदास ने कहा है उसका अनुभव भी करता हूं कि जो काम राम नहीं कर सकता है वह उसका नाम कर सकता है। इसलिए मैं तो कहूंगा कि यह शब्द आप लीजिये और स्वतंत्रतापूर्वक अपने-अपने स्थान पर इसकी योजना बनाइये। सिर्फ इतना ही कीजिये कि जो काम आप करेंगे उसका कुछ विवरण 'सर्वोदय' की कचहरी में भेजें और वहां से अगर कोई सूचना मिली तो उसपर विचार करें। विचार में अगर वह चीज जंचे तो उसपर अमल करें। मैं संघटना नहीं चाहता हूं, इस तरह की कुछ गलतफहमी लोगों में है। दरअसल बात ऐसी है कि संघटना अहिंसा की भी होनी है। लेकिन उसका अपना एक ढंग है और वह

ढंग इतना न्यारा है कि उसको संघटना नाम देना भी उचित नहीं होगा। अहिंसा की जो संघटना होती है उसमें यह खूबी होती है कि सलाहकार सलाह देते हैं। जिनको यह सलाह जंचती है वे उसपर अमल करते हैं और क्योंकि वह सलाह उनको जंचती है, इसलिए बहुत निष्ठापूर्वक वे उसपर चलते हैं। इस तरह यह उत्तम और मजबूत संघटना होती है। दूसरी संघटनाओं में यह होता है कि ऊपर से सलाह नहीं, बल्कि आज्ञा आती है। उस आज्ञा का पालन अगर कोई करता है तो यह नहीं कह सकते कि पूर्ण श्रद्धा से वह करता है। आज्ञा-पालन के खयाल से उसको यह पालन करना पड़ता है, इसलिए वह उत्तम नहीं होता और अगर कोई उसका पालन नहीं करता है तो उसके विरुद्ध कुछ अनुशासन की कार्यवाही की जाती है। संघटना का यह एक तरीका है। लेकिन इससे बिल्कुल विपरीत हमारी कल्पना है। कम-से-कम मेरी तो है। सलाह दी जाय, और अगर वह जंचती है तो उसको माना जाय। अगर नहीं जंचती है तो न माना जाय, वस यह बात है। जिसको सलाह जंचती नहीं है वे अगर उसपर अमल न करें तो उनके विरुद्ध किसी तरह की कार्यवाही करने का कोई सवाल ही नहीं है। यह हमारी योजना है। इसमें भी बहुत भारी संघटना की शक्ति भरी है, बशर्ते कि सलाह देनेवाले अक्लमंद हैं, बशर्ते कि वे खुद अपनी सलाह पर चलते हैं, बशर्ते कि दूसरों को वे अपनी सलाह जंचा सकते हैं। यह अगर हो सकता है तो इससे कम संघटना या कम रचना होती है, ऐसा नहीं है। उल्टे इससे बलवान और बेहतर संघटना होती है, ऐसा मैं मानता हूँ।

तो अपनी जगहों पर शांति-सेना चलाइये। सामान्य समय में कुछ रचनात्मक काम करके लोगों में थोड़ा धूमना चाहिए। इस तरह जगह-जगह, जहाँ अपने कार्यकर्ता बैठे हैं, वहाँ ही जायें तो यह काम आगे बढ़ेगा। इस काम को छोड़ना नहीं है, बल्कि बल देना है।

तीसरी बात, जिसकी यहां चर्चा भी होगी, यह है कि ये जो गुंडिया हम लेते हैं उसको अगर हो सकता है तो हम अत्यंत व्यापक स्वरूप दें। हमारी मेम्बरशिप तो हमने नहीं रखी है। जो भी कहता है कि मैं मेम्बर हूँ, उसको हम मेम्बर कबूल करते हैं। लेकिन सर्वोदय-विचार हमें प्रिय हैं, सत्य और अहिंसा को हम मानते हैं, उससे हमें बल मिलता है, इस तरह की भावना जिनकी है वे अपनी भावना के निदर्शन के तौर पर सालाना एक गुंडी दिया करें। इस तरह अगर हिंदुस्तान भर में हम प्रचार करें और घर-घर यह चीज पहुंचायें तो इसमें बहुत शक्ति भरी है, ऐसा मैं देखता हूँ। अगर अपनी शक्तिभर उसका प्रचार हम कर सकें, तो नतीजा यह आयेगा कि लाखों लोगों के पते हमारे पास रहेंगे और हमारे विचार के वोटर्स कितने हैं, इसका हमें थोड़ा-सा अंदाजा लग जायगा। फिर उन्हीं लोगों के लिए यह एक बड़ा भारी कार्यक्रम रहेगा कि जिन्होंने गुंडिया दी है, उनके

साथ संपर्क रखना। यह कोई छोटा कार्यक्रम नहीं है। इसमें से बहुत भारी सामाजिक शक्ति पैदा होगी। समाज में परिवर्तन किस तरह होगा इसका पता भी हमें नहीं चलेगा। परिवर्तन तो अपार होगा, लेकिन वह सहज होगा। यह सारी संभावना इस योजना में भरी है। मुझे तो इस कल्पना से बहुत उत्साह प्राप्त हुआ है। यह तो पहले से ही चला आया है कि यात्रा में जो लोग आयें वे रिक्तहस्त न आयें। कुछ समर्पण करें। तो मुझे ऐसा सूझा कि एक मनुष्य से हम एक ही गुंडी लें। एक मनुष्य से एक गुंडी, ऐसा होना चाहिए। इसके बाद इस योजना में क्या-क्या सम्भावनाएं भरी पड़ी हैं, इसका भान हुआ। फिर मुझे लगा कि यह कार्यक्रम ऐसा है कि जिससे हमें यह पता लगेगा कि हमारी आवाज आखिर कहाँ तक पहुंचती है।

अगर हमारी आवाज हजारों तक ही पहुंचती है, ऐसा दिखाई दिया, तो भी निराश होने का कारण नहीं है। लेकिन फिर काम करने का तरीका दूसरा हो जाता है। जितने मनुष्य हमारे विचार के हैं उनके जरिये हम जितना गहरा जा सकते हैं जाने का प्रयत्न करेंगे और लंबा-चौड़ा व्यापक काम करने की आशा कम रखेंगे। लेकिन मान लीजिये कि एक लाख मनुष्य हमारे विचार के हैं, ऐसा हमें अंदाज लग गया, तो गहराई के साथ-साथ अपने काम में व्यापकता लाने की भी हम कोशिश करेंगे। इस तरह हमारे काम का ढंग कैसा हो, क्या वह सिर्फ गहरा ही हो या गहराई के साथ-साथ व्यापक भी हो, इसका निर्णय हमारी आवाज कितनों तक पहुंचती है, इसपर निर्भर है। तो वह अंदाज हमको इन गुंडियों पर से लगेगा। इसलिए इस योजना का अधिक-से-अधिक प्रचार हम लोगों को करना चाहिए।

अब चौथी बात है भंगी-काम की। मैले की सफाई के लिए भंगी जैसे अलग वर्ग की जरूरत ही हमको मिटा देनी चाहिए। हम लोगों को ही वह काम कर लेना चाहिए। हम लोग भंगी-काम करने लग जायेंगे तो उसमें से क्या-क्या नतीजे आयेंगे, उसका वर्णन मैं आप लोगों के सामने अधिक शब्दों में नहीं करूंगा। आप उसकी कल्पना कर सकते हैं। अस्पृश्यता तो उससे मिट ही जायगी, लेकिन इसके अलावा अच्छा खाद हमको मिल जायगा। गांव-गांव में इस तरह खाद जमा हो जायगा और खेती में उसका उपयोग होगा। इससे हिंदुस्तान का उत्पादन भी बढ़ेगा और क्योंकि हमें खेती की ओर ध्यान देना है, इसलिए यह योजना बहुत जरूरी है। इसमें सोशलिस्ट भी शामिल हो सकते हैं, सरकार के लोग भी शामिल हो सकते हैं और भिन्न विचार के जो दूसरे लोग हैं उनको भी यह योजना पसन्द आनी चाहिए, ऐसी यह योजना है। इस तरह एक बड़ा भारी विश्वव्यापी काम हमसे बन सकता है।

पांचवीं चीज वह है जो किशोरलालभाई ने सुझाई है। वह है अंतःशुद्धि की।

आज हमारे चारों ओर कई तरह की अशुद्धियां व्यवहार में चल रही हैं। मैं अपने व्यवहार में किसी तरह की अशुद्धि नहीं करूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा लेनेवाले लोग तैयार करने की इसमें कल्पना है। व्यवहार की अशुद्धि जहां इतने व्यापक प्रमाण पर चल रही है वहां एक व्यक्ति को अपना व्यवहार शुद्ध रखना कहां तक सम्भव है, ऐसा सवाल उठाया जा सकता है। मनुष्य की भी अपनी एक मर्यादा होती है। फिर भी उस मर्यादा को सम्हालते हुए शुद्ध व्यवहार की प्रतिज्ञा जरूर ली जा सकती है, और ऐसे भाई प्रतिज्ञा लेने के लिए तैयार हो जायं और जगह-जगह ऐसी मंडलियां बनें, तो उसका भी परिणाम हवा को बदलने में होता है, क्योंकि समझना चाहिए कि लोक-समाज कभी दुर्जन नहीं हो सकता। यह एक बुनियादी श्रद्धा है। वह अगर हम खो बैठते हैं या उसे नहीं मानते हैं या उसके विषय में शंका रखते हैं तो समझना चाहिए कि अहिंसा के विषय में ही हमें शंका है। फिर तो हमारा कार्यक्रम दूसरा हो जायगा। लेकिन इस बुनियादी श्रद्धा को अगर हम मानते हैं तो हमें सहज ही मालूम हो जायगा कि लोग इतनी बड़ी तादाद में नहीं बिगड़ सकते, नहीं बिगड़े हैं। किन्तु दूसरी एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था है—उसको व्यवस्था नाम भी क्या दें, वास्तव में वह अव्यवस्था है, लेकिन दुनिया भर में वह चली है और उसके राज्यद्वित्र में सारी दुनिया है—उस व्यवस्था के कारण लोगों को, इच्छा हो न हो, केवल अनिच्छा, बुराई के लिए उतारू होना पड़ता है। इस तरह लोग बुरी हवा के भोंके में आ गये हैं। ऐसी जहां हालत है वहां चन्द लोग भी अगर संभल जायं और बता दें कि अगर थोड़ी कोशिश करें—ऐसी हवा में हम टिक सकते हैं, अगर ऐसा दर्शन होजाय—तो वह चीज हवा में परिवर्तन लाने में भी मदद दे सकती है। ऊपर से ही आसमान से चीज बनें, या सारा राज्यतंत्र बदल जाय तब यह बदल जायगा, ऐसा मानें तो एक तरह से आत्म-प्रयत्न कुंठित होता है और निराशावाद-सा हो जाता है। ऐसा नहीं होना चाहिए। यह जो शुद्ध व्यवहार की योजना है उसका भी आयोजन करना चाहिए, ऐसा मुझे लगता है।

तो ये पांच सूचनाएं मैंने आपके सामने रखी हैं। आखिर मैं इतना ही कहता हूं कि आप एक बड़ी जमात हैं। चाहे आप कम संख्या में दीखते हैं, चार हजार लोग हैं, ऐसा कहते हैं, लेकिन मैं मानता हूं कि इन चार हजार के अलावा अलिखित सदस्य और भी बहुत-से हैं। फिर भी यह खुशी की बात है कि लोग इसमें सोच-सोचकर दाखिल होते हैं, नहीं तो सर्वोदय-समाज में तो कोई भी दाखिल हो सकता है। मुझे पूछा गया कि क्या शराबी भी सर्वोदय-समाज में दाखिल हो सकता है? मैंने कहा था कि हां, शराबी भी आ सकता है, क्योंकि शराबी भी कोई खराब आदमी नहीं होता। यह एक तरह का भक्ति-मार्ग है। और भगवान ने ही कहा है, 'अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यमाक्, साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः।' जिसने सम्यक् व्यवसाय कर लिया है, याने मन

में निश्चय कर लिया है कि शराब छोड़ूंगा और सर्वोदय का नाम लूंगा, उसने एक ऐसा बड़ा भारी कदम उठाया और उतने शब्द से ही उसने ऐसा काम कर लिया कि जिससे उसका जीवन बदलने की आशा बन गई और वह सही रास्ते पर आ गया। इसलिए इसमें अत्यन्त दुराचारी को भी अवसर है, ऐसा मैं कहता हूं। ऐसी हालत में, याने जब हरकोई इसमें दाखिल हो सकता है, लोग सोच-सोचकर इसमें दाखिल होते हैं, यह खुशी की बात है और यह एक आशादायक चिह्न है। मैं मानता हूं कि यह छोटी जमात है, लेकिन चुनी हुई जमात है और इसकी तरफ लोगों की आशा लगी हुई है। निराशा में आशा का स्थान हो जाता है। जिनकी ओर लोगों की भी आशा लगी है उनको भी, बल्कि लोगों की भी इच्छा-शक्ति प्राप्त है। हमारी खुद की शक्ति कितनी अल्प है, यह तो हम महसूस करते ही हैं। लेकिन जहां उसमें दूसरी शक्ति मिल जाती है वहां वह एक बड़ी चीज बन जाती है। इस तरह सोचेंगे, तो मालूम होगा कि हमारी शक्ति कम नहीं है। हम शक्तिशाली हैं और हम अपना काम जरूर आगे बढ़ा सकते हैं। इसके अलावा जो काम हम करने जा रहे हैं उसके लिए भगवान का भी आशीर्वाद है तो वह काम होने ही वाला है, ऐसी श्रद्धा हम रखें।

हमारे जैसे टूटे-फूटे लोगों से भी बापू ने काम लिया और अपना आशीर्वाद हम लोगों को दिया। हमारे दिलों में एक-दूसरे के लिए एक प्रेम का प्रवाह गुप्त रूप से बहता है। वैसे प्रेम तो बाहर भी प्रकट हो सकता है, लेकिन वह अन्दर का जो गुप्त प्रवाह होता है—गुप्त गंगा, सरस्वती के जैसा—वह सच्चा होता है। मेरा तो अनुभव से यह विश्वास होगया है कि हम चर्चा करते हैं, बोलते हैं, तब कुछ कटुता भी कभी-कभी दिखाई देती है, लेकिन फिर भी हमारे दिलों में एक ही नाम है और एक ही प्रेम है। हम सारे एक प्रेमसूत्र में बंधे हुए हैं।

तीसरा सर्वोदय-सम्मेलन,

शिवरामपल्ली, ८ अप्रैल १९५१

### ३ : : सर्वोदय की दिशा में

मैंने शिवरामपल्ली से तेलंगाना जाने का संकल्प किया था, यह सुनकर आज सुबह एक भाई ने बताया कि उन्हें बहुत खुशी हुई और वह समझे कि आसमान में रहनेवाला विनोबा अब जमीन पर चलने लगा। बात असल यह है कि विनोबा अगर पहले आसमान में रहता था तो आज भी आसमान में ही रहता है। मेरे मन की स्थिति वही है जो पहले थी और अगर आज मैं जमीन पर हूं, तो उस वक्त भी जमीन पर ही था। फर्क इतना ही हुआ है कि उस वक्त अगर मैं जमीन पर था तो

एक सीमित दायरे में था और आज उस दायरे का विस्तार हुआ। उस वक्त मेरे शिरच्छत्र रूप गांधीजी मौजूद थे। मेरा संबंध जनता से आता था और मैं चुपचाप देहात की सेवा में लगा हुआ था। अगर गांधीजी आज होते तो आज भी मुझे आप लोग यहां नहीं पाते। या तो मैं लगा रहता परम शांति पाता हुआ अपने भंगी-काम में या बुनाई-काम में और तब भी यही रूप आप मेरा देखते।

जब बापूजी गये तो मेरे सामने यह सवाल पेश हुआ कि अब मुझे क्या करना चाहिए। मैंने यह नहीं सोचा कि बापू मुझसे क्या चाहते थे। मेरा सोचने का तरीका वह नहीं है। मुझे अंदर से प्रेरणा हुए बिना दूसरों की बात कम जंचती है।

इतने में सेवाग्राम में एक सम्मेलन हुआ, जहां तय हुआ कि हमें एक सर्वोदय-समाज बनाना है। उस वक्त शरणार्थियों का काम देश में चल रहा था। उनकी सेवा का आदेश मुझे मिला और मैं निकल पड़ा। उसीके अनुसंधान में शरणार्थियों में कुछ काम किया। उधर मेवों में मुझे कुछ काम करने का मौका मिला। तबसे मैं यह सोचने लगा कि समाज की आज की विषम परिस्थिति में कुछ-न-कुछ रास्ता निकलना चाहिए। दस-पन्द्रह माह मैं घूमता रहा। मेरे निरीक्षण का नतीजा यह निकला कि अगर हमें जीवन में अहिंसा का दर्शन करना है, अहिंसक पद्धति से जीवन-परिवर्तन तथा समाज-परिवर्तन करना है, तो देहात के लोगों से, जनता के हृदय के साथ हमारा अनुसंधान होना चाहिए और देश के स्वरूप-दर्शन के लिए पैदल-यात्रा करनी चाहिए। मेरा यह विचार पहले से तय था। किन्तु लोगों को मालूम नहीं था। इसी बीच शिवरामपल्ली-सम्मेलन में आने के लिए मुझे आग्रह किया गया और मैं पैदल निकल पड़ा। इस यात्रा के बीच मुझे स्वदेश का जो दर्शन हुआ, वह एक स्थान में निबद्ध होने से नहीं हो पाता।

फिर शिवरामपल्ली से मुझे वर्धा लौटना था और यह स्वाभाविक है कि आदमी जिस रास्ते से आता है उसी रास्ते से नहीं लौटता। इसलिए मैंने तेलंगाना से होकर लौटने का सोचा। कम्यूनिस्टों के कारण उधर बहुत परेशानी थी, फौज और पुलिस पर पांच करोड़ का खर्चा होता था और फिर भी परिस्थिति काबू में नहीं आ पाई थी। इसलिए मैंने सोचा कि एक बार जाकर देखना चाहिए। मुझे इतना ही मालूम था कि वहां बिना किसी साधन के, निशस्त्र प्रवेश करना है। पहले से कोई साधन सोचे बिना हम जो काम करते हैं उसीको मैं निशस्त्र कहता हूं। उसका परिणाम भी निकला। वर्धा लौटने पर मुझे पंडित नेहरू का निमंत्रण मिला।

आगे मैं कुछ कहूं, इसके पहले यह जरूरी है कि मैं आप लोगों के सामने पंडित नेहरू और प्लानिंग कमीशन के साथ की अपनी बातचीत का सार रख दूं। मेरी कोशिश यह रही कि प्लानिंग कमीशन के और हमारे बीच यदि कोई समाधान-कारक बातचीत हो सके तो करनी चाहिए। मैंने बातचीत तो बहुत की और उन्होंने भी प्रेम से, इतमीनान से सुना। चर्चा अच्छी हुई। मुझे उन्होंने बातचीत के लिए

बुलाया, उसका भी एक कारण हुआ। प्लानिंग कमीशन की ओर से श्री पाटिल वर्धा आये थे। तब उन्होंने प्लानिंग कमीशन की रिपोर्ट के बारे में मुझसे बात की थी। उस समय मैंने उस रिपोर्ट पर टीका की थी। मुझे कहना चाहिए कि मुझे इस रिपोर्ट से बहुत सदमा पहुंचा था। इसलिए मैंने प्रखर टीका की और तीव्रता से विचार-प्रदर्शन किया, जैसा कि मैं अक्सर नहीं करता हूं।

जब मैं दिल्ली पहुंचा और कमीशन के सदस्यों के साथ बातचीत हुई तो उसमें पंडितजी भी हाजिर थे और मैंने फिर से प्लानिंग कमीशन की रिपोर्ट की तीव्र आलोचना की। मुझे दुःख इसी बात का था कि पंडित नेहरू ने कई बार एलान किया कि हम सन् १९५२ के बाद बाहर से अनाज नहीं मगायेंगे और वह अपनी प्रतिज्ञा पर कायम नहीं रह सके। उन दिनों मैं यात्रा में घूमता था। लोग मुझसे पूछा करते थे कि क्या सचमुच हमारी सरकार १९५२ के बाद बाहर से अनाज नहीं मगायंगी। लेकिन जब प्लानिंग कमीशन की रिपोर्ट निकली, जिसमें अन्न-स्वावलंबन का जिक्र नहीं था, बल्कि तीस लाख टन अनाज सालाना बाहर से मंगाने की बात कहीं गई थी और वह भी बेमुद्दत, और इस वर्ष तो पचास लाख टन मंगाने की बात थी, तो मुझे लगा कि यह प्रतिज्ञा भंग हो रही है। मुझे इसका बहुत दुःख हुआ, मैंने वहां कमीशन के सदस्यों के सामने वह दुःख प्रकट किया और तीव्रता से प्रकट किया; क्योंकि मैं आशा रखता था, और आशा रखने का मुझे अधिकार भी था। जब आप कमीशन मुकरंर करते हैं, तो उसमें कहना चाहिए कि हमने जो निश्चय किया है, उसके पालन के लिए योजना बनाने का आदेश हम आपको देते हैं।

मैंने जो विचार वहां प्रकट किये उनपर तीन दिन तक काफी चर्चा हुई। बीच में वे चुनाव के काम में लगे रहे। उसके बाद उन्होंने अपना निर्णय मेरे पास भेजा। उन्होंने जो कुछ अपना निवेदन मुझे लिख कर दिया था, मैं उसे ठीक समझ नहीं पाया था। यह नहीं कि उनके लिखने में कुछ दोष था, लेकिन स्पष्टता नहीं थी। जो हो, उसका सार जो नंदाजी ने मुझे बताया यह है कि पांच साल के बाद मामूली हालत में सरकार बाहर से अनाज न मंगाने की प्रतिज्ञा करती है।

उनका निर्णय सुनकर मेरा खुशी होना स्वाभाविक है और मैं आशा करता हूं कि आप सबको भी खुशी होगी। मुझे कहना चाहिए कि मैंने दिल्ली में उस चर्चा के बीच कमीशन के मेम्बरों का जो दृष्टिकोण देखा, उसमें मेरी कोशिश यही रही कि उनके साथ जितना भी मिल सकूँ, मिलने का प्रयत्न किया जाय; क्योंकि आखिर वे लोग हमारे ही हैं। वे गांधीजी का नाम लेते हैं। उनके नेता हैं हम सबके प्रिय पंडित जवाहरलालजी और मुझे कहना चाहिए कि उनके लिए मेरे दिल में पक्षपात है और उन्होंने भी मेरे विचारों को अधिक-से-अधिक समझने की कोशिश की।

दूसरी बात यह है कि कोई भी नेशनल प्लानिंग नेशनल कहलाने के लायक नहीं हो सकता, अगर वह अपने देश के सब लोगों को पूरा काम न दे सके। परिवार में ऐसा नहीं होता कि बारह में आठ या दस लोगों की फिफ्टी की जाय। ऐसा कोई घरवाला नहीं जो अपने घर के तमाम लोगों के लिए रोटी और काम का प्रबंध न करता हो। नेशनल प्लानिंग का यह बुनियादी उसूल होना चाहिए कि सबको काम देने की जिम्मेदारी हमारी है और अगर हम जिम्मेदारी उठा सकते हैं तो ही नेशनल प्लानिंग करना चाहिए। लेकिन अगर हम ऐसी जिम्मेदारी नहीं उठा सकते, तो केवल सिफारिश करने से यह काम नहीं बननेवाला है। सबको काम और सबको रोटी, हमारा मूलभूत सिद्धांत होना चाहिए; क्योंकि वह बुनियादी बात है। इसके लिए हमें हर एक को औजार देने होंगे और जो उत्पादन होगा वह सबमें बांटना होगा।

लेकिन उसके खिलाफ एफिशियन्सी यानी क्षमता की दलील दी जाती है। क्षमता मुझे भी चाहिए। लेकिन इसके पहले कि मैं क्षमता की बात कहूं, मैं हरेक को काम और खाना देना चाहता हूं, वरना कुछ लोगों को हम काम और खाना दे सके और कुछ लोगों को न दे सके, तो वह नेशनल प्लानिंग नहीं हो सकता। कमीशन के सदस्यों में से एक ने कहा कि यह नेशनल प्लानिंग (राष्ट्रीय संयोजन) नहीं है, पाशियल प्लानिंग (आंशिक संयोजन) है। इसमें किसी-न-किसीका बलिदान तो होगा ही। तब मैंने यह कहा कि अगर आपका यह पाशियल प्लानिंग है, तो वह पाशियलिटी (पक्षपात) आपको गरीबों के पक्ष में करनी चाहिए और कहना चाहिए कि हम सबके लिए प्लानिंग नहीं कर रहे हैं। अगर बलिदान ही करना है तो हम अपना खुद का करें, दूसरों का नहीं। सारांश यह है कि आपको सारे देश की जिम्मेदारी महसूस करनी चाहिए और इस जिम्मेदारी को निबाहने का उत्तम-से-उत्तम तरीका आज की हालत में यही हो सकता है कि गांव में बननेवाले कच्चे माल से ही गांव की आवश्यकता का पक्का माल गांव में ही बनाया जाय। इसीको सेल्फ-सफिशियन्सी—क्षेत्र-स्वावलंबन—कहते हैं। लेकिन मैं यहां शब्द के लिए नहीं झगड़ना चाहूंगा। उनको स्वावलंबन शब्द स्वीकार नहीं। स्वावलंबन को वे कल्पना की वस्तु समझते हैं और उनका कहना है कि वे काल्पनिक वस्तु के पीछे नहीं जाना चाहते। अगर सबको काम देने के लिए वे ग्रामोद्योगों की मान लेते हैं, लेकिन शब्द को नहीं मानना चाहते, तो मुझे शब्द का आग्रह नहीं। मैंने तो यहां तक कह दिया कि अगर आप किसी यांत्रिक साधन से भी सबको काम दे सकते हैं तो मुझे विरोध नहीं है। लेकिन अगर आप ऐसा नहीं कर सकते हैं तो आपको चरखे का साधन स्वीकार करना चाहिए। यह बेचारा इतना गरीब है कि आप जब चाहेंगे वह आपका दूध तपाने के लिए तैयार रहेगा और कभी शिकायत नहीं करेगा। लेकिन जबतक आप और कोई औजार देश के सामने नहीं

रखते, तबतक ग्रामोद्योगों को फौरन मानने में क्या हर्ज है ? असल में इसमें दृष्टि-कोण का ही फर्क है। वे यह नहीं कहते कि हम पूरे लोगों को काम देंगे। काफी लोगों को काम देने की बात करते हैं। उस कोशिश में अगर ग्रामोद्योगों की जरूरत हुई तो ग्रामोद्योगों को स्वीकार कर लेंगे। मुझे भी बहुत सन्न है। इस तरह इस विषय में उनके और मेरे बीच में मतभेद है।

अब जो कुछ भी काम किया गया है उसके बारे में :

गांधीजी के बाद मैं सोच रहा था कि कोई ऐसा तरीका अख्तियार करें, जिसमें ग्राम जनता के सम्पर्क में आ सकें। यह सोचते हुए तीन बातें मेरे ध्यान में आईं, जिन्हें मैं सिलसिलेवार आपके सामने रखता हूं।

एक यह कि गांधीजी के स्मृति में हर साल हमने मेला लगाने का जो आयोजन किया है, उस मौके पर गुंडिया तो काफी आती है। मुझे इसपर से विचार सुझा कि हरेक आदमी गुंडिया तो देता है, पर उसका कोई परिमाण तय नहीं। कोई कम देता है, कोई ज्यादा देता है। लेकिन अगर हम एक ही गुंडी अर्पण करने का नियम रखें तो जैसे हरेक का एक वोट होता है, वैसे ही हरेक से मिलनेवाली यह एक गुंडी सर्वोदय-विचार के लिए वोट समझी जायगी। मुझे इसके भीतर छिपी हुई शक्ति का अंदाजा हुआ और मैंने देखा कि अगर हम लोगों के पास जाकर उन्हें अपना विचार समझाते हैं, तो गांधीजी की स्मृति के निमित्त श्रम-निष्ठा बढ़ाने के लिए हजारों लोग गुंडियां देंगे। यह एक व्यापक कार्यक्रम है। अपने दफ्तर में उन तमाम गुंडी देनेवालों के नाम रहेंगे, उनके साथ हमारा नित संबंध रहेगा। मैंने यहांतक सुझाया कि जहां एक गुंडी ही मिली हो वहां उसे अकेला ही नन्दा दीप समझकर हमें अधिक चिंता करनी है और उससे नित्य सम्पर्क साधना है। इस तरह सारे समाज के साथ हमारा सम्बन्ध बनेगा, जिसका परिणाम बहुत भारी हो सकता है। गांधीजी ने कांग्रेस के लिए सुझाया था कि लोग चार आने के बजाय सूत की एक गुंडी दें, लेकिन वह चीज चल नहीं पाई। फिर बीच में तो चार आने का एक रुपया होगया और अब फिर से चार आने हो गये हैं। इस तरह ये उतार-चढ़ाव चलते रहे, लेकिन उन्हें यह नहीं सूझता कि पैसे को महत्व न दें। पैसे को महत्व देने से हम क्या साधनेवाले हैं, मुझे पता नहीं। कहते हैं कि हमें कांग्रेस में शक्ति लानी है, उसमें शुद्धि करनी है। लेकिन सोचते नहीं कि पैसे से न शक्ति आनेवाली है, न शुद्धि ही। अगर सर्व-सेवा-संघवाले गांधीजी की स्मृति में लाखों गुंडियां जमा करते हैं, तो लोगों को शरीर-श्रम की दीक्षा तो मिलती ही है, उनकी मनोवृत्ति में भी क्रांतिकारी परिवर्तन आनेवाला है, इसमें मुझे संदेह नहीं है। गत वर्ष इस दिशा में कुछ काम हुआ, परंतु जैसा होना चाहिए वैसा नहीं हुआ। लोग इसके लिए चुनाव को निमित्त बताते हैं। चुनाव की माया ऐसी है कि हमारे कुछ सर्वोदय-आयोजनों भी चुनाव में गिरफ्तार

हुए। मुझे भी सुझाया गया था कि चुनाव के कारण मैं कहीं रुक जाऊं। लेकिन मैंने सोचा कि गंगा रुकती नहीं, सूरज डूबता नहीं, तो मुझे क्यों रुकना चाहिए ? अगर परमेश्वर ही मुझे रोकना चाहे और मेरा पांव टूट जाय, मुझे बैठ जाना पड़े, तब की अलग बात है। परिणाम यह हुआ कि यद्यपि कांग्रेसवाले चुनाव में लगे रहे, ग्राम जनता ने हमारे इस भूदान-यज्ञ के काम में बहुत दिलचस्पी ली। हमारे विचार एकाग्रता से सुने और काफी सहयोग भी दिया।

दूसरी बात जो मेरे ध्यान में बापू के जाने के बाद आई वह यह कि आज-तक हमारी संस्थाएं पैसे के आधार पर चलती रहीं, लेकिन वह जमाना गया कि संस्थाएं पैसे के आधार पर चलाई जायं। अब नया जमाना आया है। अब तो जहां तक हो कांचन-मुक्ति से ही संस्थाएं चलनी चाहिए। गांधी-निधि के बारे में मैं हमेशा खामोश रहा, पर जब एक जगह लोगों ने जाहिरा तौर पर पूछ लिया तो मुझे कहना पड़ा कि अगर हम गांधीजी की स्मृति आगे चलना चाहते हैं तो उसमें पैसा साधक नहीं हो सकता, बाधक ही होगा। मेरी उस राय में आज भी कुछ परिवर्तन नहीं हुआ है। मैं यह नहीं कहता कि हमारे किसी काम में पैसे का सम्पर्क ज़रा भी न हो। कुछ काम ऐसे हैं जो पैसे से किये जाते हैं, जैसे कुष्ठ-मेवा इत्यादि, लेकिन जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा है, ग्रामतौर पर यह होना चाहिए कि **आद्धन्नं न भक्षयेत्**। गांधीजी के श्राद्ध के निमित्त पैसा जमा हो और उससे संस्थाएं चलाई जायं तो हमारी उन संस्थाओं में, जिनके आधार पर हम ग्रामराज्य की कल्पना का निदर्शन करना चाहते हैं, तेज नहीं आ सकता। इसलिए हो सके वहां-तक हमें अपनी इन संस्थाओं को पैसे से मुक्त रखना चाहिए। तभी नया चैतन्य आ सकेगा। तभी सारे गांवों का उद्धार हो सकेगा। उसका परिणाम सरकार पर भी होगा, क्योंकि सिद्ध प्रमेयों का तिरस्कार सरकार नहीं कर सकती। जो प्रमेय इस तरह सिद्ध होगा उसकी ओर अगर ध्यान नहीं दिया जायगा तब आगे क्या कदम उठाना है यह हम सोच सकते हैं, जानते भी हैं। उसके बारे में आज कुछ कहना मैं उचित नहीं समझता। मैं चाहता हूं कि हमारी संस्थाएं इस प्रयोग में लग जायं और आदर्श ग्राम-निर्माण करने के काम में अपनी सारी शक्ति लगा दें।

इस संबंध में श्री धीरेंद्रभाई ने जो प्रस्ताव आप लोगों के सामने रखा है वह बहुत शक्तिशाली है। जब अपने जीवन में हम उसे अमल में ला सकेंगे, तभी हम कुछ कर सकेंगे, नहीं तो 'परोपदेशे पांडित्यम्' की तरह हमारे कहने का कोई असर नहीं होगा। हिंदुस्तान की जनता बहुत अनुभवी है। जो सेवक उनकी कसौटी पर नहीं उतरता उसके कहने का परिणाम उसपर नहीं होता। उसमें एक तरह की पुराणवादिता है। लेकिन मैं उसीमें उसका रक्षण देखता हूं, वरना अगर ऐसा हो कि कोई भी सुधारक आये और लोग उसकी बातें मानते चले जायं तो वे डूबने-वाले ही हैं। सुधारक चाहे कितनी भी श्रेष्ठ पंक्ति का क्यों न हो, जबतक जनता

उसे परख नहीं लेगी, उसकी बात नहीं सुनेगी। जनता तो धरती माता की तरह है, जिसपर कुदाली से घाव होता है, लेकिन गेंद का स्पर्श योंही ऊपर-का-ऊपर उड़ जाता है। मुझे इस बात की बहुत खुशी है कि हम लोगों के सामने एक-एक चीज रखते जाते हैं और लोग सहसा एकाएक उसे नहीं मानते। हम खादी की बात कहते जाते हैं। लोग अभी पूरी तरह उसे नहीं मान रहे हैं। हम ग्रामोद्योगों की बात कहते जाते हैं। सारांश, हमारे विचारों को कसौटी पर कसे बगैर हमारे लोग हमारी बात को नहीं मानते। इसलिए जरूरत इस बात की है कि हम अपने जीवन में यंत्रों का उपयोग न करें। मैंने जो कांचन-मुक्ति का तरीका सुझाया है उससे यह हो सकता है।

इस कार्यक्रम को यंत्र-वहिष्कार कहा गया है। इस संबंध में मैं एक बात सुझाना चाहता हूं। 'यंत्र-वहिष्कार' शब्द से बहुत गलतफहमी हो सकती है। फिर स्पष्टीकरण करते रहने से विगड़ी बात बन नहीं पाती। नाम ऐसा ही रखिये जो व्यापक हो जिसमें फैलाव की गुंजाइश हो। काकासाहब और दूसरे भी मनीषी यहां हैं, वे कोई उपयुक्त नाम लें। एक गांव में जहां बरसों से रचनात्मक काम हो रहा है, किसी शख्स ने आटे की मिल खोल दी। कार्यकर्ता हाथ के आटे की बात करते ही रह गये। किसी ने सुना नहीं। आटे की मिल मजे में चलती रही। मैंने पूछा कि आपके देखते यहां मिल दाखिल हुई तो आपको यह कैसे नहीं सूझा कि खानगी मिल चलने देने के बदले गांव की मालकियत की मिल आप चलाते। कई जगह पानी खींचने के लिए इंजन लगाना पड़ता है। उससे सिंचाई होती है। अगर हम यह आग्रह करें कि उस खेती का अनाज स्वीकार नहीं करेंगे तो हम संकुचित बनेंगे। व्यापकता खोयेंगे। इसलिए शब्द ऐसा चाहिए कि जिसके अर्थ का विस्तार हो हो सके। मुझे आशा है कि शब्द के चुनाव में आप सावधानी रखेंगे। मैंने कांचन-मुक्ति का शब्द इसलिए रखा कि उसमें गलतफहमी की गुंजायश कम है। सारांश, खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की तमाम वस्तुओं के लिए ग्रामोद्योगों का ही आग्रह रखने के श्री धीरेन्द्रभाई के प्रस्ताव का मैं स्वागत करता हूं, क्योंकि मैं मानता हूं कि यह प्राथमिक वस्तु है, उससे गांव बलवान बन सकते हैं, और उसके जरिये हम कांचन-मुक्ति की ओर भी बढ़ सकते हैं।

अब तीसरी बात भूदान-यज्ञ की। मैं मानता हूं कि यह बहुत ही बुनियादी काम है। लेकिन जैसे कि एक भाई ने कहा, इस काम की एक मर्यादा है। फिर भी मंजूर करने जा रहा हूं इस बारे में मैं अपने विचार आपको समझा दूं। जाहिर है कि मनुष्य के हृदय में क्या छिपा हुआ है, उसकी शक्ति का हमें पता नहीं चल सकता। अगर उस शक्ति की मैं हृद बांध दूं तो मुझे कहना होगा कि मुझे आत्म-दर्शन कभी नहीं हो सकता। हमने देखा कि जनता बिना किसी कानून की मदद के अपनी जमीन का हिस्सा दे सकती है—अगर हम जनता को समझाएँ कि

‘बेजमीनों’ का उसपर हक है और जैसे हवा, पानी और सूरज की रोशनी भगवान की देन है वैसे जमीन भी भगवान की देन है, इसलिए जो बेजमीन हैं उन्हें जमीन देनी चाहिए, तो जमीनवाले बेजमीनों को खुशी से जमीन देते हैं। इस तरह हमने देखा कि लोगों ने इस क्रांतिकारी कार्यक्रम को अपनाया और उसकी आत्मा में छिपी हुई अपार शक्ति का दर्शन हमें मिला।

अगर हम मानते हैं कि स्टेट (राज्य) को एक रोज ‘विदर अवे’—झड़ जाना—समाप्त हो जाना है—तो वह १९५२ में क्यों नहीं हो सकता? हमारी श्रद्धा ऐसी होनी चाहिए कि अगर मैं इस विचार को पसंद करता हूँ, इस तरीके में श्रद्धा रखता हूँ और इस यज्ञ में अपनी सारी-की-सारी जमीन दे देता हूँ तो वह विचार दूसरों को भी ऐसी प्रेरणा क्यों नहीं देगा? एक भाई ने अपनी उन्नीससौ एकड़ जमीन में से पांचसौ एकड़ जमीन मुझे दे दी—यह कहकर कि हम तीन हैं, आप चौथे हुए। दूसरे एक भाई ने अपने छः एकड़ में से दो एकड़ दे दिये—यह कहकर कि हम दो भाई हैं, आप तीसरे हुए। प्रायः रोज ऐसी घटनाएं घटती हैं। मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर भगवान मुझको मांगने की प्रेरणा देता है और अगर एक शरू मानता है कि मैं इतना कर सकता हूँ तो जो एक व्यक्ति कर सकता है वह सारे मनुष्य क्यों नहीं कर सकते? क्या आत्मा का स्वभाव अलग-अलग व्यक्तियों में जुदा-जुदा होता है? क्या आत्म-शक्ति की कुछ सीमा होती है? इसलिए मैं तो इसी विचार के सहारे आगे बढ़ूंगा कि हर व्यक्ति में आत्मा की शक्ति मौजूद है, उसकी कोई सीमा नहीं है, और जो त्याग एक व्यक्ति कर सकता है वह सब कर सकते हैं।

कानून की बात हमेशा उठाई जाती है, लेकिन मेरा कहना है कि कानून की बात कानूनवालों पर छोड़ दीजिये। हमें तो अपना काम इसी तरीके से किये जाना है। हो सकता है कि इस तरीके से सारी जमीन बेजमीनों में बंट जाय और कानून की आवश्यकता ही न रहे। लेकिन अगर मनुष्य की संकल्प-शक्ति उतनी कारगर नहीं हुई, जितनी इस समस्या को हल करने के लिए जरूरी है, और राज्य की मदद लेनी ही पड़ी तो उस हालत में भी हमें गम भगना चाहिए कि हमारा यह काम कानून बनाने में पूरा मददगार होगा। याने या तो कानून की आवश्यकता ही रहेगी, या जो कोई कानून बनाता है वह बिना विरोध के आसानी के साथ बन सकेगा। फिर मेरे मांगने का भी एक तरीका होता है। मैं अत्यंत नम्र होकर मांगता हूँ। डरा-धमकाकर नहीं मांगना चाहता। अगर मैं लोगों को समझाता हूँ कि आप मुझे भूमि नहीं देंगे तो मैं दो-चार साल में कानून से जबर्दस्ती भी ले लूंगा, तो मैं मांगना ही नहीं जानता। मुझे अपनी श्रद्धा को नहीं छोड़ना चाहिए। श्रद्धा तो दीवार की तरह खड़ी होती है। वह पर्दे के समान लटकती नहीं रहती। या तो वह खड़ी है या या पड़ी है। वह आठ आने या चार आने खड़ी नहीं होती। या तो वह है,

या नहीं है। वह आठ आने जिंदा है, आठ आने मरी है, ऐसा नहीं हो सकता। श्रद्धा की यही हालत है। बिना श्रद्धा के कोई काम नहीं बन सकता। श्रद्धा से कृति होती है और कृति के बाद श्रद्धा निष्ठा में परिणत होती है। निष्ठा प्राप्त होने के पहले मनुष्य श्रद्धा से काम कर सकता है। निष्ठा अनुभवजन्य होती है। वह बाद में आ सकती है, परन्तु श्रद्धा तो आरम्भ से ही होनी चाहिए। इसलिए कहता हूँ कि अगर हमें नैतिक शक्ति से यह मसला हल करना है तो हमारी उस तरीके में अटल श्रद्धा होनी चाहिए।

अक्सर मुझे लोग पूछते हैं कि क्या आप इस तरह जमीन के मसले को हल कर सकेंगे? मेरा कहना है कि दुनिया का मसला न तो राम हल कर सके, न कृष्ण। दुनिया का मसला दुनिया ही हल कर सकती है। आपका मसला मैं हल कर सकूँ, ऐसा कोई अहंकार मुझमें नहीं है। इसलिए मैं सदा निश्चित रहता हूँ, रात को गहरी नींद सोता हूँ, एक मिनट भी मुझे नींद आने में देरी नहीं लगती। दिन-भर काम किये जाता हूँ। कभी मुझे चार एकड़ जमीन मिलती है, कभी चारसौ और कभी चार हजार, फिर भी मुझे उसका कोई सुख-दुख नहीं है। जनक महाराज की तरह सोता हूँ और इसीलिए काम कर सकता हूँ।

दूसरी बात सत्याग्रह के सम्बन्ध की है। मैं आप लोगों को समझाना चाहता हूँ कि मेरी अगर कोई आबरू है तो वह सत्याग्रही के नाते ही है। दूसरी कोई आबरू मेरे पास नहीं है। इसलिए अगर सत्याग्रह करने की आवश्यकता हुई तो मैं जरूर सत्याग्रह करूँगा। लेकिन गांधीजी का यह तरीका था कि वह एक कदम उठाना काफी समझते थे। याने दूसरे कदम के बारे में हम कुछ जानते ही नहीं, ऐसा नहीं है। लेकिन जहाँ हमने दूसरे कदम की बात सोची वहीं हमारे मन में अपने पहले कदम की सफलता के बारे में अश्रद्धा पैदा होती है। मैं जब कभी बीमार की सेवा करूँगा तो इस खयाल से नहीं करूँगा कि सम्भव है, वह न सुधर सके और मर जाय तो दवा के साथ-साथ लकड़ी भी लाकर रख दूँ, बल्कि इस खयाल से और इस श्रद्धा से करूँगा कि वह उपचार और सेवा से जरूर सुधर जायगा और अगर मर ही जाय तो शान्ति से लकड़ी इकट्ठी करूँगा। दूसरे कदम के बारे में हम इसलिए विचार करते हैं न, कि शायद लोग हमारी बात न मानें, वे हमें जमीन न दें। ऐसा मानने में ही सामनेवाले के प्रति हमारी अश्रद्धा प्रकट होती है। फिर हम श्रद्धावान नहीं कहलायेंगे। मुत्सद्दी—युक्ति-कृपण—कहलायेंगे। अगर जमीन हासिल करने की, ऐसी कोई बनी-बनाई तैयार जुगत होती तो उससे भी शायद जमीन मिल सकती। लेकिन वह काम का सही तरीका नहीं होता। उससे काम बनने के बजाय बिगड़ता। उससे हमारे संकल्प में हीनता आती और अगर संकल्प में हीनता आई तो काम कैसे बनेगा? मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि जो-जो संकल्प मेरे मन में उठे वे पूरे होकर रहे। इसलिए लोगों के

पास भी इसी विचार से मांगता हूँ कि जो भगवान मेरे भीतर विराजमान है वही उनके भीतर भी है और उन्हें अपना विचार समझाया जा सकता है। एक बार नहीं, दो बार नहीं, अनेक बार समझाया जा सकता है। आखिर शंकराचार्य के पास सिवा समझाने के और क्या शस्त्र था ? हमारी अन्तिम श्रद्धा अगर किसी चीज पर हो सकती है तो वह हमारी समझाने की शक्ति पर ही हो सकती है। जैसे ख्रिस्त (क्राइस्ट) भगवान ने कहा कि अपराधी को क्षमा करना चाहिए, और क्षमा की कोई हद नहीं होती। उसी तरह समझाने की कोई मर्यादा या सीमा नहीं होती। इसलिए जिसे आप सत्याग्रह कहते हैं, वह उसी हद तक सम्भव है जिस हद तक उसे समझाने का स्वरूप है। दबाव का स्वरूप आने पर वह सत्याग्रह नहीं रह जाता। माता जैसे अपने बच्चे के बारे में यह आशा किये रहती है कि वह कभी-न-कभी सुधरेगा ही, वैसे सत्याग्रही को भी लोगों के बारे में यह आशा रखनी चाहिए कि उन्हें सूझेगा, सूझेगा और जरूर सूझेगा। इसमें सत्याग्रह का भी स्थान है, लेकिन अगर हम सत्याग्रह को समझे नहीं तो वह सत्याग्रह सत्याग्रह नहीं रहेगा, वह हिंसा होगी।

आज एक भाई ने प्रश्न उठाया कि जिसके पास एक हजार या दस हजार एकड़ जमीन हो वह अगर जमीन कम दे तो उसे स्वीकार करना चाहिए या नहीं ? उसकी उस भीख से क्या होनेवाला है ? हमारे आन्दोलन में इस सवाल का जवाब प्रायः रोज दिया जाता है—मेरे भाषण में भी और कृति में भी। मैं लोगों को समझाता हूँ कि न तो मुझे गरीबों को जलील करना है और न श्रीमानों को, इसलिए जब कोई बड़ा आदमी कम जमीन देता है तो मैं स्वीकार नहीं करता। लेकिन मेरा अनुभव यह है कि थोड़ा समझाने पर लोग ठीक-ठीक हिस्सा देते हैं। तीन सौ एकड़ वाले एक भाई मुझे आकर स्वेच्छा से एक एकड़ देने लगे। लेकिन जब मैंने वह एक एकड़ लेने से इन्कार कर दिया और अपना दृष्टिकोण समझाया तो उस भाई ने फौरन तीस एकड़ कर दिये। इस सबमें मुश्किल से मेरे दो-तीन मिनट लगे होंगे। मनुष्य का ऐसा है कि अगर एक पैसे की मिश्री से भगवान राजी होते हैं तो वह चार पैसे की नहीं खरीदता। वह इधर भगवान को भी राजी रखने की चेष्टा करता है और उधर पैसा भी बचाना चाहता है। दोनों में मनुष्य प्रामाणिक होता है। अगर मैं किसी मंदिर या मठ के लिए मांगता होता तो एकाध एकड़ से भी मेरा काम चल जाता। लेकिन मैं तो गरीबों के हक के रूप में मांगता हूँ और अबतक इस तरह करीब दस हजार लोगों ने दान दिया है। उन दानों में कई दान परम पवित्र हैं, जिनका स्मरण मुझे निरन्तर होनेवाला है।

एक दूसरे भाई ने सवाल पूछा कि दान देनेवाले के लिए तो ठीक है, उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। लेकिन क्या लेनेवाला इससे जलील नहीं होता ? मेरा कहना है कि नहीं होता, क्योंकि मैं भीख नहीं मांगता। मैं तो गरीब का हक मांगता

हूँ। अगर मैं जमीन न देकर उसे पका-पकाया अन्न देता तो जरूर उसे जलील करता, लेकिन जमीन से वह जलील नहीं होता। उसी तरह जमीन का प्यासा भी जमीन मांगने से जलील नहीं होता। जो जमीन मांगने आता है उसका ही उपकार मानना चाहिए, क्योंकि जमीन लेने भर से तो उसमें फसल नहीं आयंगी। फसल के लिए उसे अपना पसीना बहाना होगा। सालभर मेहनत और मशक्कत करने से उसमें फसल मिलेगी। इसलिए उसमें जमीन लेनेवाला दीन नहीं बनता।

दो आक्षेप और रहे हैं। कुछ भाई कहते हैं कि मैं इस तरह जमीनें मांगकर जमीनवालों को सजीवन दे रहा हूँ। यह आक्षेप मुझे कबूल है। जमीनवालों को तो मुझे संजीवन देना ही है। उनकी जमींदारी को संजीवन नहीं देना है। वह तो रोग है, उसे निकालकर रोगी को संजीवन देना है। मेरी इस संजीवनी की खूबी यह है कि इससे गरीब गरीब नहीं रहता, धनवान धनी नहीं रहता। दूसरा आक्षेप यह है कि लोगों के दिलों में जमीन की भूख पैदा करके मैं उन्हें बागी बना रहा हूँ। यह आक्षेप भी मुझे मजूर है। दोनों आक्षेप मुझे उस-उस अर्थ में मंजूर हैं, क्योंकि मैं एक क्रांति को रोकना चाहता हूँ और एक को लाना चाहता हूँ। हिंसक क्रांति को रोकना चाहता हूँ और अहिंसक क्रांति को लाना चाहता हूँ।

कुछ प्रश्न कानूनी सुविधा-असुविधा के बारे में उठाये गए हैं। एक भाई ने शका उठाई है कि सरकार अगर कानूनी सुविधाएं न दे तो मेरा कहना है कि सरकार हर तरह की सुविधाएं और मदद देगी। देना उसके हक में है, लेकिन मान लो कि वह नहीं देती है, तो क्या होगा? जिन लोगों ने दान दिया है, उन सबका उपकार मानकर मैं चला जाऊंगा। बाबा का कुछ नहीं बिगड़नेवाला है। सरकार को ही सोचना होगा।

एक बात और। हम लोग यहां किस बात के लिए जमा होते हैं! जाहिर है कि एक आदर्श समाज-रचना करने की दृष्टि रखकर हम इकट्ठा होते हैं। केवल चित्त-शुद्धि की एकांत साधना करना हमारा उद्देश्य नहीं हो सकता। कृपालानीजी ने यह बात अच्छी तरह समझाई है। उन्होंने विश्लेषण करके यह बात हम लोगों के सामने रखी। किस चीज पर कितना भार देना है यह समझने के लिए विश्लेषण का उपयोग होता है। फिर भी विश्लेषण की मर्यादा है। आखिर वस्तु का मूल रूप विश्लेषण से नहीं, बल्कि संश्लेषण से मालूम होता है। केवल विश्लेषण ने कभी-कभी वस्तु की जान ही चली जाती है। हम तो मोदक प्रिय हैं। हम न केवल आटा चाहते हैं, न केवल घी चाहते हैं, न केवल शक्कर चाहते हैं। हमने इस काम को उठाया है, क्योंकि हम समाज में परिवर्तन चाहते हैं। हमने इस काम को उठाया है, क्योंकि इससे गरीबों को राहत मिलनेवाली है। हमने इस काम को उठाया है, क्योंकि हम आत्म-शुद्धि भी चाहते हैं। अर्थात् इसके जो-जो अवश्यम्भावी अच्छे परिणाम हैं उन सबको एकत्र पाने के लिए हमने यह मोदक बनाया है।

मैं चाहता हूँ कि सर्वोदय के सिद्धांत के माननेवाले जो लोग यहां आये हैं वे महसूस कर सकें कि वे जो कुछ करना चाहते हैं वह इस भूदान-यज्ञ के जरिये सध सकता है।

**चौथा सर्वोदय-सम्मेलन**

सेवापुरी, १३ अप्रैल १९५२

## ४ : : तीसरी शक्ति

जैसा कि शंकरराव देव ने किया, मैं भी पू. किशोरलालभाई के स्मरण से इस सम्मेलन का आरंभ करना चाहता हूँ। जो एक महान कार्य ईश्वर ने हमें सौंपा है और जिसकी हमने ईश्वर के और जनता के सामने दीक्षा ली है, उस काम में वह अत्यंत तन्मय थे। गीता ने यों कहकर जीवन की कुजी हमें बताई थी कि कर्म में अकर्म हो सकता है और अकर्म में भी कर्म हो सकता है। वह शरीर से बहुत कमजोर थे, इसलिए जिसे हम स्थूल कर्म कहते हैं, वह बहुत नहीं कर पाते थे। तो भी चौबीसों घंटे वह कुल्ल-कुल्ल करते ही रहते थे। फिर भी उस कर्म का स्थूल आकार बहुत बड़ा नहीं हो सकता था। लेकिन उन्होंने हमें यह बताया कि कर्म न कर सकने की हालत में भी कितना महान कार्य हो सकता है। जिनके हृदय निर्मल होते हैं, परमेश्वर की कृपा से जिनके राग-द्वेष धुल गये हैं, ऐसे मनुष्यों की केवल हस्ती ही बहुत काम कर जाती है। ऐसे जो भी थोड़े लोग दुनिया में प्रकट होते हैं, उनमें से मैं किशोरलालभाई की गिनती करता हूँ। बापू के पीछे हम लोगों को उनका सहारा था और वह अपने सहज सौजन्य से हम लोगों को संभाल लेते थे। उतनी शक्ति हममें से दूसरे किसीमें अभी तक प्रकट नहीं हुई है। इसलिए उनका अभाव हम लोगों को बहुत महसूस होता है और होता रहेगा। उस अभाव की पूर्ति हम अपने परस्पर के सद्भाव से और सौहार्द से ही कर सकते हैं। मैं आशा करता हूँ कि वैसा सौहार्द, सौजन्य, सद्भाव और बंधुभाव हम लोगों में रहेगा, ताकि हमारे जरिये ईश्वर का कार्य संपन्न हो।

हम एक कार्यकर्ता-जमात हैं। यहां सम्मेलन में आते हैं तो कुछ बोल भी लेते हैं, लेकिन यह बोलना भी हमारा काम ही होता है। वह कोई केवल वक्तृत्व नहीं हो सकता, कर्तृत्व का ही हिस्सा होता है। साल भर कुछ काम करके उसे नारायण को समर्पण करने के लिए हम आते हैं और दूसरे साल के लिए कुछ संबल लेकर जाना चाहते हैं। ऐसे मौकों पर कुछ विचार-विनिमय, विचारों का लेन-देन कर लेते हैं। आज हमें उसी दृष्टि से अपने काम के पीछे जो भूमिका है, वह देख लेनी चाहिए, कार्य का जो संशोधन करना है, उसपर भी नजर डालनी

चाहिए। 'कार्य-पद्धति', 'कार्यक्रम' और 'कार्य-रचना', इन तीनों पर हमें थोड़ा विचार कर लेना चाहिए।

हम दुनिया के किसी گوشे में भी काम क्यों न करते हों, आज दुनिया की हालत ऐसी नहीं है कि सारी दुनिया पर नजर डाले वगैरहमारा काम चलेगा। दुनिया में जो ताकतें काम कर रही हैं, जो नये प्रवाह शुरू हुए हैं, कल्पनाओं और भावनाओं का जो संस्पर्श और संघर्ष हो रहा है, उसकी तरफ ध्यान देकर, उसपर सतत नजर रखकर ही जो भी छोटा-सा कदम हम उठाना चाहें, उठा सकते हैं। समुचित दृष्टि के बिना कर्म अंधा हो जायगा। इसलिए दुनिया की हालत का खयाल करना होता है। आज हम देख रहे हैं कि दुनिया की हालत बहुत चंचल है। इतना ही नहीं, कुछ विस्फोटक भी है। याने उसमें कई खतरों की संभावना भरी है और कह नहीं सकते कि किस समय उसमें से ज्वालामुखी का विस्फोट होगा। यह कुछ नाहक भयावना चित्र में नहीं खींच रहा हूं। इससे भयभीत होने का मेरा इरादा नहीं है। न आपको ही मैं भयभीत करना चाहता हूं, बल्कि जो हालत है, सिर्फ उस ओर ध्यान खींचना चाहता हूं।

एक-दो महीने पहले की बात है। दिल्ली में कुछ ज्ञानी, विद्वान एकत्र हुए थे और उन्होंने अहिंसा के दर्शन के बारे में कुछ चिंतन-मनन, विमर्श किया। उसमें हमारे पू. राजेन्द्रबाबू ने जिक्र किया था कि आज कोई भी देश यह हिम्मत नहीं कर रहा है कि हम सेना के वगैर चलायेंगे। उन्होंने इस बात का दुःख भी प्रकट किया कि बावजूद इसके कि गांधीजी की सिखावन हमने उनके श्रीमुख से सीधी अपने कानों से सुनी है, और बावजूद इसके कि हमने उनके साथ कुछ काम भी किया है, हिंदुस्तान भी आज ऐसी हिम्मत नहीं कर सक रहा है।

हमारे महान नेता पंडित नेहरू कई मर्तबा बोल चके हैं कि दुनिया का कोई मसला शरीर-बल से हल नहीं हो सकता। हमारे ये भाई, जो देश का नेतृत्व कर रहे हैं और जिनपर यह जिम्मेदारी देश ने डाली है, वे अहिंसा को दिल से मानते हैं। उनका अहिंसा पर विश्वास है। फिर भी यह हालत है कि सेना को बनाने-बढ़ाने की, उसको मजबूत करने की जिम्मेदारी उनको माननी पड़ती है। इस तरह विचित्र परिस्थिति में हम पड़े हैं।

स्थिति यह है कि श्रद्धा एक वस्तु पर है, और क्रिया दूसरी ही करनी पड़ती है। हम चाहते तो यह हैं कि सारे हिंदुस्तान में और दुनिया में अहिंसा चले, हम एक दूसरे से न डरें, बल्कि एक दूसरे को प्यार से जीतें। प्यार ही कामयाब हो सकता है और सबको जीत सकता है, ऐसा विश्वास दिल में भरा है। तिसपर भी एक दूसरी चीज हममें है, जिसे बुद्धि नाम दिया जाता है। वैसे वह भी हृदय का एक हिस्सा है और हृदय भी उसका एक हिस्सा है और ये दोनों मिले-जुले हैं, फिर भी हृदय कहता है कि हिंसा से कोई भी मसला हल नहीं होगा। एक मसला हल होता-

सा दीखेगा तो उसमें से दूसरे दसों नये मसले पैदा होंगे। लेकिन बुद्धि तो तीनों गुणों से भरी है। उसमें कुछ विचार की शक्ति है, कुछ आवरण भी है, कुछ दर्शन है और कुछ अदर्शन है। ऐसी हमारी सम्मिश्र-बुद्धि हमें कहती है कि 'हम सेना को हटा नहीं सकते। जिस जनता के हम प्रतिनिधि हैं, वह जनता उतनी मजबूत नहीं है। उसकी वह योग्यता नहीं है। इसलिए उसके प्रतिनिधि के नाते हमपर यह जिम्मेदारी आती है कि हम लश्कर बनायें, बढ़ायें और उसे मजबूत करें।' ऐसी आज हालत है। दीखता यह है कि रचनात्मक कार्य करें, पर वह सिर्फ दिल की इच्छा है। बुद्धि कहती है कि 'सेना बनानी होगी, इसलिए सेना-यंत्र जिससे मजबूत बन सकेगा, ऐसे यंत्रों को स्थान देना होगा।' जिनकी श्रद्धा चरखे पर कम है, उनकी बात में छोड़ देता हूँ, लेकिन जिनकी श्रद्धा चरखे पर है उनसे यह सवाल पूछा जाता है कि क्या चर्खे और ग्रामोद्योग के जरिये आप युद्ध-यंत्र मजबूत बना सकते हैं या युद्ध-यंत्र खड़ा कर सकते हैं? तो उनकी बुद्धि, और हमारी भी बुद्धि, क्योंकि हम उनमें सम्मिलित हैं, कहती है कि नहीं, इन छोटे-छोटे उद्योगों के जरिये हम युद्ध-यंत्र सज्जा नहीं कर सकते हैं। कम्युनिटी प्रोजेक्ट के बारे में सरकार की इच्छा यह रही है कि पांच लाख देहातों में वे चलें। अभी थोड़े देहातों में आरंभ हुआ है। लेकिन इच्छा है कि वह और व्यापक बनें और उसके जरिये राष्ट्र समृद्ध हो, लक्ष्मीवान हो, गरीबी मिटे इत्यादि। पर अगर कल दुनिया में महायुद्ध छिड़ जाय, तो मैं कह नहीं सकता कि एक भी कम्युनिटी प्रोजेक्ट जारी रहेगा, और जिन्होंने इस योजना का उपक्रम किया, वे भी यह नहीं कह सकते कि वह जारी रहेगा। तब फौरन बुद्धि जोर करेगी और हृदय छिद जायगा। हृदय पर बुद्धि गालिब हो जायगी और कहेगी, अब तो राष्ट्र-रक्षण ही मुख्य वस्तु है।

यह मैं आत्म-निरीक्षण के तौर पर बोल रहा हूँ। जो आज वहाँ जिम्मेदारी के स्थान पर बैठे हुए हैं, उनकी जगह पर अगर हम बैठते, तो अभी वे जो कर रहे हैं उसमें बहुत-कुछ भिन्न हम करते, ऐसा नहीं है। वह स्थान ही वैसा है। वह जादू की कुसी है। उसपर जो आरूढ़ होगा, उसपर एक संकुचित, एक सीमित, एक बन-बनाये, एक अस्वाधीन दायरे में सोचने की जिम्मेदारी आती है। ऐसे दायरे में, जिसको मैंने 'अस्वाधीन' नाम दिया है, लाचारी में दुनिया का ओघ जिस दिशा में बहता हुआ दीख पड़ता है, उसी दिशा में सोचने की जिम्मेदारी उनपर आती है। बड़े-बड़े राष्ट्र — अमेरिका, रूस-जैसे भी डरते हैं। वे एक-दूसरे का डर रखते हैं। इस तरह एक-दूसरे का डर रखते हुए, शस्त्र या सैन्य-बल से कोई मसला हल नहीं हो सकता, ऐसे विश्वास के साथ हम शस्त्र-बल और सैन्य-बल पर आधार रखते हैं, उसका आधार नहीं छोड़ सकते।

ऐसी विचित्र परिस्थिति में हम हैं और अगर कोई हमें दाम्भिक कहेगा, ढोंगी कहेगा, तो वह ऐसा कहने का हकदार साबित होगा, यद्यपि उसका कथन सही नहीं

होगा। यदि हमारे दिल में कोई दूसरी बात है और उसे हम छिपाते हैं, तो जान-बूझकर ढोंगी है। लेकिन जहां दिल उस बात को कबूल करता है और परिस्थितिजन्य बुद्धि दूसरी बात कहती है, इस वास्ते लाचारी से कोई बात करनी पड़ती है, तो वह दाम्भिकता की तो नहीं, बल्कि दयाजनक स्थिति है। ऐसी दयाजनक स्थिति में हम हैं।

अभी राजेंद्रबाबू ने बताया कि सर्वोदय-समाज पर यह जिम्मेदारी है, क्योंकि लोगों को उस समाज से अपेक्षा है कि वह समाज अपने मूल विचार पर कायम रहे और उसको आज की हालत में अमल में लाने के लिए वातावरण तैयार करे। अगर सर्वोदय-समाज यह करेगा तो आज की सरकार को, जो कि हमारी राष्ट्रीय सरकार है, उसकी सर्वोत्तम मदद होगी। मान लीजिये कि आज हममें से कोई मंत्री बन जाय और कुछ मंत्र करने लगे तो उसका यह मंत्र और उसका वह तंत्र, दोनों मिलकर आज की सरकार को उतनी मदद नहीं देगा, जितनी मदद बिना सैन्य-बल के जिस तरह समाज बन सकता है, उस दिशा में काम करने से वह देगा।

कभी-कभी लोग मुझसे पूछते हैं कि आप बाहर क्यों रहते हैं? देश की जिम्मेदारी आप क्यों नहीं उठाते? तो मैं कहता हूं कि दो बैल जब गाड़ी में लग चुके हैं वहां मैं और एक तीसरा गाड़ी का बैल बनूंगा तो उतने में गाड़ी को क्या मदद मिलेगी? अगर मैं यह कर सकू कि वह रास्ता जरा ठीक बना दू, ताकि गाड़ी उचित दिशा में जाय, तो उस गाड़ी को मैं अधिक-से-अधिक मदद पहुंचा सकता हूं। हां, एक बात जरूर है कि अगर मैं बैल ही हूं, तो मुझे बैल बनना चाहिए, वही काम करना चाहिए। मैं एक विशेष भाषा में बोल रहा हूं। मैं उम्मीद करता हूं कि आप उस भाषा को सहन करेंगे। हमारी संस्कृति में बैल के लिए जितना आदर है, उतना मनुष्य के लिए भी नहीं है और उसी अर्थ में मैं बोल रहा हूं। जो राज्य की धुरी उठाता है, उसे हम धुरंधर कहते हैं। धुरंधर के मानी होते हैं बैल। धुरंधर हमें बनना पड़ता है, लेकिन जो लोग धुरंधर बन चुके हैं, वे कहते हैं कि आप वही काम मत करिये जो हम कर रहे हैं। उस काम में मत लगिये, बल्कि जो कमियां हम महसूस करते हैं, उनकी पूर्ति आप कर सकते हैं तो करें। ऐसी आशा से वे लोग हमारी तरफ देखते हैं। तो हमें यह ठीक से समझना चाहिए और जिस दृष्टि से, जिसे मैं स्वतंत्र लोक-शक्ति कहता हूं, वह जिससे निर्माण हो, ऐसे ही काम में हमें लग जाना चाहिए। तभी आज की सरकार की सच्ची मदद करेंगे और अपने देश की समुचित सेवा कर सकेंगे।

मैंने कहा कि हमें स्वतंत्र लोक-शक्ति निर्माण करनी चाहिए। मेरा अर्थ यह है कि हिंसा-शक्ति की विरोधी और दंड-शक्ति से भिन्न, ऐसी लोक-शक्ति हमें प्रकट करनी चाहिए। आज की हमारी जो सरकार है, उसके हाथ में हमने दण्ड-शक्ति सौंप दी है, क्योंकि उस दंड-शक्ति में हिंसा का एक अंश जरूर है, फिर भी हम

उसे 'हिंसा' नहीं कहना चाहते हैं, हिंसा-शक्ति से भिन्न दण्ड-शक्ति हम उसे कहना चाहते हैं, क्योंकि वह शक्ति उनके हाथ में सारे समुदाय ने दी है। इसलिए वह निरी हिंसा-शक्ति नहीं, दण्ड-शक्ति है। उस दण्ड-शक्ति का भी उपयोग करने का मौका न आये, ऐसी परिस्थिति देश में निर्माण करना हमारा काम होगा। वह अगर हम करेंगे तो हमने स्वधर्म पहचाना और उसपर अमल करना जाना। अगर ऐसा हम नहीं करेंगे और दण्ड-शक्ति के उपयोग से ही जो जन-सेवा हो सकती है उसका लोभ रखेंगे तो जिस विशेष कार्य की हमसे अपेक्षा की जा रही है उस कार्य को, उस अपेक्षा को, हम पूर्ण नहीं करेंगे; बल्कि संभव है कि हम बोझ-रूप साबित हों।

मैं कुछ थोड़ा स्पष्टीकरण कर दूँ। मैंने कहा कि दण्ड-शक्ति के आधार पर सेवा के कार्य हो सकते हैं और वैसा करने के लिए ही हमने राज्य-शासन चाहा है और हाथ में लिया है और जबतक समाज को वैसी जरूरत है, उस शासन की जिम्मेदारी हम नहीं छोड़ना चाहते। सेवा तो उसमें से जरूर होगी, पर वह सेवा नहीं होगी, जिससे कि दण्ड-शक्ति का उपयोग ही न करना पड़े, ऐसी परिस्थिति निर्माण हो। मैं मिसाल दूँ। लड़ाई चल रही है। सिपाही जख्मी हो रहे हैं। उन सिपाहियों की सेवा में जो लोग लगे हैं, वे भूत-दया से परिपूर्ण होते हैं। वे शत्रु-मित्र तक नहीं देखते हैं और अपनी जान खतरे में डालकर युद्ध-क्षेत्र में पहुँचते हैं और ऐसी सेवा करते हैं कि जो माता ही अपने बच्चों की कर सकती है। इसलिए वे दयालु होते हैं, इसमें कोई शक नहीं। यह सेवा कीमती है, हरकोई जानता है। लेकिन युद्ध को रोकने का काम वे नहीं कर सकते। उनकी दया युद्ध को मान्य करनेवाले समाज का एक हिस्सा है। जैसे एक यंत्र में अनेक छोटे-बड़े चक्र होते हैं, वे एक-दूसरे से भिन्न दिशाओं में भी काम करते रहेंगे, फिर भी वे उस यंत्र के अंग हैं तो एक ही युद्ध-यंत्र का एक अंग है कि सिपाहियों को कत्ल किया जाय और उसी युद्ध-यंत्र का दूसरा अंग है कि जख्मी सिपाहियों की सेवा की जाय। उनकी परस्पर-विरोधी दोनों गतियाँ स्पष्ट हैं। एक क्रूर कार्य है, एक दया-कार्य है, यह हरकोई जानता है। पर उस दयालु हृदय की वह दया और उस क्रूर हृदय की वह क्रूरता दोनों मिल करके युद्ध बनता है। ये दोनों युद्ध बनाये रखनेवाले दो हिस्से हैं। वैज्ञानिक कठोर भाषा में बोलना है तो युद्ध जबतक हमने कबूल किया है, तबतक चाहे हमने जख्मी सिपाही की सेवा का पेशा लिया हो, चाहे सिपाही का पेशा लिया हो, हम दोनों युद्ध के गुनहगार हैं। यह मिसाल मैंने इसलिए दी कि हम दयालु कार्य करते हैं, सिर्फ इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि हम दया का राज्य बना सकेंगे। राज्य तो निष्ठुरता का है। उसके अंदर दया, जैसे रोटी के अंदर नमक, वैसे रुचि पैदा करने का काम करती है। जख्मी सिपाहियों की उस सेवा से हिंसा में लज्जत पैदा होती है, परंतु युद्ध की समाप्ति उस दया से नहीं हो

सकती। अगर हम लोग इस तरह की दया का काम करें, जिससे कि निष्ठुरता के राज में दया, प्रजा के नाते रह जाय, निर्दयता की हुकूमत में दया चले, तो हमने अपना असली काम नहीं किया। इस तरह जो काम दया के दीख पड़ते हैं, जो काम रचनात्मक भी दीख पड़ते हैं, वे हम दया और रचना के लोभ से, व्यापक दृष्टि के बिना ही, उठा लें, तो कुछ तो सेवा हमसे बनेगी, पर वह सेवा नहीं बनेगी, जिसकी जिम्मेदारी हमपर है और जो हमारा स्वधर्म हमने माना और दुनिया ने माना है।

दूसरी स्पष्ट मिसाल देता हूँ। हरकोई मुझसे पूछता है कि 'आपका सरकार पर भी कुछ वजन दीखता है, तो आप यह जोर क्यों नहीं लगाते कि सरकार कोई कानून बना दे और मुआवजे के साथ भूमि-वितरण का कोई मार्ग खोल दे? आप अपना वजन इस दिशा में क्यों नहीं इस्तेमाल करते?' ऐसा बहुत मर्तबा लोग मुझसे पूछते हैं। मैं उनको कहता हूँ कि भाई, कानून के मार्ग को मैं रोकता नहीं हूँ, इससे ज्यादा अगर और एक कदम आप मुझसे चाहते हैं, आपकी दिशा में, तो मैं कहता हूँ कि जो मार्ग मैंने अपनाया है, उसमें यदि मुझे पूरा यश, सोलह आने यश, नहीं मिला, बारह आने, आठ आने भी मिला, तो कानून के लिए सहूलियत तो होगी। एक तो मैं कानून को बाधा नहीं पहुँचा रहा हूँ और दूसरे, मैं कानून को सहूलियत दे रहा हूँ। उसके लिए अनुकूल वातावरण बना रहा हूँ, ताकि कानून आसानी से बनाया जा सके। पर इससे भी एक कदम आगे आपकी दिशा में मैं जाऊँ, और यही कहूँ कि 'कानून के बिना यह काम नहीं होगा, कानून बनाना चाहिए', तो मैं स्वधर्मविहीन साबित होऊँगा। मेरा यह धर्म नहीं है। मेरा धर्म तो यह मानने का है कि बिना कानून की मदद से जनता के हृदय में हम ऐसे भावों का निर्माण करें कि कानून कुछ भी हो, लोग भूमि का बंटवारा करें। क्या माताएँ किसी कानून के कारण बच्चों को दूध पिला रही हैं? मनुष्य के हृदय में कोई ऐसी शक्ति होती है, जिससे उसका जीवन समृद्ध हुआ है। मनुष्य प्रेम पर भरोसा रखता है, प्रेम में से पैदा हुआ है, प्रेम में पलता है और आखिर जब दुनिया को छोड़कर जाता है, तब भी प्रेम की ही निगाह से ज़रा इर्दगिर्द देख लेता है और उसके प्रेमी जन अगर उसके दर्शन में आते हैं, तो सुख से देह को, दुनिया को, छोड़ कर जाता है।

तो प्रेम की शक्ति का इस तरह अनुभव होते हुए भी उसको अधिक सामाजिक स्वरूप में विकसित करने की हिम्मत रखने के बजाय मैं अगर 'कानून-कानून' रटता रहूँ, तो जन-शक्ति-निर्माण करके सरकार हमसे जिस मदद की अपेक्षा करती है, वह मदद मैंने दी, ऐसा नहीं होता। इसलिए दण्ड-शक्ति से भिन्न जन-शक्ति में निर्माण करना चाहता हूँ और हमें वह निर्माण करनी चाहिए। यह जो जन-शक्ति हम निर्माण करना चाहते हैं, वह दण्ड-शक्ति की विरोधी है। लेकिन मैं इतना ही

कहता हूं कि वह दण्ड-शक्ति से भिन्न है।

मैं एक मिसाल दूँ। अभी खादी बोर्ड बन रहा है। सरकार खादी को मदद देना चाहती है। पंडित नेहरू ने कहा, “मुझे आश्चर्य हो रहा है कि जो काम चार साल पहले ही होना चाहिए था, वह इतनी देरी से क्यों हो रहा है?” वह आत्म-निरीक्षण करते हैं और इस तरह की भाषा बोलते हैं। अब हमारा काम है, चर्खा-संघ का काम है कि सरकार, जो खादी को बढ़ावा देना चाहती है, खादी का उत्पादन बढ़ाना चाहती है, उसको कुछ मदद दे; क्योंकि चर्खा-संघ को इस काम का अनुभव है और अनुभवियों की मदद ऐसे काम के लिए जरूरी है। लेकिन फिर भी मैं सोचता हूँ कि एक नागरिक के नाते और एक माहिर के नाते, अपनी सरकार को जो मदद देनी चाहिए, वह देनी चाहिए। लेकिन अगर हम उसीमें खत्म हो जायें, समाप्त हो जायें, तो हमने खादी की वह सेवा नहीं की, जिसकी कि हमसे अपेक्षा है। हमें तो खादी के बारे में अपनी दृष्टि स्पष्ट, शुद्ध रखनी चाहिए और उस दिशा में काम करते हुए सरकार को खादी-उत्पादन में जो मदद पहुंचानी चाहिए, वह पहुंचानी चाहिए। हमें युद्ध मिटाने के तरीके ढूंढने चाहिए और तिस-पर भी युद्ध चलते हैं, तो हमें जखमी सिपाहियों की मदद में जाना पड़े तो जाना चाहिए। यह तो युद्ध का हिस्सा ही है, ऐसा कह करके इन्कार करेंगे, ऐसी बात नहीं, पर ध्यान में रखेंगे कि वह हमारा असली काम नहीं है। हमारा खादी-काम ग्राम-राज्य की स्थापना के लिए हो सकता है।

इस मतवा पंडित नेहरू मिलने आये और बड़े प्रेम से बातें कीं। मैंने नम्रता से उनकी बहुत बातें सुनीं और फिर जब उन्होंने सलाह-मशविरा करना चाहा तो मैंने अपने विचार थोड़े में प्रकट किये। मैंने यह कहा कि खादी के लिए सरकार की तरफ से अगर मैं कोई चीज चाहता हूँ, ग्रामोद्योग के लिए भी, तो मैं कहूँगा कि जैसे हरेक नागरिक को पढ़ना-लिखना आना ही चाहिए, क्योंकि नागरिकता का यह अंश है, अनिवार्य अंश है, ऐसा हम मानते हैं और इसलिए हमारी सरकार सबको शिक्षित बनाने की, पढ़ना-लिखना सिखाने जिम्मेदारी महसूस करती है, मान्य करती है, चाहे वह उसपर पूरा अमल न कर पाये और परिस्थिति के कारण आंशिक अमल करे, लेकिन जबतक पूरा अमल नहीं हुआ है, सारे-के-सारे लोग पढ़ना-लिखना नहीं जान गये तबतक हमने अपना काम पूरा नहीं किया, इस तरह का खटका दिल में रहेगा, वैसे ही हमारी सरकार यह माने, वह विचार कबूल करे कि हिंदुस्तान के हरेक ग्रामीण को, हरेक नागरिक को सूत कातना सिखाना चाहिए। जो ग्रामीण, जो नागरिक सूत कातना नहीं जानते, वे अशिक्षित हैं, इतना माने और बाकी का सब काम जनता करे। हम सरकार से पैसे की मदद नहीं माँगे, परंतु यह विचार अगर वह स्वीकार करती है, तो उसके कारण हमें अधिक-से-अधिक मदद मिलती है।

तो यह सब उन्होंने सुन लिया। मैं समझता हूँ कि उनके हृदय को तो वह जंचा ही होगा, पर सहज विनोद से उन्होंने पूछा कि सूत कातना अगर सबको सिखा दें, तो उसके उपयोग का सवाल आयेगा। मैंने जवाब दिया कि पढ़ना-लिखना सिखाने पर भी तो उसके उपयोग का सवाल रहता ही है। मैंने ऐसे कई पढ़े-लिखे भाई देखे हैं, जो थोड़ा-सा दो-चार साल पढ़े और उसका जिदगीभर कोई उपयोग नहीं हुआ। उनके लिए काला अक्षर भैस बराबर होता है। 'योग' के साथ 'क्षेम' लगा है। यह चिन्ता करनी पड़ती है। पर आप देखेंगे कि मैंने खादी के लिए सिर्फ इतनी मांग की है, जबकि जनता की तरफ से यह मांग होगी, तो सरकार को उतना करना चाहिए। परन्तु इससे अधिक लोगों पर खादी लादने की बात अगर कानून से होगी, याने मैं ऐसी मांग करूँ तो मैं कहता हूँ कि मैंने अपना काम समझा नहीं है। दण्ड-शक्ति से भिन्न लोक-शक्ति हमें निर्माण करनी है, यह सूत्र मैं भूल गया हूँ।

ये दो मिसालें सहज दीं, एक खादी की और एक भूदान की। हम भूमि का मसला हल करने जायेंगे तो हमारा एक तरीका होगा और अगर लोकशाही सरकार वह हल करना चाहेगी, तो दण्ड-शक्ति का उपयोग करके उसे करना चाहेगी और करेगी, तो उसे कोई दोष नहीं देगा। लेकिन उसका दूसरा मार्ग है। सरकार की इस तरह की मदद से जन-शक्ति निर्माण नहीं होगी, लक्ष्मी का भले ही निर्माण हो। हमारा उद्देश्य सिर्फ लक्ष्मी का निर्माण करना नहीं होगा, बल्कि जन-शक्ति निर्माण करना होगा। यह सारी दृष्टि हमारे काम के पीछे है। अब यह दृष्टि स्थिर होजाय तो फिर हमारी कार्य-पद्धति क्या होगी, इसका विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। हरकोई सोचेगा कि हरेक रचनात्मक काम करने में हमारी एक विशेष पद्धति होगी। इस पद्धति से काम करने से आखिर यही परिणाम अपेक्षित होगा कि लोगों में दंड-निर्पेक्षता का निर्माण हो।

इस दृष्टि से यदि सोचेंगे तो सहज ही ध्यान में आ जायगा कि हमारी कार्य-पद्धति के दो अंश होंगे। एक अंश होगा विचार-शासन और दूसरा अंश होगा कर्तव्य-विभाजन।

विचार-शासन, याने विचार समझाना और विचार समझना, बिना विचार समझे किसी बात को कबूल न करना, बिना विचार समझे अगर कोई हमारी बात कबूल करता है तो दुखी होना, अपनी इच्छा दूसरों पर न लादना, बल्कि केवल विचार समझा करके ही संतुष्ट रहना। हमारे सर्वोदय-समाज की योजना में हमने जो रचना की है, उसको कुछ लोग 'लूज आर्गेंनाइजेशन' याने 'शिथिल रचना' कहते हैं। रचना को अगर हम शिथिल करें तो कोई काम नहीं बनेगा। इस वास्ते रचना शिथिल नहीं होनी चाहिए। पर यह 'शिथिल रचना' न होते हुए 'अरचना' है, याने केवल विचार के आधार पर हम खड़े रहना चाहते हैं। हम किसी

को आदेश नहीं देते, जिसे कि वे बिना समझे-बूझे ही अमल में लायें। हम किसी का आदेश नहीं कबूल करते, जिसपर कि बिना सोचे और बिना पसंद किये हम अमल करते जायें, बल्कि हम तो *अनुशासन-वद्ध* करते हैं। कुरान में भक्तों का लक्षण गाया है कि उनका वह 'अम्र' याने काम परस्पर के सलाह-मशविरे से होता है। तो हम मशविरा करेंगे और खुश होंगे कि हमारी चीज हमारे सुननेवाले ने जबकि उसको पसंद नहीं आई थी, मान्य नहीं की और उसपर अमल नहीं किया गया। उसके अमल न करने से हमें बहुत खुशी होगी और बिना समझे-बूझे अगर अमल करता है तो हमें बहुत दुःख होगा। यह जो रचना है उसमें मैं जितनी ताकत देखता हूँ अभी और किसी कुशल रचना में, स्पष्ट रचना में और अनुशासन-वद्ध रचना में नहीं देखता। अनुशासन-वद्ध दंड-रचना में शक्ति नहीं होती सो बात नहीं, पर वह शक्ति नहीं होती, जो शिव-शक्ति है, और जो हमें पैदा करनी है। वह शक्ति दूसरी शक्ति है। हमारे लिहाज से वह शक्ति नहीं है, इसलिए विचार-शासन को हम मानना चाहते हैं। अगर यह ध्यान में आयेगा तो विचार का निरंतर प्रचार करना, हमारा एक कार्य-क्रम बनेगा, जो हम नहीं कर रहे हैं और जो हमें करना चाहिए।

जब मैं इस दृष्टि से सोचता हूँ तो बुद्ध भगवान ने भिक्षु संघ क्यों बनाये होंगे और शंकराचार्य ने यति-संघ क्यों बनाये होंगे, इसका रहस्य खुल जाता है। तिस-पर भी उन संघों के जो अनुभव आये हैं, उनके गुण-दोषों की तुलना करके मैंने अपने मन में यह निर्णय लिया है कि हम ऐसे संघ नहीं बनायेंगे, क्योंकि उनके गुणों से उनके दोष अधिक होते हैं। यह अनुभव आया है, और इसलिए हम संघ तो नहीं बनायेंगे, पर उनको क्यों बनाने पड़े, इसका खयाल आ जाता है। निरंतर अखंड बहते हुए झरने की तरह सतत घूमनेवाले और लोगों के पास सतत विचार पहुंचानेवाले लोग होने चाहिए। उसके बगैर सर्वोदय-समाज काम नहीं कर पायेगा। लोगों के पास पहुंचने के जितने मौके मिलेंगे, उतने प्राप्त करने चाहिए। लोग एक बार कहने पर नहीं सुनते हैं, तो दुबारा कहने का मौका आयेगा, उससे खुशी होनी चाहिए। इतना विचार-प्रचार का उत्साह और इतनी विचार पर श्रद्धा, विचार-निष्ठा हममें होनी चाहिए। लेकिन हमारी हालत ऐसी हुई है कि हममें से बहुत-से लोग भिन्न-भिन्न संस्थाओं में गिरफ्तार हो गये हैं। यद्यपि वे संस्थाएं महत्व की हैं, तो भी हमें संस्था की आसक्ति न हो, भक्ति रहे। उनका काम जारी रखें, लेकिन संस्था में कुछ मनुष्य ऐसे हों, जो घूमते रहें। इस तरह की रचना और ऐसा कार्यक्रम हम नहीं करेंगे, तो हमारा विचार क्षीण होगा और विचार-शासन नहीं चलेगा।

बिहार के लोग कुछ अभिमान से कहते हैं और उन्हें अभिमान करने का हक भी है कि भूदान-यज्ञ का काम बिहार की कांग्रेस ने प्रथम उठाया और उसके बाद

हैदराबाद में अ. भा. कांग्रेस ने उसको स्वीकार किया। तो होता क्या है ? ऊपर से एक 'सरक्यूलर' (पत्रक) आता है—'भूदान में मदद देना कांग्रेसवालों का कर्तव्य है।' गंगा हिमालय से निकलती है और हरिद्वार आती है। तो वहां का पत्रक प्रांतीय समिति में आता है। हिमालय से गंगा हरिद्वार आने पर आगे बढ़ती है और गढ़मुक्तेश्वर जाती है। यह पत्रक भी प्रांतीय समिति से जिला-आफिस में आता है। गंगा कहीं-से-कहीं भी जाय, पर वह पानी ही रहती है, गंगा ही रहती है। उसी तरह पत्रक में से पत्रक पैदा होते हैं। मैंने विनोद के तौर पर एक दफा कहा था कि हरेक जाति अपनी जाति को ही पैदा करती है। वैसे ही पत्रक भी पत्रक ही पैदा कर सकता है। आखिर काम कौन करेगा ? काम तो करना होगा ग्राम के लोगों को, पर ग्राम के लोगों तक वह पहुंचता कहां है ? वह तो एक आफिस में से दूसरे आफिस में जाता है, वहां से तीसरे आफिस में जाता है, सिर्फ इतना ही होता है। ये जो भूदान-यज्ञ के ऐसे हमारे कार्यक्रम हैं वे तब तक नहीं हो सकते, जब तक कि हम घर-घर नहीं पहुंचेंगे। पांच लाख देहात से पच्चीस लाख एकड़ जमीन हम हासिल करना चाहते हैं। यों तो आसान काम दीखता है। फी गांव पांच एकड़ कोई बड़ी बात नहीं। लेकिन उतने गांवों तक पहुंचे कौन ? इसलिए हमारे पास मुख्य साधन विचार-प्रचार का ही हो सकता है, उसकी योजना हमें करनी चाहिए, यह हमारा कार्यक्रम होगा।

अगर हमारी इतनी हिम्मत नहीं होती है; इतने गांवों में हम कैसे जायेंगे, कैसे घूमेंगे, ऐसा सब लगता है और जिसको 'छोटा-काट' (अंग्रेजी में 'शार्ट-कट') कहते हैं वह हम चाहते हैं कि कानून बने, फलाना बनें तो यह बनाना और वैसी इच्छा रखना हमारा काम नहीं है। कानून बने, जरूर बने, जल्द बने और अच्छा बने, इस काम में हम लगेगे तो हम परधर्म का आचरण करेंगे, स्वधर्म का आचरण नहीं करेंगे। हमारा स्वधर्म होगा कि हम गांव-गांव घूमना शुरू करें और विचार पर विश्वास रखें। यह न कहें कि अरे, विचार सुनने-सुनाने से कब काम होगा ? विचार से ही काम होगा, क्योंकि हमारा काम विचार से ही हो सकता है। तो यह विचार की सत्ता, विचार-शासन हमारा एक औजार है।

दूसरा औजार है कर्तृत्व-विभाजन। सारा कर्तृत्व, सारी कर्म-शक्ति एक केंद्र में केंद्रित नहीं होनी चाहिए, बल्कि गांव-गांव में कर्म-शक्ति, कर्म-सत्ता होनी चाहिए। इसलिए हम चाहते हैं कि हरेक गांव को यह हक हो कि उस गांव में कौन-सी चीज न आये, इसका निर्णय वह कर सके। अगर कोई गांव चाहता है कि उस गांव में कोल्हू चले और मिल का तेल न आये, याने उस गांव में मिल का तेल आने से रोके, तो उसे रोकने का हक होना चाहिए। जब हम यह बात करते हैं, तो अधिकारी कहते हैं कि इस तरह एक बड़ी स्टेट के अंदर एक छोटी-सी स्टेट नहीं चल सकती। मैं कहता हूं कि सत्ता का विभाजन अगर हम नहीं करेंगे,

कर्तृत्व का विभाजन नहीं करेंगे तो सेना-बल अनिवार्य है, यह समझ लीजिये। तो फिर सेना के वगैर आज तो चलेगा ही नहीं, और कभी भी नहीं चलेगा; फिर हमेशा के लिए यह तय करिये कि सेना-बल से काम लेना है और सेना सुसज्ज रखनी है। फिर यह न बोलिये कि हम कभी-न-कभी सेना से छुटकारा चाहते हैं। अगर कभी-न-कभी सेना से छुटकारा चाहते हो तो जैसा परमेश्वर ने किया है, वैसा हमको करना चाहिए। परमेश्वर ने अकल का विभाजन कर दिया। हरेक को अकल दे दी—विच्छू को भी दी, सांप को भी दी, शेर को भी दी, मनुष्य को भी दी। कमी-बेशी सही, लेकिन हरेक को अकल दे दी और कहा कि अपने जीवन का काम अपनी अकल से करो और तब सारी दुनिया इतनी उत्तम चलने लगी कि वह विश्रांति ले सकता है और यहांतक कि लोगों को शंका भी होती है कि परमेश्वर है या नहीं! हमको ऐसा ही राज्य चलाना होगा कि शंका या जाय कि कोई राज्य-सत्ता है या नहीं! हिन्दुस्तान में शायद राज्य-सत्ता नहीं है, ऐसा लोग कहें, तब हमारा राज्य-शासन अहिंसक हुआ। इसलिए हम ग्राम-राज्य का उद्घोष करते हैं और इसीलिए हम चाहते हैं कि ग्राम में नियंत्रण की सत्ता हो, अर्थात् ग्रामवाले नियंत्रण की सत्ता अपने हाथ में लें। यह भी एक जन-शक्ति का प्रश्न आया कि गांववाले खुद खड़े हो जायें, निर्णय करें कि फलानी चीज हमको पैदा करनी है और सरकार से मांग करें कि फलाना माल यहां नहीं आना चाहिए, उसको रोकिये। वह अगर नहीं रोकते हैं, यानी रोक नहीं सकते हैं, रोकना चाहते हैं, तो उसके विरोध में खड़े होने की हिम्मत करनी होगी। ऐसा करने से उस सरकार को अत्यन्त मदद पहुंचेगी, क्योंकि उसीसे सैन्य-बल का छेद होगा। इसके वगैर सैन्य-बल का कभी छेद नहीं हो सकता। यह बात कभी नहीं हो सकती कि दिल्ली में कोई ऐसी अकल पैदा हो जाय, चाहे वह ब्रह्मदेव की अकल हो, जिसके चार दिमाग हैं और चारों दिशाओं में देख सकता है कि हरेक गांव के सारे कारोबार का नियंत्रण और नियोजन वहां से हो और वह सारे-का-सारा सबके लिए लाभदायी हो। इस वास्ते 'नेशनल प्लानिंग' के वजाय 'विलेज प्लानिंग' होना चाहिए। 'वजाय' मैंने कह दिया। बेहतर तो कहना यह होगा कि नेशनल प्लानिंग का ही अर्थ यह होना चाहिए—विलेज प्लानिंग और उस विलेज प्लानिंग की मदद के लिए और जो कुछ करना पड़ेगा उतना दिल्ली में किया जायगा। हम जो कुछ करते हैं, वह सारा कर्तृत्व-विभाजन की दिशा में करना चाहते हैं। इसलिए हम गावों में जमीन का बंटवारा करना चाहते हैं।

जमीन के बारे में जब कभी सवाल पैदा होता है तो यही कहते हैं कि 'सीलिंग' बनाओ, अधिक-से-अधिक जमीन कितनी रखी जाय, यह सोचो। जबकि यह भूदान-यज्ञ का आंदोलन जोर कर रहा है और जनता में एक भावना पैदा हो रही है, तब यह बात बोली जा रही है। लेकिन मैं कहता हूं कि पहले तो कम-से-

कम जमीन हरेक को देना है, यह तय करो। यह मैं क्यों कह रहा हूँ? इस वास्ते कह रहा हूँ कि मैं कर्तृत्व-विभाजन चाहता हूँ। जितने भी मजदूर हैं वे सारे मजदूर आज दूसरे के हाथ में काम करते हैं। काम तो वे करते हैं, लेकिन उनमें कर्तृत्व नहीं है। चलती गाड़ी ही है, लेकिन गाड़ी को हम कर्ता नहीं कहते, क्योंकि वह चेतना-विहीन है। तो ये जो मजदूर खेतों में काम करते हैं, वे चेतनाविहीन जैसा काम करते हैं, हाथों से काम करते हैं, पांवों से काम करते हैं, लेकिन उनके दिमाग से, उनके दिल से यह काम हो, यह हम चाहते हैं। लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान के मजदूरों में उतनी अकल नहीं है और इसलिए उनका दूसरों के हाथ में रहना ही बेहतर है। मैं कहता हूँ कि यह अहिंसा का तरीका नहीं है। उनमें जो अकल है, उसका परित्याग कर द तो दूसरी कोई अकल, दूसरा कोई खजाना हमारे पास नहीं है।

माना कि एक मजदूर की अकल से किसी पूंजीवाले भाई की अकल ज्यादा है। लेकिन कुल मिलाकर देश में मजदूरों की जो अकल है, उस अकल की बराबरी दूसरी कोई अकल नहीं कर सकती और अगर उस अकल का हमको उपयोग न मिले तो हमारा देश बहुत-कुछ खो देता है। इस वास्ते जरूरी है कि मजदूरों की अकल का, जैसी भी वह आज है, पूरा उपयोग हो। इसके साथ-साथ उनकी अकल बढ़े, ऐसी भी योजना चाहिए और उनकी अकल बढ़ाने की ऐसी जो भी योजना करेंगे, उसमें यह भी एक योजना होगी कि उनको जमीन दी जाय। अलावा इसके कि हम उनको और तालीम दें, उनके हाथ में जमीन देना, यह भी तालीम का एक अंग होगा और उनकी अकल बढ़ाने का भी वह एक साधन होगा।

अब हम कार्य-रचना पर आते हैं। रचना में तो हमने एक 'सर्व-सेवा-संघ' माना है और दूसरा 'सर्वोदय-समाज'। 'सर्वोदय-समाज' का नाम चलेगा, 'सर्व-सेवा-संघ' का काम चलेगा। इस तरह एक का नाम और एक का काम, ये दोनों मिलाकर हम चलें, तो सर्व-सेवा-संघ शिथिल संस्था नहीं होगी बल्कि मजबूत संस्था होगी और सर्वोदय-समाज शिथिल या अशिथिल, दोनों प्रकार की रचना नहीं होगी, बल्कि वह अरचना होगी, विचार की सत्ता कबूल करनेवाली वह मंडली होगी। हमें इस दिशा में सोचना चाहिए कि सर्वोदय-समाज और भी कैसे विचार-परायण बने। सर्वोदय-समाज और अधिक अनुशासन किस तरह माने, यह सोचने की हमें जरूरत नहीं है, क्योंकि अनुशासन माननेवाला समाज हम बनाना नहीं चाहते। वह अधिक विचारवान कैसे बने और विचार की सत्ता उस पर कैसे चले, इस दिशा में हमको काम करना चाहिए। जितने सर्वोदय-समाज के सेवक यहां इकट्ठे हैं, जिन्होंने नाम लिखे हैं और जिन्होंने नाम नहीं लिखे हैं और जो यहां नहीं आये हैं, उन सबके लिए एक विचार की संगति का निर्माण हो, यह काम हमें करना चाहिए। इस वास्ते एक तो बात मैंने आम जनता के विचार के लिए बताई

थी कि प्रचार होना चाहिए, उसका चिन्तन-मनन होना चाहिए। ऐसे वर्ग जगह-जगह चलने चाहिए कि जिनमें हमारे विचारों का दूसरे विचारों के साथ तुलना करके अध्ययन हो। हमको इस तरह के आयोजन करने चाहिए, सर्वोदय-समाज और सर्व-सेवा-संघ को एकरस संस्था बनाना चाहिए। मुझे कबूल करना चाहिए कि इस दिशा में इच्छा रखते हुए भी हम बहुत काम नहीं कर सके हैं। मेरी राय में अगर हम वैसा नहीं करते हैं तो जनता को हमसे जो अपेक्षाएं हैं, उन अपेक्षाओं को हम पूरा नहीं करेंगे, वह पुराना ढांचा कि भिन्न-भिन्न संस्थाएं काम करती हैं, नहीं चलेगा। उससे शक्ति का निर्माण नहीं होगा।

मैं कुछ मिसालें दूंगा। मिसाले देने में कुछ नाम लेकर भी मिसाले दूंगा, पर उससे किसीको यह नहीं लगना चाहिए कि मैं दोष बता रहा हूं और दूसरों के सामने नहीं बता रहा हूं, लेकिन मैं अपने सामने अपना ही दोष बता रहा हूं, इस खयाल से मैं कुछ दोषों की चर्चा भी करूंगा। मान लीजिये कि वर्धा में हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा है। अब वहां क्या होता होगा? विद्यार्थी आते होंगे—क्योंकि हिन्दी और उर्दू, नागरी और उर्दू दोनों लिपियां सीखने की बात चलती है, उसके लिए आज वातावरण उतना अनुकूल नहीं है। फिर भी जो आते होंगे वे बहुत-से तो दो लिपियां और भाषाएं सीखने का अपना कर्तव्य समझते होंगे। लेकिन मैं चाहता हूं कि अगर हमारा समाज एकरस होता तो हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा में शिक्षण के लिए आनेवाले विद्यार्थियों को मैं चार घंटे खेती का काम देता और उसके बाद एकाध घंटा सूत कातने का काम देता, उसके बाद एकाध घंटा रसोई वगैरा काम करते और फिर तीन-चार घंटा उर्दू और हिन्दी, जो कुछ सीखना होता, वह सीखते। लेकिन आज जिस तरह वहां चलता है, उसमें से शक्ति-निर्माण होना मैं सम्भव नहीं मानता। यह हो नहीं सकता कि उर्दू और नागरी लिपि सीखनेवाले कुछ लड़के हमको मिल जायें और उनको वह लिपियां हम सिखायें, और उससे देश में ताकत बढ़े। अब मैं इतना बोल रहा हूं, आप सुनते हैं। अगर आपके कान काट करके यहां सुनने के लिए रखे जायें और मेरी जवान तोड़कर बोलने के लिए यहां रखी जाय, तो न मैं बोल सकनेवाला हूं और न आप सुन सकनेवाले हैं, क्योंकि मैं समग्र हूं और क्योंकि आप समग्र हैं, इसलिए मैं बोल पा रहा हूं और आप सुन पा रहे हैं। हां, यह ठीक है कि मेरी जवान काम कर रही है, आपके कान काम कर रहे हैं। तो हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा में मुख्य काम चार घंटे का रहेगा, वह उनका उर्दू और नागरी लिपि सीखने का रहेगा। फिर भी बाकी के जीवन का सारा अंश हमें दाखिल करना होगा, तभी उस उर्दू में ताकत आयेगी, तभी उस नागरी में ताकत आयेगी। वह तो मैंने एक मिसाल दी, ऐसी कई मिसालें मैं दे सकता हूं। हमारे लोग जो अलग-अलग काम करते हैं, उनमें ताकत क्यों नहीं पैदा होती और जन-समाज में जो क्रान्ति होनी चाहिए, जिसकी हम आशा रखते हैं, वह आशा

क्यों नहीं सफल होती ? उसका एक मुख्य कारण मैं मानता हूँ कि हमारे संघ अलग-अलग काम करते हैं। अच्छा काम वे करते हैं, लेकिन उनको यह मोह है कि हम अलग-अलग हैं, इसलिए कोई खास विचार करते हैं और अगर हम एक हो जायेंगे, तो हमारा विचार कम हो जायगा, उतने एकाग्र हम नहीं हो पायेंगे, विविध वृत्ति आ जायगी, और इसलिए जोर कुछ कम पड़ेगा। मैं कबूल करता हूँ कि हरेक योजना में कुछ खामियां होती हैं, कुछ खूबियां होती हैं। लेकिन कुल मिलाकर देखते हैं तो ध्यान में आयेगा कि सर्व-सेवा-संघ को एकरस बनाये बगैर हमें शक्ति का दर्शन नहीं होगा। अब आखिर में दो-तीन काम हम जुटा रहे हैं, उसका थोड़ा जिक्र करके मैं समाप्त करूंगा।

एक तो भूमि-दान-यज्ञ का काम हमने शुरू किया है, जो मेरे मन में है और जो मेरी जवान पर है। काम यह है कि कम-से-कम पांच करोड़ एकड़ जमीन इस हाथ से उस हाथ में जानी चाहिए। अगर इस काम में हम सब लग जायेंगे—हम सब याने आप और हम, जो सर्वोदय-समाज के लोग माने जाने हैं उतने ही नहीं, बल्कि कांग्रेसवाले, प्रजा-समाजवादी इत्यादि, जो कि इस विचार को कबूल करते हैं—तो इस मसले को हम हल करेंगे, चाहे सोलह आना यश पाकर बिना कानून के हो जाय, चाहे बारह आना यश पाकर या आठ आना यश पाकर कानून की सहायता से पूरा हो जाय। मैं भविष्यवादी नहीं हूँ। जिस किसी तरह से वह हो, पर हो प्रधान-तया जन-शक्ति से। पूर्णतया अगर जन-शक्ति से हो तो मैं नाचने लगूंगा, लेकिन प्रधानतया जन-शक्ति से हुआ तो भी मैं संतोष मानूंगा। अगर १९५७ के पहले हम इतना कर लेते हैं तो आगे जो चुनाव होगा, वह पक्षों के बीच नहीं होगा, ऐसे पक्षों के बीच कि जिनमें बहुत सारे सज्जन पड़े हैं। आज हालत यह है कि इस पक्ष में भी सज्जन हैं, उस पक्ष में भी सज्जन हैं, और भीष्मार्जुन युद्ध हो रहा है। हम राम-रावण युद्ध चाहते हैं, भीष्मार्जुन युद्ध नहीं चाहते हैं। दोनों पक्षों में सज्जन हैं तो वे एक क्यों नहीं हो सकते ? अगर कोई कार्यक्रम ऐसा मिले कि जिसपर वे एकाग्र हो जायें तो उनके बीच आज जो दूसरे मतभेद हैं, वे फौरन मिट जायेंगे, क्योंकि यह कार्यक्रम बुनियादी है। आगामी अगामी मुझे कहते हैं कि आपने यह हमारा कार्यक्रम उठा लिया। मैं कहता हूँ कि यह मुझे कबूल है और इसलिए मेहरबानी करके मुझे मदद दीजिये। कांग्रेसवाले कहते हैं कि यह तो कार्यक्रम बहुत अच्छा है, हमको करना ही था। उनसे भी हम मदद चाहते हैं। जनसंघवाले कहते हैं कि आपका कार्यक्रम भारतीय संस्कृति के अनुकूल है, इसलिए अच्छा है। तो हम कहते हैं कि इस तरह भिन्न-भिन्न विचारवाले भी इस कार्यक्रम को पसन्द करते हैं। अगर हम सब इस काम में लग जायें तो ऐसा हो सकता है कि आगामी चुनाव में बहुत-सा मतभेद न रहे और अच्छे-से-अच्छे लोग चुने जायें। इस तरह होगा तो इसके आगे जो सरकार होगी, वह बहुत शक्तिशाली होगी। यह एक उम्मीद इस

कार्यक्रम से मैन की है। तो यह भूमिदान का काम हमको करना है। पांच करोड़ के बिना हमारा सन्तोष नहीं। लेकिन अगले साल तक पच्चीस लाख एकड़ पूरा हो ही जाना चाहिए।

इसके साथ-साथ मैन एक दूसरा कार्यक्रम शुरू कर दिया है, जिसको संपत्ति-दान-यज्ञ नाम दिया है। उसके बगैर भूमि-दान-यज्ञ की सफलता नहीं होगी और उसके बगैर आर्थिक आजादी का हमारा जो कार्यक्रम है और आर्थिक साम्य का, वह भी पूरा नहीं होगा। आरम्भ से ही मैं इस चीज को पहचानता था, लेकिन 'एक साथे सब सधे', दो बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। फिर भूमि का सवाल जितना बुनियादी था उतना बुनियादी संपत्ति का नहीं था। इस वास्ते, और तेलंगाना में परमेश्वर के इशारे से, काम करना मुझे अच्छा लगा, इसलिए आरम्भ में इतना ही लिया, लेकिन बाद में बिहार का मसला हल करने की बात चली, तो मैन देखा, भूमिदान के साथ-साथ सम्पत्ति-दान-यज्ञ भी चलेगा, तब यह हल हागा। उसमें संपत्ति हम अपने हाथ में लेनेवाले नहीं हैं, बल्कि उसमें भी कतृत्व-विभाजन हम चाहते हैं। यानी जो सम्पत्ति देगा, वह हमारे निर्देश के मुताबिक उसका इस्तेमाल करेगा, यह हमारी योजना है। पर सम्पत्ति-दान-यज्ञ का व्यापक प्रचार, जैसे भूमि-दान-यज्ञ का प्रचार हम व्याख्यान के जरिये गांव-गांव में जाकर करते हैं, वैसा सामुदायिक तौर पर करने का नहीं है। व्यक्तिगत तौर पर प्रेम से जिनसे बात हो सकती है, उनके हृदय में और उनके कुटुंब में, उनके विचारों में प्रवेश करके यह काम करने का है। अभी तक जिस किसीने सम्पत्ति-दान-यज्ञ में दान दिया है, वह प्रति वर्ष देने का है, यानी जिंदगी भर देने की बात है। उसको मैन काफी जांचा है और जांच करके ही कबूल किया है। यानी उत्तेजन देने के बजाय कुछ थोड़ा नियन्त्रण ही मैन किया है। अभी करीब चालीस-पैंतालीस लोगों के नाम मेरे पास हैं। इसका ज्यादा जिक्र यहां बढ़ाना नहीं चाहता, पर इतना कहता हूं कि आपमें से जिनके पास कोई गठरी है उसको खोलनी चाहिए और इसमें शरीक होना चाहिए और अपने मित्रों में इसका प्रचार प्रेम से करना चाहिए। इतना ही कहता हूं कि ये दो काम परस्पर पूरक हैं।

इन दो कामों के अलावा एक तीसरी चीज जो हम कर रहे हैं, उसको हम सूतांजलि कहते हैं। यह एक बड़ी शक्तिशाली वस्तु है। उस शक्ति को हम पहचान नहीं सके हैं। बापू की स्मृति में और शरीर पर श्रम की प्रतिष्ठा की मान्यता के रूप में, और देश में लक्ष्मी बढ़ाने की जिम्मेदारी महसूस करते हुए सूतांजलि समर्पण करें। उसको मैन सर्वोदय का 'वोट' माना है। जैसे हम पच्चीस लाख एकड़ जमीन की बात करते हैं, वैसे लाखों लच्छियां हमको प्राप्त करनी चाहिए। इसके अलावा एक बात और, आज तक हमने जो संस्थाएं चलाई, वे पैसे का आधार लेकर चलाई अर्थात् पैसेवाले, जो कि हमारे मित्र थे, प्रेमी थे, सहानु-

भूति रखते थे, जिनके हृदय शुद्ध थे, ऐसे लोग हमको मदद देते थे और हम लेते थे और उसमें हम कुछ गलती करते थे, ऐसी बात नहीं, पर अब जमाना बदला है और श्रम का जमाना आया है। उसकी प्रतिष्ठा हमको बढ़ानी चाहिए। अतः अगर हम हरेक प्रांत में एकाध संस्था ऐसी बना सकते हैं, तो बनायें, जो आरम्भ में श्रम के ही आधार पर चले और यदि लेना है तो श्रम का ही दान ले। यह सूता-जल की बात अगर फैली तो ऐसी संस्थाएं हम चला सकते हैं और उसमें तेजस्वी कार्यकर्ता निर्माण हो सकते हैं, जो प्रचार में भी लग सकते हैं और काम में भी लग सकते हैं।

आखिर में दो शब्द कहना चाहता हूं कि यह अपना काम एक संप्रदाय का काम नहीं है। 'सर्वोदयवाले' यह शब्द हमको सुनाई नहीं देना चाहिए। यह शब्द ही गलत है, बल्कि हम केवल मनुष्यमात्र हैं, मानव से भिन्न हम कोई नहीं हैं, नहीं तो देखते-देखते, यद्यपि हम सर्वोदय-समाज कोई विशेष अनुशासन के साथ नहीं बनाते, तो भी हम पांथिक बन सकते हैं, सांप्रदायिक बन सकते हैं। तो यह भाषा कभी नहीं निकलनी चाहिए कि फलाना समाजवादी है, फलाने कांग्रेसवाले हैं, फलाने सर्वोदयवादी हैं आदि। वे जो दूसरे नाम हैं, वे चलेंगे; क्योंकि वे लोग उस नाम पर काम करना चाहते हैं और उसकी उपयोगिता वे मानते हैं। लेकिन हमारा कोई पक्ष नहीं है। जिसको तीसरी शक्ति कहते हैं, वे हम हैं। तीसरी शक्ति का मतलब आज दुनिया की परिभाषा में यह होता है कि जो शक्ति न अमरीका के 'ब्लाक' में पड़ती है, न रूस के 'ब्लाक' में पड़ती है, उसको लोग तीसरी शक्ति कहते हैं। लेकिन मेरी तीसरी-शक्ति की परिभाषा यह होगी जो शक्ति हिंसा की शक्ति से विरोधी है अर्थात् जो हिंसा की शक्ति नहीं है, और जो दंड-शक्ति से भी भिन्न अर्थात् जो दंड-शक्ति नहीं है—ऐसी जो शक्ति है उसका नाम है तीसरी शक्ति। एक हिंसा शक्ति, दूसरी दंड-शक्ति, तीसरी हमारी शक्ति है। तो वह शक्ति हम व्यापक बनाना चाहते हैं और उसका कोई अलग संप्रदाय नहीं बनाना चाहिए, बल्कि हमको आम लोगों में घुलमिल जाना चाहिए और केवल मानव-मात्र रहना चाहिए।

**पांचवां सर्वोदय-सम्मेलन**

**चांडिल, मार्च १९५३**

## ५ : : पञ्चातीत कार्य

बापू के निर्वाण के बाद सेवाग्राम में हम सब लोग पहली बार इकट्ठे हुए थे। ईसामसीह ने, जब उनका अंतिम समय नजदीक आया, शिष्यों को एकत्र किया था और आदेश दिया था तुम एक-दूसरे से प्यार करो। यों कहकर आदेश दिया कि यह नई आज्ञा, एक नया आदेश मैं दे रहा हूँ। जिदगीभर उनका यही आदेश रहा कि पड़ोसियों से प्यार करो। कभी कहते थे, दुश्मनों से प्यार करो। लेकिन 'एक-दूसरे पर प्यार करो', यह शिष्यों को कहने की प्रेरणा ईसामसीह को अंतिम समय में हुई।

बापू की भी ठीक यही हालत हुई। जब उनका अंतिम समय नजदीक आया था, तब उन्होंने सोचा कि उनके सारे साथी और सहकर्मी-जनों को एकत्र करके उनका एक समाज बनाया जाय, उनका एक समूह बनाया जाय। ऐसी प्रेरणा उनको अंतिम समय में हुई। लेकिन उस प्रेरणा पर अमल करने के लिए वह देह में नहीं रहे। परंतु उनकी प्रेरणा ने काम किया—विदेह अवस्था में; और हम सब सेवाग्राम में इकट्ठे हुए और सर्वोदय-समाज बना, यानी एक-दूसरे पर प्रेम करने का आदेश सर्वोदय-समाज के रूप में प्रकट हुआ। इसके पहले जो आदेश ईसामसीह देते थे, वही तो आदेश बापू भी हमेशा हमें देते थे। वह 'पड़ोसी पर प्यार करो' कहते रहे और इसी वास्ते खादी और ग्रामोद्योग तथा स्वदेशी-धर्म उन्होंने हमारे सामने रखे। स्वदेशी-धर्म की, खादी की और ग्रामोद्योग की जो व्याख्या उन्होंने हमें समझाई थी, उसके मानी यही थे कि हमें अपने पड़ोसियों पर प्यार करना चाहिए। लोभ में पड़कर बाहर का माल सस्ता मिलता है, इस वास्ते नहीं खरीदना चाहिए। नजदीक रहनेवाले पड़ोसियों के काम की हमें कदर करनी चाहिए, कीमत करनी चाहिए, यही उस स्वदेशी-धर्म की व्याख्या उन्होंने हमें समझाई थी। वह पड़ोसी पर प्यार करने का आदेश था।

दुश्मनों पर प्यार करने का आदेश भी ईसामसीह के समान वह हमें देते रहे, जिसका प्रत्यक्ष रूप अहिंसात्मक प्रतिकार और सत्याग्रह के रूप में उन्होंने हमारे सामने रखा था। और अंतिम समय का आदेश, परस्पर प्रेम करने का, सर्वोदय-समाज के आकार में प्रकट हुआ। बहुत खुशी होती है, हृदय को समाधान होता है कि प्रेम के उनके अंतिम संदेश ने हम लोगों के हृदयों को छुआ है और उसपर अमल करने की हमने कोशिश की है।

इस साल अपने प्रिय सुहृद्जनों को, पं. जवाहरलालजी को, यहां बुलाने की धृष्टता मैंने की है। मुझे उसमें कुछ भिन्न भी थी, क्योंकि वह निरंतर किसी-न-किसी कार्य में मग्न रहते हैं और वे इतने विविध कार्य होते हैं कि उनपर एक और भार डालना कुछ ठीक नहीं लगता था। लेकिन फिर भी सोच करके पत्र लिखा,

और बहुत प्रेम से उस निमंत्रण को उन्होंने स्वीकार किया और अपने कार्यक्रम में जरूरी बदल करके वह यहां हम लोगों के बीच आये हुए हैं।

मैंने उनको लिखा था, जहां तक मेरा ताल्लुक है, मैं तो आपके नजदीक ही पड़ा हूं, चाहे बीच में कोसों का अंतर दीख पड़ता हो। मेरे मित्रों को मालूम है कि शारीरिक संपर्क में मेरा बहुत ज्यादा विश्वास भी नहीं है। मेरा विश्वास हृदय-संपर्क में है। इस तरह आमंत्रण देने की वृत्ति मुझमें स्वाभाविक नहीं है। पर मैंने वह काम किया, उसका एक कारण था।

इन दिनों भूदान-यज्ञ का काम करते हुए मुझे जो अनुभव हुआ, उस अनुभव ने मुझे यह प्रेरणा दी। वह अनुभव यह था कि भूदान-यज्ञ में कोशिश हमारी यह रहे कि इस काम को हम पक्षातीत रखें। उसकी अपनी एक भूमिका है। उसी भूमिका पर यह काम चले। उसमें नैतिक शक्ति का आवाहन है। उसमें किसी तरह की सत्ता का कोई संबंध नहीं है। उस नैतिक भूमिका पर ही यह आंदोलन चले, ऐसी हमारी निरंतर कोशिश रही है। अर्थात् हमको सक्ता सहयोग लेना था। वे सब वे ही भाई थे, जो भिन्न-भिन्न राजनैतिक पक्षों में बंटे हुए थे। उनके साथ हम संबंध रखते थे और उनसे काम लेने की कोशिश करते थे। यह कहने में खुशी होती है कि उन्होंने बहुत काम किया और बहुत प्रेम से किया। लेकिन उस काम के सिलसिले में यह अनुभव आया कि हम लोग, जोकि मूल में एक ही कुटुम्ब के हैं, जिसे मैं गांधी-कुटुम्ब कहता हूं, जो कि अत्यन्त विशाल है, उस कुटुम्ब के हम सारे होते हुए भी हमारे हृदयों में जितनी निकटता होनी चाहिए, उतनी मैंने नहीं देखी। उसमें कुछ कमी मुझे महसूस हुई। भूदान-यज्ञ का यह परिणाम था कि हृदयों को कुछ-न-कुछ नजदीक लाने में उसका उपयोग हुआ। हालत कहां तक पहुंची थी और भूदान से उसमें किस तरह कुछ सुधार हुआ इसकी मिसाल देते हुए उड़ीसा के महान कार्यकर्त्ता गोपबाबू (गोपबन्धु चौधरी) मुझसे कहने लगे कि भूदान की यह महिमा है कि जो लोग एक साथ बैठकर भोजन तक नहीं करते थे, वे अब एक साथ बैठकर भोजन करने लगे हैं।

इसपर से आपके ध्यान में आयेगा कि इस काम को करते हुए कैसे अनुभव हमें आये। मुझे लगा कि अपने देश के लिए यह चीज ठीक नहीं है।

आजकल कई लोग बोलते हैं कि देश पर जब कोई संकट आयेगा, और कहते हैं कि देश के लिए आज वैसी कुछ चिंतनीय हालत उपस्थित हुई है, तो हम सब कंधे-से-कंधा लगाकर उसकी रक्षा के लिए भिड़ जायेंगे, सारे भेद-भावों को भूल जायेंगे। हम कहते हैं, परस्पर प्रेम प्रकट करने के लिए क्या यह बहुत जरूरी है कि देश पर कोई भारी संकट आना ही चाहिए? यह एक सवाल मैं अपने मन में पूछता हूं। दूसरा यह भी सवाल पूछता हूं कि जिस देश में असंख्य धर्म-भेद, भाषा-भेद, जाति-भेद, पक्ष-भेद, और भी तरह-तरह के भेद मौजूद हैं, उस देश के

लिए क्या किसी नये संकट की आवश्यकता भी है ? क्या यह पर्याप्त संकट नहीं माना जायगा ? जिस देश में वावजूद स्वराज्य-प्राप्ति के, सर्वसाधारण जिंदगी की आवश्यकताएं बहुत-से लोगों को ठीक तरह से मुहैया नहीं होती हैं, उस देश के लिए और किसी दूसरे संकट की क्या जरूरत है ? हम समझते हैं कि यह पर्याप्त से ज्यादा संकट है और उस हालत में बहुत जरूरी है कि हम लोगों के दिल एक हो जाने चाहिए ।

यह आवश्यकता महसूस करके मैंने धृष्टता की थी पंडितजी को यहां बुलाने की, और वह प्रेमपूर्वक यहां आये हुए है । अब कुछ बातें मैं आप लोगों के सामने रखूंगा ।

प्रथम तो सोचने की बात यह है कि राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक, इस जाति-भेद पर अनंत प्रहार होते रहे, और जिसकी कमार टूट चुकी थी, उसी जाति-भेद की प्रनिष्ठा, चुनावों का जो तरीका हमारे देश में आया है उसके कारण, मजबूत होती जा रही है । यह मैंने बिहार में देखा, दूसरे प्रांतों में भी देखा । चुनाव का तरीका लाभदायी समझकर हमने उसे स्वीकार किया है । पर अपने देश की हालत देखते हुए उसमें कोई जरूरी संशोधन करना चाहिए, यह सोचने का अवसर अब आया है । क्या संशोधन हो सकता है, यह चिंतनशील लोग सोचें । पर यह नहीं हो सकता कि सारे राष्ट्र की मुख्य चिंतन-शक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के चुनावों की परंपरा में ही लगी रहे । देहात से लेकर राजधानी तक के तरह-तरह के चुनाव, अन्दर-अन्दर के और बाहर के, भिन्न-भिन्न पक्षों के, सतत होते रहते हैं और एक-एक चुनाव में समाज की शक्ति, उसका पैसा, उसका समय, खर्च होता है । उसके अलावा, जो मन-मुटाव बढ़ता है, वह अलग । इसपर कुछ सोचने की जरूरत है या नहीं, यह जिम्मेदार नेताओं के लिए एक विषय है । मैं नअत्ता से यह विषय पेश कर रहा हूं ।

इसपर कुछ-न-कुछ चिंतन हमारा चलता ही है । परन्तु यह किसी एक मनुष्य के चिंतन का विषय नहीं हो सकता । बहुतों को इसका चिंतन करने की जरूरत है । क्या यह हो सकता है कि पक्षीय चुनावों को अभी सीमित किया जाय ? कुछ क्षेत्र ऐसे छोड़े जायं कि जिनमें पक्षीय पद्धति से चुनाव न हों । क्या यह हो सकता है ? या और भी दूसरे तरीके ढूंढ़े जा सकते हैं, यह एक सोचने का विषय है, नहीं तो जिस तरह जाति-भेद एक खतरनाक चीज हमने मानी है, उसी तरह उत्तरोत्तर अनुभव आयेगा कि इस गरीब देश के लिए, जिसका स्तर सब तरह से गिर चुका है, राजनैतिक पक्षों के बीच जो साठ-मारी चलेगी, उससे लाभ कहां तक होगा ? मेरे मन में आता है कि कम-से-कम, जो सज्जन होते हैं, उनकी आइडियालाजीज में, उनकी कल्पनाओं में, विचार-सरणी में कितना भी भेद क्यों न हो, उनके बीच सर्वसाधारण कार्यक्रम पर एकता होनी ही चाहिए ।

अगर किसी ऐसे सार्वजनिक उपयोग और सेवा के काम के लिए एकता नहीं बन सकती है तो मैं तो यह कहूंगा कि वे सज्जनों के पक्ष नहीं होंगे। सज्जनों में विचार-भेद के वावजूद, आचार के विषय में एकसूत्रता, कुछ-न-कुछ समान अंश होना ही चाहिए। ऐसा समान अंश ढूँढ़कर उसका प्रोग्राम बनाना चाहिए और उस कार्यक्रम पर देश की शक्ति केन्द्रित करनी चाहिए। सब लोगों की शक्ति उसमें लगनी चाहिए और एक आवाज से लोगों के सामने वह चीज रखी जानी चाहिए। तभी इस देश की जनता में, जो बहुत ही निष्क्रिय हो चुकी है, प्राण-संचार होगा, क्रिया की प्रेरणा होगी। जड़ता कुछ कम होगी। यह आवश्यकता बहुत महसूस होती है और मैंने तो नम्रता के साथ कई दफा कहा कि भूदान-यज्ञ इस तरह का एक कार्यक्रम हो सकता है। उसके साथ दूसरे और भी कार्यक्रम जोड़े जा सकते हैं। उसपर सोचा जा सकता है। लेकिन ऐसा कोई कार्यक्रम होना चाहिए, जिसपर भिन्न-भिन्न पक्षों के सज्जनों की एकवाक्यता हो जाय और उसपर जोरों से अमल शुरू हो जाय।

इसका मतलब यह नहीं कि भिन्न-भिन्न विचारों को हम छोड़ ही दें। विचार-भिन्नता का उपयोग भी है। विचार-मंथन जरूर होना चाहिए। मैंने यह कई दफा कहा है। आचार-संघर्ष नहीं होना चाहिए। मंथन से नवनीत निकलता है, मक्खन निकलता है, इस वास्ते विचार-मंथन बहुत जरूरी चीज है। संघर्ष से अग्नि पैदा होती है, जो कि दाहक वस्तु है, इसलिए संघर्ष आचार में नहीं आना चाहिए। विचार का मंथन जरूरी होता है।

हमने एक कार्यक्रम उठा लिया और परमेश्वर की कृपा रही कि भिन्न-भिन्न पक्षों का आशीर्वाद उसको प्राप्त हुआ और सब लोगों ने उसमें देश का लाभ समझा। आरंभ में मैं तो हमें पता था, न दूसरों को ही पता था कि इस चीज में क्या ताकत छिपी है। लेकिन मैंने तो इसका आरम्भ, जिसको आप केवल अन्ध-श्रद्धा कहते हैं, उससे किया और मेरा तो दावा है कि श्रद्धा अंध ही हो सकती है, जो अंध नहीं होती, वह श्रद्धा नहीं होती, वह बुद्धि होगी। आंखवाली बुद्धि हो सकती है।

दुनिया में कुछ काम बुद्धि के होते हैं और कुछ काम श्रद्धा के होते हैं। दोनों परस्पर पूरक हैं और दोनों की आवश्यकता है। मैंने व्याख्या की है कि बुद्धि तो वह है, जो प्रमाण के बिना किसी चीज को कबूल नहीं करती। श्रद्धा वह है जो किसी खास चीज को कबूल करने में प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं करती। बच्चे को माता के स्तन से मिलनेवाला दूध अपने लिए मुफ़ीद होगा, यह सिद्ध करने के लिए किसी तर्क की, दलील की या प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। वह उसकी श्रद्धा का स्वाभाविक विषय है और उसी श्रद्धा से उसका पोषण होता है। वह अगर तर्क-वितर्क करता रहे कि इस स्तन्य से, इस दुग्ध से मेरा कहांतक पोषण होगा, किन-किन वस्तुओं का क्या-क्या मिश्रण हुआ होगा, जो मेरे शरीर के लिए कहां

तक लाभदायी होगा, ऐसा अगर वह विचार करता चले, तो उसका शरीर सूखने की स्थिति आ जायगी। इस वास्ते कुछ चीजों में श्रद्धा ही रखनी होती है।

श्रद्धा कहां से आती है और बुद्धि कहां से आती है? जैसे किसी यंत्र में एक गति देनेवाली शक्ति होती है और एक दिशा-सूचक शक्ति होती है। यन्त्र में ऐसे दो हिस्से होते हैं। यह तो विज्ञान का विषय है। ऐसे ही मनुष्य के जीवन में गति देनेवाली जो शक्ति है, उसको श्रद्धा कहते हैं, और वह प्राण में से निर्माण होती है। जो दिशा दिखानेवाली शक्ति है, उसको बुद्धि कहते हैं और वह मनुष्य की ज्ञान-शक्ति है। ये दोनों शक्तियां जरूरी होती हैं और मैंने इस काम का आरंभ केवल श्रद्धा से किया।

मैंने देखा कि सामने एक ऐसा दृश्य है कि जहां गरीब लोग गुमराह हो गये हैं और अमीर लोग गुमराह होने से बाकी तो क्या थे, उनकी तो अक्ल ही गुम थी। इनकी तो खैर राह गुम थी, लेकिन उनकी तो अक्ल ही गुम थी। ऐसी हालत में मैं पहुंचा तेलंगाना में, और मैंने देखा कि इसके लिए जरूरी आदेश मिलना चाहिए। एक दिन अचानक दान मिल गया। हरिजनों की जमीन की मांग थी। वह गांववालों के सामने रखी गई, और उसका जवाब मिल गया। मांग थी अस्सी एकड़ की, मिल गई सौ एकड़। तब मैं उसपर बहुत चिंतन करता रहा और मैंने मान लिया कि यह एक इशारा है। ईश्वर का इशारा है। मैं तो उसी भाषा में बोल सकता हूं, जो भाषा मेरे हृदय में है। दूसरी भाषा मैं समझता नहीं। लेकिन उस दिन मैंने बहुत सोचा कि क्या यह काम मैं उठा लूं? मेरा गणित का स्वभाव है और विज्ञान का प्रेम है। इसलिए मैंने हिसाब भी कर लिया कि करीब-करीब पांच करोड़ एकड़ की जरूरत होगी। तो क्या इतना कार्यक्रम मैं उठा लूं? और मांगने से यह हो सकेगा? तो मेरे विचार ने मुझे कोई मदद नहीं दी। मेरी हिम्मत नहीं जमी। आखिर अन्दर से आवाज आई कि अगर तू इस काम को स्वीकार करने में डरेगा तो तुझे सीधे साम्यवाद को स्वीकार करना चाहिए। दो के सिवा तीसरी बात नहीं होगी। अंदर से जब यह एक आवाहन आया, तब उस काम को शुरू कर दिया और आपने देखा कि धीरे-धीरे जो शंकाशील लोग थे, वे भी अनुकूल हो गये। यहां तक हुआ कि वहां जब मेरा प्रचार चलता था, तो कम्युनिस्ट तेलगू भाषा में पत्रक निकालकर लोगों को समझाते थे कि यह एक बड़ा ढोंगी मनुष्य आया है। इससे सावधान रहना।

तुलसीदासजी ने लिखा है :

‘संत भेष करनी कठिन बरनि न जाय प्रभु।’

ऐसा इसका रूप है, यह बड़ा खतरनाक मनुष्य है और यह अमीरों की इज्जत बढ़ानेवाला, उनका एजेंट आया है। इस तरह तेलगू भाषा में पत्रक बंटे थे। मुझे तेलगू भाषा का थोड़ा ज्ञान है। वे पत्रक मेरे हाथ में आये। वे मैंने

पढ़ लिये, परन्तु जब कभी उनके विषय में बोलने का मौका आया, तब तो मैंने केवल प्रेम से ही बात की और माना कि ये सारे लोग सद्भावनावान हैं। गरीबों का हित चाहते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। इस वास्ते वे मेरे दुश्मन नहीं हो सकते। उनको समझाने की मैं चेष्टा करता गया और अपना काम करता चला गया। आखिर आज हालत यहांतक है कि उनके नेता गोपालन ने एक दिन कह दिया कि “यद्यपि इस तरीके पर हमारा कोई विश्वास नहीं है, इसे हम निकम्मा तरीका समझते हैं, तो भी इस काम के हम विरोधी नहीं। इससे कुछ काम होता है तो होने दीजिये। उसका विरोध करने की हमें जरूरत नहीं है।” यहांतक वह बोले। हम समझते हैं कि यह हृदय-परिवर्तन की मिसाल मानी जायगी। बहुत दफा हृदय-परिवर्तन का मखौल उड़ाया जाता है। लेकिन जो लोग ऐसा करते हैं, उन्हीं-से मैंने कई दफा कहा है कि भाइयो, मार्क्स ने आपका जो विचार-परिवर्तन किया और कराया, वह क्या तलवार लेकर किया था ? ‘मेरे विचार कबूल करो, नहीं तो काट डालता हूं सिर तेरा’, क्या यह आवाहन दिया था ? उसने तो एक विचार आपके सामने रक्खा और आपको वह जंचा। हम समझते हैं कि आप विचार-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन के नमूने हैं। तो उस प्रक्रिया पर से हमारा विश्वास नहीं छूट सकता, आपको देख करके तो और भी बढ़ता है। हमने तो यहांतक देखा कि जो विश्वास किसी सनातनी को होता है वेदों के लिए, या किसी मुल्ला को होता है कुरान के लिए, वैसा ही विश्वास मार्क्स के वचनों पर रखने तक की उनके मन की तैयारी हो गई है। वह एक हृदय-परिवर्तन का ही नमूना है, चाहे उसमें जड़ता हो।

इस तरह इसके लिए लोगों के दिलों में अनुकूलता पैदा हुई और इसमें चाहे कुछ मसला हल करने की शक्ति हो या न हो, दिलों को जोड़ने की शक्ति कुछ इसमें है, ऐसा भान लोगों को हुआ। ईश्वर चाहता है कि हम निरन्तर चिंतनशील रहें, सावधान रहें। जब मैंने सुना था कि उधर अमरीका का और पाकिस्तान का कुछ सम्बन्ध जुड़ गया है और लोगों में कुछ हलचल शुरू होगई है तो मैंने आनन्द के उद्गार प्रकट किये कि मुझे खुशी हो रही है कि जड़ जनता कुछ थोड़ी हलचल दिखा रही है और उसको तो मैंने आशीर्वाद कह दिया।

इस वास्ते मैं समझता हूं कि अब, जबकि इसके लिए अनुकूल भावना लोगों की हो गई है, तो इसके साथ करने के दूसरे जो काम हैं, उनपर हम सोचें। इससे कोई मसला कहांतक हल होगा, उस फिक्क में हम न पड़ें। एक अच्छी राह मिल गई है तो उसपर हम चलें और उसकी पूर्ति में जो करना चाहिए, वह करें। उसकी पूर्ति में जो करना चाहिए उस बारे में एक बात शुरू भी हो गई है, उसपर अब जोर देना है। वह बात यह कि इस बात को मानने के लिए एक हवा तैयार हो गई कि जमीन की कोई मालकियत नहीं हो सकती, जमीन परमेश्वर की पैदा

की हुई चीज है, वह सारे समाज की हो सकती है, गांव की हो सकती है; पर उसका कोई मालिक नहीं हो सकता। वह मुफ्त वस्तु है। जैसे हवा है, जैसे पानी है, जैसे सूरज की रोशनी है, वैसे ही जमीन है और उसकी सेवा करने का हक ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को होना चाहिए, जो सेवा करना चाहता है। जैसे इस बात की हवा हो गई है, वैसे यह भी एक बात अब होनी चाहिए कि जिसके पास जो भी सम्पत्ति है, चाहे वह शक्ति के रूप में, बुद्धि के रूप में हो या धन-दौलत के रूप में हो, जिस किसी रूप में हो, उस शक्ति का अंश सबको देकर ही उसका उपयोग वह कर सकता है। बिना दिये नहीं खाना चाहिए। 'पहले दो, पीछे खाओ' यह एक भावना निर्माण करने की जरूरत है।

एक भाई ने जब कहा कि जमीन उत्पादन का बड़ा भारी साधन है, इसलिए वह साधन किसीकी मालिकियत नहीं हो सकता, यह बात कुछ समझ में आ जाती है, तब मैंने कहा था कि वह सिर्फ उत्पादन का साधन नहीं है, वह परमेश्वर की भक्ति का साधन है। इसका अनुभव मैंने किया है। ईश्वर की भक्ति के जो अनेक साधन होते हैं, जप होता है, तप होता है, ज्ञान होता है, उन सबका थोड़ा-कुछ अनुभव मुझे है। लेकिन उन सबसे जितनी ईश्वर-भक्ति होती है, अर्थात् मनुष्यों के विकार-शमन के लिए जितनी मदद उन सब तरीकों से मिलती है, उससे ज्यादा मदद जमीन पर परिश्रम करने से, खूली हवा में कुदाली लेकर काम करने से होती है। इस वास्ते काशी-विश्वनाथ के मंदिर में हरिजनों को नहीं आने देना मुझे जितना गुनाह मालूम होता है, उससे ज्यादा गुनाह मालूम होता है, जब कोई शख्स, जोकि जमीन की काश्त कर सकता है और काश्त करना चाहता है, उसको हम जमीन देने से इन्कार करते हैं—यह कहकर कि इस जमीन के कोई दूसरे मालिक हैं, जो कि इस दुनिया से चल बसेंगे—बिना नोटिस के और जमीन कायम रहेगी! अब यह चल नहीं सकता। हरिजनों का मंदिर-प्रवेश न हो तो चल सकता है, क्योंकि ईश्वर की भक्ति के और उसके दर्शन के उससे भी बेहतर दूसरे तरीके मौजूद हैं। लेकिन बेजमीनों को जमीन की सेवा से वंचित नहीं रख सकते, क्योंकि जमीन की सेवा ईश्वर-भक्ति का सबसे उत्तम साधन है। उस साधन से किसीको भी वंचित नहीं कर सकते हैं।

हमारे एक भाई हैं, जिन्होंने प्राकृतिक उपचार का एक केन्द्र चलाया है। वहां पर उपचार के लिए एनिमा पाँट होता है, हाट-वाटर-बैग होते हैं। ऐसे कई साधन होते हैं। एक दफा चर्चा चली थी, प्राकृतिक उपचार के औजारों की और साधनों की। तब मैंने कहा था कि यह जो औजार आप लोग रक्खा करते हैं, वे तो हैं, परन्तु कुदाली भी एक प्राकृतिक उपचार का साधन है, यह समझकर प्राकृतिक उपचार के केन्द्रों में ऐसा आयोजन होना चाहिए कि कुदाली से कुछ खोदकर उपासना की जाय तो आरोग्य की भी बहुत उत्तम साधना होगी। इस तरह जैसे हरेक को पानी

पीने का हक है, वैसे ही काश्त करनेवाले को जमीन मांगने का हक है। हर एक प्यासे को पानी पीने का हक है, वह किसी भी जगह जा सकता है और कह सकता है कि मुझे प्यास लगी है, पानी दीजिये, उसको शर्मिन्दा होने का कारण नहीं है। लेकिन अगर हम किसी कारण से प्यासे को पानी नहीं दे सके, तो हमें शर्मिन्दा होना पड़ता है, पानी मांगने में शर्मिन्दा होने की जरूरत नहीं है। जैसे प्यासे को पानी पीने का हक है, वैसे जमीन पर काश्त करने की जिसकी तैयारी है, उस हर शरूस को जमीन का एक टुकड़ा मांगने का हक है, ऐसा मैं मानता हूँ।

इस तरह की हवा फैल गई है, जिसके लिए लोगों के मन तैयार हो गये हैं। लोक-मानस तैयार हुए बिना आखिर के कदम नहीं उठाये जा सकते। परन्तु हिन्दु-स्तान में तीन साल के प्रयत्न से यह हवा तैयार हो चुकी है। अब इसका किस तरह उपयोग किया जाय, यह सोचने की बात है। सोचा जा सकता है, पर मुझे कहना यह था कि जिस तरह यह हवा जमीन के लिए पैदा हो चुकी है, उसी तरह की हवा सम्पत्ति के लिए पैदा होनी चाहिए और हर एक के पास जितनी सम्पत्ति है, उसका एक हिस्सा, मने तो छठा हिस्सा मांगा है, देकर पांच बटा छह का उपयोग मनुष्य न्यायपूर्वक कर सकता है। इस तरह की भावना अब हमको सारे राष्ट्र में फैलानी चाहिए।

जब यह चीज हम सर्वत्र फैलायेंगे तो आज जैसे देश की सेवा करने का मौका भूमिवानों को ही मिलता है, क्योंकि वे भूमि दे सकते हैं, वैसे कुछ-न-कुछ देने का और देश की सेवा करने का मौका हर एक को मिलेगा। हर कोई खाता है, तो खाने के पहले उसको समाज के लिए थोड़ा कुछ रखना है और फिर खाना है। यह भावना, यह विचार अब हमको फैलाना है, जिसको 'सम्पत्ति-दान-यज्ञ' कहते हैं। इसकी बहुत जरूरत पैदा हुई है, क्योंकि हमें जमीन का बंटवारा करना है और अब तो फौरन करना है। काफी जमीन हमारे हाथ में आ चुकी है। अब उसको बांटना चाहिए और उसके आधार पर जो कुछ ग्राम-कार्य करना है, उसका आरम्भ हमें करना चाहिए। इसके लिए साधन जुटाना बहुत जरूरी है। उस वास्ते भी संपत्ति-दान की आवश्यकता होती रहेगी। यह काम ठीक मौके पर शुरू हो रहा है। मैं चाहता हूँ कि आप सब लोग इसपर जोर दें और हर कोई, चाहे उसके पास अल्प सम्पत्ति हो, या ज्यादा सम्पत्ति हो, कुछ-न-कुछ देकर ही बाकी का उपयोग करें। यह एक धर्म-विचार, यह एक नीति-विचार लोगों में फैलाना चाहिए।

कुरान में स्वर्ग और नरक के साथ एक और भी गति बताई गई है। उसको बरजख कहते हैं। एक तो है दोजख और दूसरा है, जन्नत। बीच में है बरजख। बरजख में जो लोग जाते हैं, उनके चेहरे का आधा हिस्सा रोता हुआ होता है और आधा हिस्सा मुस्कराता हुआ। आधे में खुशी होती है और आधे में दुःख होता है। वह एक बीच की हालत है। वहां से स्वर्ग का भी दर्शन होता है, नरक का भी।

जब वे स्वर्ग की तरफ देखते हैं, तब वे रोते हैं, और जब नरक की तरफ देखते हैं, तब वे खुश होते हैं, क्योंकि बीच की हालत में हैं। दुनिया में जितने भी प्राणी हैं, सारे बरजख में हैं। न कोई दोख में है, न कोई जन्नत में। याने हमसे ज्यादा दुखी कोई-न-कोई है ही। जैसे हमसे अधिक सुखी भी कोई है, वैसे कोई मनुष्य ऐसा नहीं, कोई प्राणी ऐसा नहीं कि जिससे अधिक दुखी दुनिया में कोई नहीं। तो, बीच की हालत में हम हैं। इस वास्ते चाहें जितने दुखी हम हों, हमसे भी दुखी लोग होंगे। उनके वास्ते कुछ-न-कुछ करने की जिम्मेदारी हमपर है, यह धर्म-भावना हमें रूढ़ करनी है। इसको सम्पत्ति-दान-यज्ञ कहते हैं।

इसके साथ-साथ एक और बड़ी वस्तु सुभी है। महात्मा गांधी की कृपा है। उनके स्मरण के लिए हर साल अपने हाथ के कते हुए सूत की एक लच्छी हरकोई दे, ऐसी हमने मांग की है। उसको हमने 'समर्पण' नाम दिया है। वह श्रम-प्रतिष्ठा के लिए है। हर मनुष्य कुछ-न-कुछ उत्पादन-कार्य तो जरूर करे, उसका एक प्रतीक, उसका चिह्न, एक निशान के तौर पर सूत कातना, हम लोगों ने माना, जो कि बहुत ही आसान कार्य है। हम चाहते हैं कि जो भी कात सकते हैं, वे सारे-के-सारे, कम-से-कम एक लच्छी दे। हम इस कार्यक्रम को बहुत ही प्राणवान कार्यक्रम समझते हैं और सर्वोदय-विचार का यह वोट है, ऐसा मने बहुत जगह कहा है। मानी उसके यह है कि जिनका श्रम-प्रतिष्ठा में विश्वास है, अहिंसा के तरीके में विश्वास है, आतृभाव में, भाई-चारे में विश्वास है, वे अपनी मान्यता के दर्शन के लिए एक लच्छी अपने हाथ की दें, समर्पण करें। वोटों की लिस्ट बनाई गई और कहते हैं, लगभग अठारह करोड़ वोटर बन गये हैं। पर इसमें तो हमने उम्र की भी कोई क़द नहीं रखी है। इस वास्ते उससे भी ज्यादा लोगों से हमको सूत मिल सकता है और हमको उम्मीद है कि यह काम हम फैला सकेंगे। हमको इसे फैलाना चाहिए। मैं यहां तक जाऊंगा कि इसमें यह भी जिम्मेदारी हमपर आयेगी कि हिन्दुस्तान में कोई ऐसा शरू न रहे जो कि सूत कातना ही न जानता हो। जहां तक हिन्दुस्तान का ताल्लुक है, तालीम का यह एक अनिवार्य अंग में मानता हूं।

इंग्लैंड के लोगों की तालीम में उन लोगों ने तैरना और बोटिंग अनिवार्य-सा माना है। हर एक बच्चे को ये चीजें आनी ही चाहिए, उसके बिना तालीम पूरी नहीं होती। यह उन्होंने क्यों माना? इस वास्ते माना है कि उनका देश समुद्र-परिवेष्टित है। उन्होंने सहज ही पहचान लिया कि अपने देश के हर एक ग्रामीण को, बच्चे-बूढ़े सबको, और बहनों तथा भाइयों को तैरना जरूर आना चाहिए। ये चीजें जो नहीं कर सकता, वह अपने देश की रक्षा के काम में कामयाब नहीं हो सकता। जिस तरह उन्होंने यह समझकर अपनी तालीम में इन चीजों को स्थान दिया है, साक्षरता के साथ-साथ इन चीजों की आवश्यकता मानते हैं, वैसे ही हमको भी हमारी तालीम में, देशभर की सब तालीम में, देश के लिए कातना अनिवार्य

समझना चाहिए। जो जरूरत तैरने की कला की और बोटिंग की कला की इंगलैंड की जनता के लिए है, हम अगर जरा बारीकी से सोचें तो हिन्दुस्तान के लिए वही जरूरत कातने की है, ऐसा गांधीजी ने हमें सिखाया। और मैंने उनका यह विचार बहुत दलील के बाद ग्रहण किया। बहुत दिनों तक बहस चली, बरसों तक। मैं यद्यपि कातता तो था, लेकिन इस विचार को मानता नहीं था। लेकिन जब मुझे इसका पूरा यकीन हो गया, तभी मैं समझ गया कि हिन्दुस्तान के किसान की आज जो हालत है, उस हालत में अनएम्प्लायमेंट का सवाल इतना बड़ा नहीं है, जितना कि 'ग्रैंडरएम्प्लायमेंट' का है। खेती के साथ-साथ किसान के हाथ में ऐसा उद्योग होना चाहिए, जो कि चन्द मिनट करना है तो कर लिया और छोड़ना है तो फौरन छोड़कर खेत में चले गये। इस तरह का उद्योग उसके घर में होना ही चाहिए। उसके वगैर हिन्दुस्तान का किसान नहीं बचेगा और हिन्दुस्तान की रक्षा भी नहीं हो सकेगी।

यों बहुत ही बारीक दर्शन उनका था। वे बहुत दूरदर्शी थे। बहुत उनका स्मरण होता है। वे क्रांतदर्शी थे। हमारे ऋषियों ने यह शब्द निकाला—'कविः क्रांत-दर्शी।' कवि कौन है? तो कहा कि जो क्रांतदर्शी है, वह कवि है, याने परले पार जो देखता है। इधर के देखनेवाले तो सभी हैं, लेकिन परले पार, परदे को भेद करके जो देख सकता है, वह क्रांतदर्शी कहलाता है। वे ऐसे क्रांतदर्शी थे और हमारे देश का दर्शन उनको बहुत ही सूक्ष्म था। यह वस्तु उन्होंने सिखाई और हमको लगता है कि सारे हिन्दुस्तान की तालीम में इसको स्थान देना होगा, अपनी सरकार के सामने यह मेरी मांग है। यह मांग मैंने पिछले साल पंडितजी के सामने रखी थी। इस साल मैं उसको दुहरा रहा हूं और दृढ़ता के साथ दुहरा रहा हूं, क्योंकि इसमें हिन्दुस्तान की रक्षा का मैं यह सवाल मानता हूं। तो यह काम हमको करना है कि हरएक से एक लच्छी हमें प्राप्त हो। जो कातना नहीं जानता, उसको सिखाना भी है। यह हमारा एक कार्यक्रम है।

थोड़े में एक बात और कहूंगा कि देश में जो कुछ कार्य हो रहे हैं, उन कार्यों में कोई तर-तम-भाव होना चाहिए, याने किस काम को हम प्रथम स्थान दें, किस काम को दूसरा स्थान दें। मैं मानता हूं कि हिन्दुस्तान की जमीन का मसला कहिये, चाहे भूमिदान का मसला कहिये, जो भी नाम दीजिये, वह मसला उचित ढंग से हल किये वगैर हिन्दुस्तान की जनता को स्वराज्य के सुख का भान नहीं हो सकता और इस कार्य की अत्यन्त तीव्रता है। हम समझते हैं कि देश की यह प्रथम समस्या है।

मैं चाहूंगा कि इन बातों और दूसरे और भी सवाल, जो देश के हित के हैं और जिनके बारे में हमें सोचना चाहिए, पर हमारे प्रिय नेता और मित्र, जवाहरलालजी, जो यहां उपस्थित हैं, कुछ-न-कुछ प्रकाश डालें। उनका मार्ग-

दर्शन हम चाहते हैं। हम बहुत ही नम्र हैं। हम कोई चीज हैं नहीं, यह हम जानते हैं; लेकिन किसी कारणवश बापू के पास पहुंच गये और उनके हाथ में कोई ऐसी कीमिया थी कि वे मिट्टी से चेतन बना लेते थे, जंगलियों को सभ्य बनाते थे, मुर्दों में चेतना डालते थे और छोटों को बड़ा बनाते थे, ऐसी कोई शक्ति उनमें भगवान ने पैदा की थी। उसके कारण हम नाचीज भी कुछ-न-कुछ काम कर पाते हैं। परन्तु इतना समझने की अक्ल हममें है कि वास्तव में हम कोई चीज नहीं हैं, बुद्धि भी हममें कम है। श्रद्धा कुछ भगवान ने जरूर दी है, परन्तु हम सबकी सलाह चाहते हैं और सबके मार्ग-दर्शन की अपेक्षा रखते हैं और खास करके जिन सज्जनों ने देश का नेतृत्व बड़े संकट-काल में भी संभाला है और गांधीजी की राह पर चलने की जो जी-जान से कोशिश कर रहे हैं, ऐसों से मार्ग-दर्शन बहुत नम्रता से हम चाहते हैं।

छठा सर्वोदय-सम्मेलन

बोध गया, १८ अप्रैल १९५४

## ६ : : सत्याग्रह का विधायक स्वरूप

हम रोज देखते हैं कि पक्षी अपनी जीविका के शोध के लिए आसमान में इतस्ततः घूमते हैं, दौड़ते हैं, उड़ते हैं और आक्लांत होकर विश्राम के लिए घोंसले में वापस आ जाते हैं। वेद कहता है कि इसी तरह सारे जीव संसार में विविध कर्मों को करते हुए, अनेक प्रयोगों का संपादन करते हुए, कर्म-फल का भी उपभोग करते हुए थक जाते हैं और फिर कुछ विश्रान्ति के लिए, कुछ शांति के लिए, नये उत्साह की प्राप्ति के लिए और कुछ आत्म-परीक्षण के लिए भी एक स्थान में आ जाते हैं। 'यत्र विश्वं भवति एक-नीडम्,' एक ऐसा स्थान होता है।

गांधीजी के प्रयाण के बाद अहिंसा के विचार को माननेवाले, उस आकाश में संचार करनेवाले, पक्षियों के लिए सर्वोदय-समाज एक विश्राम-स्थान होगया है। ऐसा स्थान नहीं होता, सालभर में एक दफा हम जो एकत्र होते हैं, वैसी योजना अगर नहीं होती, तो यथा-शक्ति हम संचार जरूर करते, आसमान में, लेकिन जाने-अनजाने हमारी शक्तियां एक-दूसरे से टकरातीं और अहिंसा का नाम जपते हुए भी हम हिंसा-मार्ग में खिंच जाते। यह सब संभव था। इसलिए यह हमारा सौभाग्य है कि एक घोंसला हमको मिल गया। हम सालभर में एक दफा आते हैं और कुछ चिंतन करते हैं। प्रकट चिंतन, एक दूसरे से सलाह-मशविरा करते हैं,

और जैसाकि शंकररावजी ने कहा 'सत्संग'। ऐसे स्थान में जो कुछ बोलना होता है, जो कुछ चर्चा करनी होती है, वह बिल्कुल मुक्त मन से करनी होती है। उसमें कोई छिपाव नहीं होना चाहिए, दुराव नहीं होना चाहिए। उसमें आवेग की कोई जरूरत नहीं है, परंतु जो परस्पर-विरोधी विचारधाराएं भी हमारी बनी हों, वे सब हम यहां रख सकते हैं। जिस प्रकार कोई नदी पूर्व दिशा में जा रही है, तो कोई पश्चिम दिशा में जाती है, पर परस्पर विरुद्ध दिशा में जाती हुई भी आखिर वे समुद्र में एकरूप होती हैं। उसी तरह भिन्न-भिन्न विचारधाराएं और कभी-कभी परस्पर-विरोधी विचारधाराएं भी, जो परस्पर विरुद्ध दिशा में बहनेवाली हो जाती हैं, सारी चर्चा में लीन हो सकती हैं, लीन होनी चाहिए। इसलिए अभी जो विचार में आपके सामने प्रकट करूंगा, उन विचारों के लिए मेरी व्यक्तिगत कितनी भी निष्ठा हो, मेरा आग्रह नहीं है। विमर्श के लिए, सोचने के लिए जैसी बातें सूझती हैं, जो आभास होते हैं, वे हम आपके सामने रखेंगे। खैर, इतना तो कार्य सर्वोदय-समाज में होना ही चाहिए। पर उसके अलावा कुछ काम की बातें, जिस कार्य में हम लगे हैं, उसके सिलसिले में भी कुछ विचार रखेंगे।

हममें से बहुत लोग मानते हैं कि समाज के विकास में ऐसा एक मुकाम आ जाना चाहिए, जबकि दंड के आधार पर शासन चलाने की जरूरत नहीं रहेगी। उस तरह का शासन, दंडाधार शासन नहीं रहेगा। इस अंतिम ध्येय को साम्यवादी भी मानते हैं, परंतु उनका विश्वास है कि उस ध्येय की प्राप्ति के लिए इस समय अधिक-से-अधिक मजबूत केन्द्र सत्ता होनी चाहिए और उसके आधार पर, दूसरी सारी स्थायी सत्ताएं हम खंडित कर सकेंगे। उसके बाद जिस प्रकार काष्ठ को खत्म करके ऊर्ध्वलत अग्नि खुद भी खत्म हो जाती है, वैसे ही यह केंद्रित सत्ता लोगों की तरफ से जो प्रकट हुई, तो दूसरी सारी वैसी ही सत्ताओं को हिंसा से—अगर जरूरत पड़ी तो—नष्ट करेगी और फिर स्वयमेव शांत हो जायगी। उसकी शांति के लिए और कुछ नहीं करना पड़ेगा। यही करना पड़ेगा कि उसके खिलाफ जितनी शक्तियां हैं, उन सबका खात्मा किया जाय। जब यह कार्य हो जायगा, तब उसके लिए अवकाश नहीं रहेगा और वह शक्ति स्वयं शांत हो जायगी। यह बिल्कुल थोड़े में एक विचार मने यहां रखा। उसका एक खासा अच्छा शास्त्र भी बनाया है। उसका भी चिंतन-मनन हमको करना चाहिए।

इसके अलावा कुछ बीच के लोग हैं, जो मानते हैं कि शासन हर हालत में कुछ-न-कुछ रहेगा। शासन याने दण्ड-युक्त शासन। दंड की आवश्यकता समाज में कायम है, क्योंकि सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, सभी जो चलते हैं। कोई एक अवस्था ऐसी नहीं आती कि जहां रजोगुण, तमोगुण का लोप ही हो जाय। इस वास्ते हर हालत में दंड की आवश्यकता रहेगी, वह कम-बेशी भले हो—दंड का स्वरूप भी कुछ शांत हो, वह दूसरी बात है, परंतु दंड की आवश्यकता रहेगी, ऐसे

माननेवाले भी कुछ लोग हैं। इस तरह के भिन्न-भिन्न विचार उस अंतिम लक्ष्य के विषय में होते हैं। परंतु लोग यह जानते हैं और समझते हैं कि आज की परिस्थिति में दंड-युक्त सत्ताएं हैं और वे अभी रहेंगी। हिंसक समाज-रचना में तो और आगे भी दंड-शक्ति कायम रहेगी। उसका आधार भी उस समाज पर रहेगा, परंतु अहिंसक समाज में भी आज की सूरत में दंड-शक्ति रहेगी, ऐसा हमको मानना पड़ता है। परिस्थिति देखते हुए, दंड-शक्ति का एक स्थान है, यह मानना पड़ेगा। परंतु अहिंसक समाज का यह लक्षण रहेगा कि उस समाज में सबसे बड़ी संस्था सेवा ही रहेगी। उसमें दंड और सत्ता का स्थान होगा, उसके लिए अवकाश रहेगा, परंतु वह बहुत गौण रहेगा। सबसे बड़ा स्थान सेवा का होगा, सबसे बड़ी संस्था सेवा-संस्था होगी। इस दृष्टि से कभी-कभी हम अपने मन में सोचते हैं तो हमें लगता है कि इस देश की अहिंसक रचना के लिए क्या सबसे अधिक बाधा देनेवाली वस्तु आज की कांग्रेस नहीं होगी। यह संस्था देश की सबसे बड़ी संस्था है और आज की हालत में वह चुनाव-प्रधान है, याने उसका मुख्य ध्यान चुनाव पर रहता है। चुनाव के जरिये सत्ता, सत्ता के जरिये सेवा, यह उसका सिलसिला है।

जिस देश की सबसे बड़ी संस्था चुनाव-प्रधान हो, उस देश में अहिंसा की प्रगति के लिए एक बाधक यंत्र खड़ा हुआ है, ऐसा आभास होता है। इसका उपाय भी हमारे राष्ट्रपिता बतला गये हैं। वह द्रष्टा थे। दृष्टा और उपद्रष्टा भी। दूर और समीप, दोनों प्रकार का उन्हें दर्शन था।

उन्होंने यह सोचा था कि हमारी सबसे बड़ी जमात कांग्रेस, जिसने इस देश के सिर पर जो एक बड़ा बोझ था, जो इसे दबा रहा था, उसको हटाया, वह संस्था उतना कार्य समाप्त होने पर लोक-सेवक-संघ बन जाय। हम सोचते हैं कि उनमें कितनी कुशल-बुद्धि थी। अगर वह चीज बनती तो देश की सबसे बड़ी संस्था सेवक संस्था है, ऐसा होता। अब जब वह हालत नहीं है, तो सोचा जाता है कि सेवा के लिए एक भारत-सेवक-समाज बनाया जाय। भारत-सेवक-समाज सेवा करेगा, लेकिन जिस परिस्थिति में सबसे बड़ी शक्ति सत्ताभिमुख है, चुनाव-प्रधान है, उस परिस्थिति में भारत-सेवक-समाज को बहुत ज्यादा बल नहीं मिल सकता। वह गौण ही रहेगी। सेवा करनेवाली गौण संस्थाएं हिंसक समाज में भी होती हैं, क्योंकि चाहे समाज हिंसाश्रित हो, चाहे अहिंसाश्रित हो, जहां समाज का नाम लिया जाता है, वहां सेवा की जरूरत प्रत्यक्षतः होती है। इस वास्ते उस समाज में भी सेवाएं चलती हैं, सेवा करनेवाली संस्थाएं होती हैं। लेकिन अहिंसक समाज में सबसे बड़ी संस्था वह होनी चाहिए, जो सेवामय हो। सेवा-प्रधान कहने से भी मेरा समाधान नहीं हुआ, इसलिए मैंने जो 'सेवामय हो', ऐसा कहा।

दूसरी बात, लोक-सेवक-संघ की जो कल्पना थी, उसमें सत्ता पर सत्ता चलाने की बात थी। एक सत्ता रहती, जो कि राज्य-शासन करती, आज की आवश्यकता

के मुताबिक करती, जिसके हाथ में दंड होता और उसके हाथ में दंड देकर बाकी का सारा दंडरहित बनता, पर वह भी दंड-सत्ता हाथ में रखनेवाली संस्था होती। उस पर भी उससे अलपत रहनेवाले समाज की सत्ता रहती, याने सेवा सार्वभौम होती और सत्ता सेविका बनती, सत्ता का नियंत्रण करने की शक्ति उस समाज में रहती। लोग उसका आशीर्वाद प्राप्त करके ही चुनाव में खड़े होते और सेवा देखकर सज्जनों का चुनाव समाज करता। इस तरह से सारी बात बनती। लेकिन कई कारणों से वह चीज नहीं हुई और कांग्रेस इलेक्शनियरिंग बॉडी (चुनाव करनेवाली संस्था) प्रधानतः रही। परिणाम यह है कि जैसे मैंने विनोद में कहा था, हमारे देश की मुख्य संस्था इस प्रकार की होने के कारण सारे समाज में भूत, भविष्य और वर्तमान, ये जो तीनों काल हैं, उन तीनों कालों का परिवर्तन, इलेक्शन-पीरियड, प्री-इलेक्शन-पीरियड और पोस्ट-इलेक्शन-पीरियड में होता है, याने कुल कालात्मा समाप्त हो गई इन तीनों कालों में। जिन कारणों से यह किया गया, उन कारणों की चर्चा मैं नहीं करना चाहता। नेताओं ने जिस ढंग से सोचा, उस ढंग के लिए कोई आधार ही नहीं था, ऐसा मैं नहीं कहता। हमें लगा कि जो बलशाली संस्था बन चुकी है, वह अगर चुनाव के क्षेत्र में बनी रहती है, तो शायद नवीन राज्य के लिए सुरक्षितता होगी, क्योंकि भिन्न-भिन्न पक्षों को जोड़कर, एक राज्य समाप्ति के बाद, फौरन उस राज्य पर कब्जा करने के लिए दूसरे भी तैयार हो सकते हैं। इतिहास में देखा गया है कि ऐसा कभी-कभी होता है। इस वास्ते उसके प्रतिकार के लिए योग्य समझकर उस समय वैसा किया होगा। उसका कुछ समर्थन भी किया जा सकता है। उसकी परीक्षा मैं नहीं करना चाहता, परंतु यह एक घटना ऐसी है कि जिसके कारण हमारे देश में पचासों उलझनें अहिंसा के मार्ग में खड़ी हुई हैं। यह हमको समझ लेना चाहिए।

इसलिए हम पर एक नई संस्था बनाने की जिम्मेदारी आती है। गांधीजी के बाद जो नहीं आनी चाहिए थी, वह आती है। तो एक ऐसी संस्था इस देश में हम बनायें, जो सेवामय हो और जो सबसे बड़ी हो। एक संस्था, जो पचास-साठ साल से बन चुकी, जिसमें हम सब लोगों ने भक्तिपूर्वक योग दिया, जिसने एक ऐसा भारी कार्य किया, जो इतिहास में अंकित रहेगा, उस संस्था को नगण्य समझकर कोई आगे बढ़े, यह असंभव है। पर यह जिम्मेदारी नाहक छोटे-छोटे सेवकों पर डाली गई है। जिनके कंधों में उतना जोर नहीं, और जिनके दिमागों में भी शायद बहुत ज्यादा बल नहीं, और एक महान् नेता को खोकर जो कुछ अस्त-व्यस्त भी हो सकते थे, ऐसों पर एक जिम्मेदारी डाली गई कि वे स्वतंत्र रूप से एक संस्था बनायें। हम छोटे हैं, सेवा की छोटी संस्थाएं हम मजे में बना सकते हैं, चाहे कांग्रेस या महा-कांग्रेस उसके विरुद्ध क्यों न खड़ी हो! अंग्रेज-सरकार के रहते हुए भी हमने सेवा की छोटी-छोटी संस्थाएं बनाई हैं, यह सरकार तो हर हालत में हमारे लिए पोषक

ही है, मददगार है और कांग्रेस भी हर हालत में हमारी सेवा का गौरव करेगी। इस नाते छोटी-छोटी सेवा-संस्थाएं बनाना हमारे लिए कठिन नहीं था। परंतु हम पर यह जिम्मेदारी डाली गई कि हम लोग सेवा की संस्था न बनायें, पर ऐसी संस्था बनायें जो सेवा भी करे और सेवा के जरिये राज्य-तंत्र पर सत्ता चलाने की शक्ति हासिल करे। बड़ी भारी जिम्मेदारी हमपर डाली गई है। परमेश्वर सहायता करेगा तो उस जिम्मेदारी को भी छोटे, निकम्मे औजारों के जरिये वह सफल बना-यगा। वह उसकी मर्जी की बात है, लेकिन काम दुश्वार है।

इस हालत में, हमारे जो मित्र इधर-उधर भिन्न-भिन्न संस्थाओं में, राजनैतिक संस्थाओं में हैं, उनपर जिम्मेदारी आती है कि वे हम लोगों पर कृपा करके थोड़ी मदद दें। मदद वे यह दें कि जहां वे बैठे हैं, वहां सेवा किस तरह ऊपर उठे, उसके बारे में वे प्रयत्न करें, चाहे वे प्रजा-समाजवादी दल में हों, या कांग्रेस में हों। वहां वे इस बात के लिए पूरी कोशिश करें कि चुनाव का जो सारा जंजाल है, उससे अलग रहनेवाली संस्था खड़ी हो। एक संस्था के अन्दर अनेक ग्रुप पैदा होते हैं, यह बड़ी खतरनाक बात मानी जाती है राजनीति में। मैं यह बात नहीं सुझा रहा हूं कि ये जो संस्थाएं राजनैतिक क्षेत्र में काम करती हैं, वे अपने अन्दर कुछ दूसरे-तीसरे ग्रुप बनायें। मैं नहीं चाहता कि इनमें से किसी की भी ताकत टूटे, जिसे वे ताकत समझते हैं। जब वे ही महसूस करेंगे कि जिसको हम ताकत समझते थे, वह ताकत नहीं थी, तब तो वे खुद उसका परित्याग करेंगे। उस हालत में उनको सच्ची ताकत हासिल होगी। परन्तु हम सुझाते यह हैं कि हमारे जो भाई भिन्न-भिन्न संस्थाओं में हैं, वे यह कोशिश करें कि जिसको वे अहिंसात्मक, रचनात्मक कार्य समझते हैं, वे उन संस्थाओं में प्रधान कार्य हो जायें और दूसरी बातें गौण हो जायें। चुनाव को कितना भी महत्व क्यों न दिया जाय, वह ऐसी चीज नहीं है कि उससे समाज के उत्थान में कुछ मदद पहुंचे। वह 'डेमोक्रेसी' में खड़ा किया हुआ एक यंत्र है, एक 'फारमल डेमोक्रेसी' (औपचारिक लोकसत्ता) आई है। वह मांग करती है कि राज्य-कार्य में हर मनुष्य का हिस्सा होना चाहिए। इस वास्ते हर एक की राय पूछनी चाहिए। यह तो हर कोई जानता है कि ऐसी कोई समानता परमेश्वर ने पैदा नहीं की है कि जिसके आधार पर एक मनुष्य के लिए जितना एक वोट है, उतना ही वह दूसरे मनुष्य के लिए भी हो। ऐसी कोई योजना ईश्वर ने नहीं की। लेकिन यह स्पष्ट है कि पण्डित नेहरू को एक वोट है, तो उनके चपरासी को भी एक ही वोट है। इसमें क्या अक्ल की बात है, हम नहीं जानते। मैं ऐसे किसी शख्स को नहीं जानता जो वह अक्ल की बात मुझे समझायेगा। परन्तु जब मैं इसका समर्थन करता हूं, तब मुझे बड़ा ही आनन्द होता है। वह समर्थन यह है कि इसमें मेरे वेदान्त का प्रचार होता है, इसमें आत्मा की समानता मानी गई है। बुद्धि अलग-अलग है; कम-बेशी है, शरीर-शक्ति कम-बेशी है, और शक्तियां हर एक की अलग-अलग होती हैं।

फिर भी हम हरएक को जो एक-एक वोट देते हैं, उसका इसी विचार से समर्थन होता कि इसके माननेवाले लोग वेदान्त को मानते हैं। बहुत अच्छी बात है और उसी आधार पर हम उसका समर्थन करते हैं और हमको बहुत अच्छा लगता है कि एक आधार हमको मिल गया, जिसके जरिये हम साम्ययोगी समाज की स्थापना कर सकते हैं। यह हमको बड़ा अच्छा आधार मिला है।

परन्तु सोचने की बात है कि जहांतक व्यवहार का सवाल है, भर्ती की गिनती करके एक राज्य चलाने के काम का, मतों की उस गिनती का, बहुत ज्यादा महत्त्व नहीं हो सकता। ऐसा महत्त्व उसका नहीं है जिससे समाज में परिवर्तन हो जाय। समाज में आज लोग क्या चाहते हैं, इसे जान लेने से, आगे क्या परिवर्तन हमको करना है, उसकी दिशा सोचने में शायद उससे मदद हो सकती है। परन्तु लोग आज क्या चाहते हैं, इतना जानने पर भी समाज के परिवर्तन की प्रक्रिया में कोई मदद पहुंचती हो, सो बात नहीं। इसलिए चुनाव को कितना भी महत्त्व प्राप्त हो, व्यावहारिक क्षेत्र में तो मूल्य-परिवर्तन का जहांतक सवाल है, वहां वह गौण वस्तु हो जाती है। इतना समझकर हमारे जो लोग वहां हैं, वे वहां रचनात्मक कार्य के लिए बहुत जोर दें और अगर उनको यह महसूस हो कि 'नहीं', वहां एक ऐसा मामला है कि जो हमारे सारे प्रयास को शून्य बनाता है, विफल बनाता है', तो फिर उनको वहां से निकल आना चाहिए। ऐसा अगर वे करते हैं तो हमारे जैसे लोग, कम शक्ति के लोग, जो बड़ा भारी जिम्मा उठाने के लिए मजबूर किये गए हैं, उनको कुछ मदद मिलेगी।

दूसरी सोचने की बात यह है कि गांधीजी ने हर बात में अहिंसा का नाम लिया, तो हम लोगों के सिर पर अहिंसा का वरदहस्त ही है। पर हम लोगों में से कुछ लोग सरकार में गये हैं और कुछ बाहर हैं, इसलिए इन दिनों अहिंसा का अर्थ, सरकारी अर्थ, अक्सर यह हुआ है कि अहिंसा याने समाज को कम-से-कम तकलीफ देना। पीड़ा पैदा न हो, अभी की हमारी जो व्यवस्था है, उसमें बहुत बाधा न पड़े, इसका नाम-अहिंसा है। अब बोला जाता है कि समाज का सोशललिस्टिक पैटर्न बनाना है, तो उसके साथ कहते हैं कि हमारा ढंग अहिंसा का रहेगा। जब ये दो शब्द में एक साथ सुनता हूं कि समाजवादी रचना करनी है और रंग अहिंसा का रहेगा, तो मेरे मन में दोनों को मिलाकर सिवा सत्याग्रह के, सिवा सर्वोदय के, दोनों का कोई अर्थ नहीं निकलता। परन्तु कई लोग उसका इतना ही अर्थ समझते हैं कि हमको जो परिवर्तन लाना है, समाजवादी रचना के लिए जो करना पड़ेगा, वह बिल्कुल अहिंस्ता-अहिंस्ता करना होगा। हाथ में कोई जख्म है, फोड़ा है, तो उसको तकलीफ न हो, इस तरह से जैसे उस हाथ का उपयोग किया जा सकता है, वैसे बहुत नाजुक तरीके से, समाज-रचना में तकलीफ न हो, बहुत ज्यादा एकदम से फरक न हो, ऐसे ढंग से काम करने को आजकल अक्सर अहिंसा समझते हैं।

याने वह एक निरुपद्रवी वस्तु होनी है। 'न जान हारदेन, न विद्विषादरः' ऐसी स्थिति कि जिसमें हम बहुत ज्यादा आगे नहीं बढ़ते हैं, अगर आज की हालत भी करीब-करीब बनी-सी रहती है, और समाधान भी होता है, क्योंकि हमने एक आदर्श समाने रखा है और उसका कुछ-न-कुछ जप भी करते हैं, कुछ बोलते भी हैं। इस वास्ते जो कुछ किया जायगा, उसमें उसका थोड़ा स्वाद आ ही जायेगा और धीरे-धीरे वह बात बनेगी। मुझे लगता है कि अहिंसा की यह व्याख्या अहिंसा के लिए बड़ी खतरनाक है, और हिंसा के लिए बड़ी उपयोगी है। बुद्ध भगवान ने यह बात हमको स्पष्ट समझाई। उन्होंने कहा, "मंद पुण्यं क्रुवत पापे हि रमते मनः" अगर हम पुण्य आचरण आलसी होकर आहिंस्ता-आहिंस्ता करते हैं तो पाप त्वरित गति से बढ़ता है।

अगर अहिंसा के इस अर्थ को मानें तो हिंसा बहुत जोरों से बढ़ेगी। जहां आप कहेंगे शराबबंदी को, 'गो-स्लो' वहां शराबखोरी जोर से बढ़ती है। दुर्जनता जोरदार होती है, इस वास्ते 'गो-स्लो' बाली जो बात है, वह कृपा करके अहिंसा के लिए लागू मत कीजिये। वह हिंसा के लिए लागू कीजिये। वहां 'गो-स्लो' बहुत अच्छा है। परन्तु अहिंसा में तीव्र संवेग होना चाहिए। शास्त्र-वाक्य में 'तीव्र संवेग नाम आसन्न'। अगर आप अच्छाई को जल्दी-से-जल्दी नजदीक लाना चाहते हैं, तो उसमें तीव्र संवेग होना चाहिए। अगर अहिंसा का अर्थ इतना मुदु, नरम, निर्वीर्य किया जाय, तो उससे विरोधी शक्तियां, हिंसक शक्तियां, हमारे न चाहते बढ़ेंगी, इस बात का ज्ञान सारे गांधीजी के अनुयायियों को हो, यह हमारी भगवान से प्रार्थना है।

राजाजी ने दो-तीनमर्तबा एक महान विचार दुनिया के सामने रखा। उसे रखने के लिए वह ही समर्थ थे, क्योंकि वह तत्वज्ञानी हैं और तत्वज्ञानी होते हुए भी राज्य-कार्य-कुशल हैं। जिस पुरुष में तत्वज्ञान और राज्य-कार्य-कुशलता, इन दोनों का संयोग होता है और इसके अलावा जो शब्द-शक्ति के भी ज्ञाता हैं, शब्द का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए, इस विषय में भी जो प्रवीण हैं, ऐसी त्रिविध शक्तियां जहां एकत्र होती हैं, वही शस्त्र ऐसा कहने के लिए अधिकारी है। उन्होंने कहा, 'यूनिटेटरल एक्शन' याने एकपक्षीय सज्जनता प्रकट होनी चाहिए। सामनेवाले से बातचीत करके कि तू जितना सज्जन होगा, मैं भी उतना ही सज्जन होऊंगा, इस तरह सज्जनता नहीं बढ़ती है। सज्जनता तो स्वयमेव बढ़ती है, अपना ही विचार करके। इसलिए उन्होंने अमरीका को यह रास्ता सुझाया। अब अमरीका के लिए बड़ी मुश्किल बात होगई। अमरीका के कुल विद्वान लोगों ने, खास लोगों की बात मैं नहीं करता, वे सब लोग ही विद्वान हैं, क्योंकि हिन्दुस्तान में जितना कामज खपता है, उससे १६० गुना कागज प्रति व्यक्ति अमरीका में खपता है, एक मनुष्य को, जो मिलिटरी कार्य में प्रवीण है, सारी सत्ता सौंप दी है और कहा है कि फारमोसा

के बारे में जो करना है, वह करने का पूरा अधिकार आपको दिया है, और आपके हाथ में जो ब्रह्मास्त्र और परमाणु अस्त्र हैं, उनका भी उपयोग अगर जरूरी हो तो आप कर सकते हैं। अब इस तरह से सारे विद्वानों का जिसपर इतना विश्वास है, वह शस्त्र अगर राजाजी की बात माने, तो उसके लिए बड़ी मुसीबत की बात है। वह क्या करे? उसको मेन्डेट है सारी जनता का कि वह उस अक्ल को चलाये, जिसके लिए उसको चुना गया है। अगर वह अक्ल जेब में रखकर राजाजी की अक्ल कबूल करे तो कितना विश्वासघात होगा प्रजा के साथ? वह प्रजा कहेगी कि “अरे, क्या तुम्हें यह समझ करके चुना था कि तू अपना सारा दिमाग राजाजी को अर्पण करेगा। तुम्हें हमने इस वास्ते चुना था कि तू पिछले युद्ध में बहादुर साबित हुआ था और तूने हमको बचाया। तुम्हें अपना मददगार समझकर हमने सारी दण्ड-शक्ति तेरे हाथ में सौंपी और तू भलामानुस ऐसे तत्वज्ञानी की बात सुनता है।”

लेकिन हम अपने मन में सोचते हैं कि दूसरे देशों को इस तरह की सलाह देने के लायक हम हैं क्या? मैंने कहा कि राजाजी में त्रिविध शक्ति एकत्र हुई है, इस वास्ते इस प्रकार का उद्गार प्रकट करने के वह सब प्रकार से अधिकारी हैं, सारी दुनिया को वह बुद्धि दे सकते हैं और दुनिया नहीं मानती है, तो दुनिया का ही वह दुर्दैव है। लेकिन जिस देश के वह गिने जायेंगे, क्या वह भी उन्हें इतना बल देता है? क्या हमारे देश में हमारी ऐसी भूमिका है कि पाकिस्तान की कुछ भी हालत हो, हम समझें कि वह हमारा बैरी नहीं है? मैं जरा दूसरी भाषा में बोल रहा हूँ। अमरीका को लगता है कि उसकी तुलना तो रूस के साथ करनी है। तो जैसे उसके सामने रशिया है, वैसे हमारे यहां के लोगों के सामने पाकिस्तान है। इसलिए उस हालत में हम लोगों को क्या लगता है कि पाकिस्तान अपनी सेना बढ़ा रहा है तो हम अपनी सेना घटायें, उधर खूब अंधकार बढ़ रहा है, इसलिए क्या यह जरूरी नहीं है कि एक सादी-सी लालटेन से अब काम नहीं चलेगा। तो अब जरा अहिंसा की जरूरत है और इस वास्ते हम अपनी सेना छोड़ दें? पाकिस्तान ने जो काम किया है, अमरीका की जो मदद उसने मांगी है, उसपर से हमको यह विचार सूझा कि क्योंकि हमारे पड़ोसी इतने भयभीत हो गये हैं, इसलिए ऐसी हालत में सारी दुनिया को, खास करके अपने पड़ोसी को, हमें निर्भय बना देना चाहिए। हम यह प्रस्ताव करते हैं कि अभी तक तो हम सेना पर साठ करोड़ रुपये खर्च करते थे, अब अगले साल दस करोड़ ही खर्च करेंगे। क्या ऐसा करने की शक्ति हम रखते हैं? नहीं रखते, तो यह शक्ति कब आयगी? यह शक्ति आनी भी चाहिए या नहीं आनी चाहिए? अगर आनी चाहिए तो फिर शीघ्र आनी चाहिए। देरी इस काम में नहीं चलेगी। अपने देश को शीघ्र ही अहिंसा में अग्रसर होना होगा। इस वास्ते जो लोग अहिंसा की ऐसी व्याख्या करते हैं कि जो धीरे-धीरे चलेगी, उसका

नाम अहिंसा हो, तो यह व्याख्या बड़ी खतरनाक है।

इस बारे में जरा सोचा जाय, क्योंकि इससे अहिंसा 'स्टेटस को' का बचाव करनेवाली बनती है। थोड़ी-थोड़ी प्रगति तो होने ही वाली है, चाहे आप करें या न करें। यह तो विज्ञान का युग है। ढकेलकर ही यहां प्रगति होती है और वही हमको प्रगति की तरफ ढकेलेगा। इस वास्ते अहिंसा की व्याख्या आज खतरे में पड़ी है। यह हमारे देश के लिए सोचने का विषय है।

तीसरी बात यह है कि इस देश में सत्याग्रह शब्द से बहुतों को डर लगता है। यह हमारे लिए चिंता का विषय है, क्योंकि जो मंत्र हमने सीखा, जिसे हम नया मंत्र कहते हैं, और जो दुनिया के लिए तारक-मंत्र होगा, ऐसा भी हम कहते हैं, और यह भी हम कहते हैं कि सारे मानव के इतिहास में अभी तक जो अनुभव आया, उस अनुभव के परिणामस्वरूप सामूहिक सत्याग्रह का जो एक मंत्र मिला, उससे अहिंसा बलवती होगी। लेकिन इन दिनों तो सत्याग्रह शब्द से डर लगता है और लोग यहां तक कहते हैं कि 'डेमोक्रेसी' में, लोकसत्ता में, सत्याग्रह के लिए स्थान नहीं। पर सत्याग्रह के लिए तो उस सत्ता में स्थान नहीं होगा, जिस सत्ता में हर निर्णय 'यूनानिमस' एक राय से ही हो। सबकी सम्मति से निर्णय हो, ऐसी जहां समाज-रचना होगी, वहां स्वतन्त्र सामूहिक सत्याग्रह की जरूरत नहीं होगी। उस समाज में पुत्र के खिलाफ मां का सत्याग्रह होगा और पुत्र का मां के खिलाफ सत्याग्रह हो सकता है। एक पड़ोसी के खिलाफ दूसरे पड़ोसी का सत्याग्रह होगा। खिलाफ का अर्थ हिंसा के अर्थ में खिलाफ नहीं, मददगार है। उसके शोधन के लिए जो किया जायगा, प्रेमपूर्वक और त्याग से जो किया जायगा, उस अर्थ को प्रकट करने के लिए अब भी खिलाफ शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। तो पड़ोसी पर विशेष प्रकार से प्यार प्रकट करने के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह पड़ोसी के साथ होगा, परन्तु सामूहिक सत्याग्रह के लिए गुंजाइश नहीं रहेगी। यह बात समझ में आती है। इस वास्ते हम बार-बार कहते हैं, यह 'डेमोक्रेसी' कुछ दोषमय है और उसमें अहिंसा का मादा कुछ ही हद तक आता है, ज्यादा नहीं आता। इसलिए अपने सारे फैसले सर्वसम्मति से करने की अपनी तैयारी करनी चाहिए। पर इस विषय में हमारे साथी भी हमसे कहते हैं कि भाई, इससे व्यवहार कैसे चलेगा? यह वस्तु कुछ नई-सी है और इस वास्ते इसमें काफी सोचना पड़ेगा। अपने जीवन को और अपने दिमाग को ऐसा बनाना पड़ेगा कि जिससे सर्वसम्मति से काम होते हुए भी काम अग्रसर हो। समाज इस तरह से सोचने लगे। कार्य-हानि न होते हुए सबके साथ कैसे काम किया जाय, यह समाज सीखे। यह सारा करना पड़ेगा। उसमें कुछ मुसीबतें जरूर हैं, लेकिन क्योंकि इसमें मुसीबतें हैं, इस वास्ते अगर हम उसपर नहीं सोचेंगे, तो हम समझते हैं कि जो एक नया विचार प्रकट किया जा रहा है कि "डेमोक्रेसी में सत्याग्रह के लिए स्थान नहीं", वह नया मत अहिंसा के लिए

खतरे का है। इस बारे में निर्णय हमारा होना चाहिए।

वह जो सत्याग्रह के लिए भय पैदा होता है, उसका एक कारण मैं अभी कहूंगा और वह कारण अहिंसा के लिए एक खतरा है। वह यह है कि सत्याग्रह की एक निषेधात्मक (निगेटिव) व्याख्या मनुष्यों के मन में स्थिर हो गई है। सत्याग्रह याने अड़गला लगाने का एक प्रकार, दबाव लाने का एक प्रकार। इतना ही अर्थ इसका अभी लोगों के मन में है और इस वास्ते कुछ लोगों को इसका आकर्षण भी बहुत ज्यादा है। हम जैसे सत्याग्रह शब्द का एक डर देखते हैं, वैसे ही इस शब्द का आकर्षण भी देखते हैं। लोग कहते हैं कि बाबा कब तक जमीन मांगता फिरेगा? आखिर कभी वैष्णवास्त्र भी निकालेगा या नहीं? ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, आदि मान लिये कि हिंसा के हैं, लेकिन वैष्णव का अस्त्र, जो विष्णु का है, वह तो अहिंसा का राम-बाण है? तो वह भी निकालेंगे या नहीं? ऐसा हमसे बार-बार पूछते हैं। तब समझाना पड़ता है कि वह जो चल रहा है, इसमें सत्याग्रह का ही रूप प्रकट होता है। यह तो हमारे लिए सोचने की बात है। सत्याग्रह, जो गांधीजी के जमाने में किये गए, वे यदि सत्याग्रह के आदर्श हैं, ऐसा समझकर अगर हम चलें, तो हम गलती करेंगे। उनका एक जमाना था, उनकी एक परिस्थिति थी। उस परिस्थिति में कार्य को 'निगेटिव' (निषेधात्मक) करना था। परन्तु फिर भी उस कार्य के साथ-साथ कितनी ही रचनात्मक और विधायक बातें उन्होंने जोड़ दीं, क्योंकि उनकी प्रतिभा उनको कहती थी कि एक निषेधात्मक कार्य करते हुए भी अगर हमने विधायक बुद्धि नहीं रखी, तो जहां वह कार्य संपन्न होगा, वहां और कई खतरे पैदा होंगे। इस वास्ते उस कार्य के साथ-साथ काफी रचनात्मक प्रवृत्तियां उन्होंने जोड़ दीं। परन्तु लोग उनसे बार-बार पूछते थे कि यह चरखा क्यों चलाना है, हमको जरा समझा तो दीजिये। अंग्रेजों को यहां से भगाना है, तो उसके साथ चरखे का सम्बन्ध कहां से आने लगा, यह समझ में नहीं आता। लेकिन गांधीजी के नेतृत्व के साथ स्वराज्य का सम्बन्ध है और इस वास्ते इस बात को कबूल करो, या कहकर लोग उसको कबूल करते थे। लेकिन बार-बार पूछते थे कि इस कार्य के साथ इसका सम्बन्ध क्या है? जवाब मिलता था कि जनता में जागृति हुए बगैर कैसे काम चलेगा? अंग्रेजों पर इसका प्रभाव कैसे होगा? क्या ऐसे ही, केवल शब्द से? इस वास्ते अपने रचनात्मक कार्य से अपने विचारों को फैलाना चाहिए और जन-संपर्क होना चाहिए। जन-संपर्क के लिए हमें एक अच्छा मौका इसके कारण मिलता है। थोड़ी उनको राहत मदद मिलती है। हमारी उनके साथ सहानुभूति इसका दर्शन उनको मिलता है और उनकी ही सहानुभूति हमको मिलती है। इस तरह हमारे राजनैतिक कार्य के पीछे एक नैतिक बल खड़ा होता है, इस तरह लोगों को समझाना पड़ता था।

परन्तु यह जमाना ऐसा था कि उसमें लोगों के सामने जो कार्य करना था, वह

अभावात्मक था। इस वास्ते जो सत्याग्रह इस जमाने में हुए, वे सत्याग्रह के अन्तिम आदर्श थे, ऐसा हमको नहीं समझना चाहिए। यह बात समझनी चाहिए कि जहां लोक-सत्ता आगई, वहां सत्याग्रह का अस्तित्व अगर हम मानते हैं तो उस सत्याग्रह का स्वरूप भी कुछ भिन्न होगा। यह नहीं कि लोकसत्ता में सत्याग्रह के लिए अवकाश नहीं रहेगा। ऐसा जो माना गया, वह तो बिल्कुल ही गलत विचार है। पर यह भी विचार गलत है कि जो निगेटिव, अभावात्मक प्रकार के सत्याग्रह उस जमाने में किये गए, उनके लिए डेमोक्रेसी में बहुत ज्यादा गुंजाइश है और उनका परिणाम लोकसत्ता में बहुत ज्यादा प्रभावशाली होगा। लोकशाही में, लोकसत्ता में, जिस सत्याग्रह का प्रभाव पड़ेगा, वह सत्याग्रह अधिक प्रभावशाली होना चाहिए, अर्थात् अधिक विधायक होना चाहिए। उस दृष्टि से भी हमको अपने आन्दोलन की तरफ देखना चाहिए कि भूदान-यज्ञ का कार्य हम एक तरीके से कर रहे हैं, जो अहिंसा का तरीका है, परन्तु अहिंसा में वह एक ही तरीका है, सो बात नहीं। दूसरे भी तरीके हैं। दूसरे इससे बलवान तरीके हमको मिल सकते हैं और उनका हम इस्तेमाल कर सकते हैं। अगर इस तरीके का पूरा उपयोग कर लिया हो और उसका नतीजा पूरा देख लिया हो तो हमको सोचने का मौका मिलेगा। आज का हमारा जो सत्याग्रह चल रहा है, भूमिदान मांगने का, लोगों को समझाने का, गरीबों से जमीन लेने का, सतत घूमने का, इत्यादि, यह सारा एक विशाल सत्याग्रह है, रचनात्मक सत्याग्रह है। परन्तु इसके आगे सत्याग्रह का इससे और भी कोई बलवान स्वरूप प्राप्त हो सकता है, या नहीं हो सकता है, इसका संशोधन करने का मौका मिलेगा—अगर इस काम में हम पूर्ण शक्ति लगायें और थोड़े समय में उसका नतीजा क्या आ सकता है, उसे देखें। अगर इसको हम न आजमायें, पूरी ताकत इसमें न लगायें और उस हालत में १९५७ साल तक निकल जाय, तो आगे का कदम क्या उठाया जाय, इसका संशोधन करने के लिए हम पात्र ही नहीं रहेंगे, अपात्र साबित होंगे और उस हालत में हमने जो सारा कार्य आरम्भ किया, उसको आगे बढ़ाने की शक्यता कम रहेगी, ऐसा उसका अर्थ होगा। इस वास्ते हम सब लोगों पर यह जिम्मेदारी आई है कि अब समय थोड़ा है तो इस थोड़े समय में यह जो तरीका अभी अस्तित्व में आया जा रहा है, उसमें पूरी ताकत लगा करके उससे क्या कार्य बनता है, उसका अन्दाजा लिया जाय। मेरा व्यक्तिगत विश्वास है कि यह बहुत ही समर्थ तरीका है और इसमें अगर हम शक्ति लगाते हैं तो हमारा कार्य निःसंशय निश्चित मुद्दत में समाप्त हो सकता है। यह मैंने बिहार में देखा, यहां उड़ीसा में भी यह देख रहा हूं और आश्चर्य की बात है कि यह मैंने बंगाल में भी देखा। लोग कहते थे और आज भी कहनेवाले लोग हैं कि बंगाल में तो भूदान के लिए गुंजाइश ही नहीं है। भूदान की जरूरत ही वहां नहीं है। वहां काम हो चुका है। ३० एकड़ का सीलिंग होगया, कानून हो चुका। अब उसके आगे इसकी

जरूरत ही मिट गई है। बाबा क्यों नाहक घूमता है ? ऐसा भी बोलनेवाले लोग हैं और वे लोग सत्ता के केन्द्रों में हैं, इस वास्ते उनके पक्ष में कुछ व्यावहारिक बल है, ऐसे कुछ लोग वहां जरूर हैं। लेकिन जहांतक आम जनता का सवाल है, कार्य-कर्त्ताओं का सवाल है, हमने देखा कि वे सारे इसके लिए तैयार हैं। और गांव-गांव जाकर लोगों को समझानेवाले अगर मिल जायें, तो हमारा दावा है कि बिहार में भूदान का पूरा चित्र हमारी आंखों के सामने प्रत्यक्ष हो सकता है। पर मान लीजिये कि पूरी शक्ति लगाने पर भी वह कार्य नहीं हुआ तो हम इस लायक तो बनेंगे और समर्थ बनेंगे कि इससे आगे का कदम क्या उठाया जाय, इसका विचार कर सकें। लेकिन हम विचार नहीं कर सकेंगे, विचार हमें नहीं सूझेंगे, न हम विचार करने के लिए पात्र रहेंगे—अगर हमने पूरी ताकत नहीं लगाई। तो यह कार्य पूरी ताकत लगा करके १९५७ के पहले नमाना होना चाहिए। इन दो में से एक वस्तु होनी ही चाहिए। लेकिन पूर्ण शक्ति न लगाते हुए १९५७ तक अगर हम कार्य करते रहे तो हमारे हाथ में कोई निर्णायक शक्ति नहीं रहेगी। इस वास्ते सब भाइयों को अब सोचने का मौका है कि इस वक्त हमारी जो बिखरी हुई ताकतें हैं, वे हमको इस काम में लगानी चाहिए या नहीं लगानी चाहिए। कुछ लोगों के मन में विचार आता है और वह भी एक चिन्तनीय विचार है कि आखिर हम यहां आये किसलिए ? जैसा हमने आरम्भ में कहा, हम इसलिए आये हैं, विरोधी विचार-धाराएं हों तो भी बहस करें, चर्चा करें। कुरान में यह कहा है कि भक्तों का यह लक्षण है कि वे आपस में सलाह-मशविरा करते हैं। तो सलाह-मशविरा के लिए ही हम इकट्ठे हुए हैं। इस वास्ते विचार करने के लिए दूसरा पक्ष भी सामने रखना चाहिए। वह पक्ष यों कहनेवाला है कि स्वराज्य के बाद हम ऐसे एकांगी बनें तो नहीं चलेगा। स्वराज्य के पहले अगर हम एकांगी नहीं बनते तो नहीं चलता, क्योंकि तब एक ही 'फ्रंट' (मोरचा) हमारे सामने रहना चाहिए था और वह यह कि परकीय सत्ता को यहां से हटाना। इसलिए सारी शक्ति एकांगी याने एकाग्र बनानी जरूरी थी। लेकिन अब जबकि स्वराज्य हाथ में आया है, उसको चलाना है, समाज का सब प्रकार से भला सोचना है, इस वास्ते सर्वांग विचार होना चाहिए और किसी एक ग्रंथ में अगर हम सारी शक्ति लगायें तो यह गलत है। इस विचार में कोई सार नहीं है, पर हमारे लिए सोचने की बात इतनी ही है कि वे जो बहुविध कार्य हैं, उन्हें करने की जिम्मेदारी हमपर किसने डाली ? हम, जोकि चुनाव में खड़े भी नहीं हुए, न लोगों से वोट मांगा और न जिनको लोगों ने वोट दिया, उन पर यह जिम्मेदारी किसने डाली कि सारे हिन्दुस्तान की समस्या पर विचार करें ?

वह तो उन लोगों पर जिम्मेदारी डाली गई है, जिन लोगों ने चुनाव में लोगों से मत प्राप्त किये और जो सत्ता चला रहे हैं। उनपर यह जिम्मेदारी है कि वे सर्वांग

सोचें और सब तरह से अपना वज्र बनायें, अपना कार्यक्रम बनायें और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में हलचल करते जायें। अगर ऐसी जिम्मेदारी चलानेवाला, उठानेवाला एक वर्ग मौजूद है और लोगों का वह विश्वस्त है, हमको मानना चाहिए कि उसमें बहुत सज्जन लोग भी हैं, तो फिर उस हालत में वह जिम्मेदारी हमपर कैसे आती है ?

एक भाई ने कहा, “कलकत्ता में रोजमर्रा गाय का कत्ल होता है। मैं नहीं जानता कि ईसामसीह की कृपा से इतवार के दिन छुट्टी रहती है या नहीं—परन्तु रोज वहां गायों का कत्ल होता है, तो ‘दूध सप्लाई’ शहरों को कैसे करना है, इसका जरा आप हमको नमूना दिखा दीजिये।” हम पूछते हैं कि यह नमूना बताने की जिम्मेदारी हमपर कैसे आई ? क्या हम बेकार हैं ? हमको कोई काम नहीं है ? क्या यही काम था ? अगर यह होता, तो कोई कह सकता कि देखो, खादी के जरिये कैसे मसला हल हो सकता है, यह जरा हमको दिखाइये, यह पूछ सकता है। इस वास्ते पूछ सकता है कि एक तरीका मौजूद है। कपड़े की समस्या मिल से कैसे हल हो सकती है, इसका एक तरीका मौजूद है। इस तरीके के विरुद्ध अगर हम बोलते हैं तो लोग हमसे पूछेंगे कि आप बताइये कि किस तरह से खादी से मसला हल होगा ? यह कहने का उसका अधिकार है। लेकिन क्या शहरों को दूध सप्लाई करने का यह सुव्यवस्थित तरीका है कि गाय कत्ल की जाय ? एक साल गाय ने दूध दे दिया और जहां दूध कम हुआ, वहां उसको कत्ल खाने में भेज दिया जाय, ऐसी एक योजना है। जैसे मिल की भी एक योजना है, कपड़ा सप्लाई करने की यह एक योजना है वैसे शहरों को दूध सप्लाई करने की यह एक योजना है। एक व्यवस्थित योजना, साइंटिफिक, वैज्ञानिक, यंत्र-युगानुकूल है और हम उसका विरोध करते हैं, तो फिर हमसे पूछा जायगा कि आप तो ग्रामोद्योगी लोग हैं, हमको ऐसी योजना बता दीजिये कि गाय का कत्ल किये बगैर कलकत्ता को दूध कैसे सप्लाई किया जाय।

लेकिन क्या यह भी कोई योजना है ? यह तो विल्कुल अचित्तन है, चिन्तन ही नहीं है। इस विषय में जो चली आई बात, वह चल रही है। लेकिन हमारे सामने लोग ऐसी बातें रखते हैं और हममें ऐसे भोले-भाले लोग हैं, जिनको थोड़ा गो-सेवा का ज्ञान भी है। उनको लगता है कि हां भाई, अगर यह हम दिखा दें, तो अच्छा। एक भाई ने कहा कि हमने थोड़ा वर्धा में दिखा दिया है। पर वर्धा में दिखाने से नहीं चलेगा तो कहां दिखाना पड़ेगा ? तो चलो दिल्ली, दिल्ली में दिखाना पड़ेगा। हर बात हमको दिल्ली में दिखानी पड़ेगी। इस तरह से अगर हम सोचने लगेंगे कि स्वराज्य के ये सब विविध कार्य सोचने की हमपर जिम्मेदारी है तो इसका मतलब यह होता है कि हम सर्व-सामान्य सेवा करेंगे। परन्तु जिस प्रण से हमने यह कार्य उठाया है कि अहिंसा को हम सर्वोपरि बनायेंगे और अहिंसा का राज्य होगा, यह

जो हमारी प्रतिज्ञा है, उसके योग्य वह काम नहीं रहेगा। इस वास्ते हम चिंतन में व्यापक जरूर रहें, परन्तु एक कार्य एकाग्र होने की इस वक्त जरूरत है।

हमको इस काम में अधिक-से-अधिक ताकत लगाने की जरूरत है। इसपर भी आप लोगों को सोचना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि अब पार्लामेंट में, असेंबली में, हमारे लोग हैं। वे कहते हैं कि हमारी आवाज कुछ ज्यादा कर नहीं पाती। कुछ अल्पमत में हैं, कुछ बहुमत में हैं। जो बहुमत में हैं, वे चाबुक के नीचे हैं और जो अल्पमत में हैं, वे तो अल्प हैं ही। उनके वास्ते चाबुक की भी जरूरत नहीं है। उनके लिए चना भी नहीं है। सिर्फ तबेले में ही हैं। तो जो दोनों प्रकार के लोग पार्लामेंट में जाकर बोलते हैं कि हम कुछ अच्छी बात वहां रख सकते हैं और अपनी आवाज हम सरकार में पहुंचाते हैं, तो क्या सरकार इतनी बहरी बन गई है कि बाहर सभा में कोई बात बोलेगा तो वह नहीं सुनेगी और पार्लामेंट में जाकर गिरफ्तार होकर सुनेगी? क्या वहां बोलेंगे तभी आवाज सुनेंगे, नहीं तो नहीं सुनेंगे? क्या आप यह समझते हैं कि हम एक काम करते चले जायें, जन-समूह में पैठें, जर्मता की ताकत बनती जाय और उस हालत में हम कहीं व्याख्यान दे देते हैं—प्रार्थना-सभा में समझिये—उसका जो असर होगा, उससे ज्यादा असर हम यदि पी. एस. पी. में दाखिल हो जायें, या कांग्रेस में दाखिल हो जायें और फिर वहां जाकर एक व्याख्यान दे दें, पार्लामेंट में दे दें, तो ज्यादा असर होगा? यह सोचने की जरूरत है कि अपना मत-प्रदर्शन करने के लिए समुचित स्थान कौन-सा है? हम क्या इन नौकरों के पास जाकर अपनी कहानी रोयें? उनके मालिकों के पास ही हम क्यों न पहुंचें? और मालिक कौन हैं? हिंदुस्तान में आज मालिक कौन है? मालिक है जनता। तो सीधे हम मालिकों के पास जायें और अपनी बात रखें, उसका असर नौकर पर होगा और वह काम कर लेगा। हम वहां नौकरों के पास जाते हैं तो वे कहते हैं कि 'आप कहते तो हैं, लेकिन लोकमत क्या है?' अगर उनको हम यह समझाने जायें कि भाई, खादी के पक्ष में मिलों को बंद करो, तो पूछते हैं, लोकमत क्या है? लोकमत अगर वैसा हो तो हम कर सकते हैं, पर इसके लिए लोकमत अनुकूल नहीं है। इस तरह हर बात में वे लोकमत की दुहाई देंगे और हमारा-आपका विचार अच्छा है, यह भी साथ-साथ कहते जायेंगे। हमारे विचार को गलत कहते तो और भला होता, जरा चर्चा भी चलती। पर जब कहते हैं कि आपका विचार अच्छा है तो बात खत्म हो गई। हमारा मुंह बंद हो गया और उनका तो हाथ चलता नहीं, क्योंकि वे कहते हैं कि हमारा हाथ तो यंत्र में फंसा है और उस यंत्र को चलाने के लिए तो जनता का हमको मेंडेट (आदेश) है। तो हमारी जबान वहांपर कुण्ठित ही है। इस वास्ते हमारी जबान, हमारी बुद्धि, हमारी शक्ति, लोकमत तैयार करने में ही हमारे हाथ की है। इस वास्ते इस वक्त हमारी मांग है कि हमारे जो भाई इधर-उधर बिखरे हुए हैं, वे अगर कोई ऐसी

कुंजी की जगह हैं, कुछ कुंजी की जगह होती है, जहां से कान पकड़ा जाता है, जहां उनको उम्मीद है कि वहां रह करके वे इस काम को बढ़ावा दे सकते हैं, तो वे भले ही वहीं रहें; परन्तु जो दूसरे हैं, जिनका हिसाब केवल एक, दो, तीन, चार ऐसी गिनती में है उनसे हमारी प्रार्थना है कि आप सबकी बुद्धि और शक्ति वहां काम में नहीं आयेंगी। इधर अगर देहात में आयेंगे तो आपका खूब जय-जयकार होगा, स्वागत होगा, सम्मान होगा और फूल-मालाएं भी आपको ज्यादा मिलेंगी। लोगों का बहुत उत्साह बढ़ेगा। लोग राह देखते हैं कि वे लोग यहां आयेंगे तो कितना अच्छा होगा और वे प्यार से स्वागत करेंगे। ताकत बढ़ेगी। यह हमारी मांग है।

कुछ लोगों ने एक नया तरीका निकाला है। वह भी सोचने लायक है।

कहते हैं कि जो सात्विक लोग होते हैं, वे आजकल के चुनावों को उतना पसंद नहीं करते। ऐसा है तो सोचने की स्फूर्ति होनी चाहिए कि इस चुनाव के तरीके को हम कैसे बदलें, जिससे कि सात्विक लोगों को इसमें भाग लेने की प्रेरणा हो। पर इस तरह वे नहीं सोचते हैं। वे समझ तो गये हैं कि सात्विक लोगों को चुनाव में पड़ने की रुचि नहीं होती है; पर अब चुनाव का तरीका बदल नहीं सकते, क्योंकि वह तरीका पश्चिम से आया है। उसके बदले में दूसरा तरीका जबतक नहीं सूझता, तबतक वह तरीका चालू रहेगा। लेकिन उन्होंने एक बात सोची है। वे मुझसे तो नहीं पूछते, परन्तु हमारे साथियों से पूछते हैं कि क्या आप कांग्रेस महासमिति में आना पसंद करेंगे? यानी हम आपको वह तकलीफ नहीं देते, जो कि सात्विकों को सहन नहीं होती। चुनाव में आकर हम लोगों के सामने खड़े होकर, चुन आने की उस तकलीफ से हम आपको बचाना चाहते हैं। लेकिन आप अगर आल इंडिया कांग्रेस कमेटी में दाखिल होना पसंद करें तो हमारी इच्छा है कि आप वहां जाइये और अपने सलाह-मशविरे का लाभ हमको दीजिये। तो फिर हम पूछते हैं कि हमें कांग्रेस-मैन तो नहीं बनना पड़ेगा। कहते हैं, नहीं, कांग्रेसमैन तो होना पड़ेगा, दस रुपया दक्षिणा भी देनी पड़ेगी।

भाइयो, ये हमारे मित्र ही हैं, जो इस तरह से करते हैं। हम उनको समझाते हैं कि इसमें आप क्या भलाई देखते हैं। अगर उसमें भलाई है तो हम उसको कबूल करने को राजी हैं। इधर तो यह हालत होती है कि ये लोग हमेशा डरते ही रहते हैं। कहते हैं कि लोकशाही के लिए एक अच्छा-सा विरोधी पक्ष भी होना चाहिए और यह पक्ष भी कमजोर हो जाय तो भी डरते हैं। इस 'डेमोक्रेसी' ने हमारा दिमाग इतना कमजोर बना दिया कि वह कुछ सोच ही नहीं सकता, फेर में पड़ गया है। अगर आपको यह डर महसूस होता है तो विरोधी पक्ष के लोग अपना दिमाग बदले बिना ही आपके पास आ जायें, तो क्या वह आपके लिए या समाज के लिए अनुकूल है, इसे जरा आप सोचें। हम समझते हैं कि यह एक ऐसा तरीका

है, जिससे सात्विक लोग निस्सत्त्व बनेंगे। सात्विक लोगों में यह हिम्मत होनी चाहिए कि वे सत्त्व-गुण का प्रभाव ऐसा बढ़ायें कि चुनाव पर उसका असर हो और चुनाव दूसरा रूप ले। या उनमें यह हिम्मत होनी चाहिए कि हम उस चुनाव को खत्म ही कर देगे और हमको उसमें जाने की जरूरत नहीं पड़ेगी या फिर जो-जो चुनकर आयेगे, उनपर हमारा असर रहेगा। लेकिन जब इन दो में से एक की भी हमारी हिम्मत न हो और कोई हमसे कृपा करके कहे कि आप ऑल इंडिया कांग्रेस कमेटी में आइयेगा, हम आपको लेने के लिए राजी हैं और हम भी जाना चाहें तो हम समझते हैं कि हम कुछ मोह-चक्कर में हैं। यह बिल्कुल खुले विचार आज हम आपके सामने रखना चाहते हैं और इसके साथ यह भी कहना चाहते हैं कि अपने विचार के लिए हम बिल्कुल आग्रह नहीं रखते हैं। पी. एस. पी. में भी हमारे मित्र हैं, कांग्रेस में हमारे मित्र हैं और रचनात्मक संस्थाओं में भी हमारे मित्र हैं। हमारी हालत इसलिए मुश्किल हो जाती है कि जो हमारी दुश्मनी करना चाहते हैं, वे भी हमारे मित्र हैं।

कुल दुनिया ही मित्रों से भरी है, इस वास्ते हमारा मामला और कठिन हो जाता है। परन्तु वह आसान भी होता है, इस वास्ते कि हम खुले दिल से विचार रखते हैं और हमको आग्रह तो है नहीं, इसलिए चर्चा के लिए एक मामला मिल जाता है। आप इसपर भी चर्चा करियेगा कि हमारी स्थिति क्या होनी चाहिए ? हमने आरंभ में ही कहा है कि कोई भी राजनैतिक पक्ष, जोकि लोकशाही को मानता हो, हिंदुस्तान में जबतक उसका अपना विचार कायम है, तबतक वह कम-जोर बने, इसमें देश का भला नहीं है। पर अगर कांग्रेसवाले परिवर्तित हो जायें तो उसमें देश का नुकसान नहीं है। अगर पी. एस. पी. के लोग अपने विचार को गलत समझे और इस वास्ते उनका पक्ष टूट जाय तो उसमें भी देश का नुकसान नहीं है। लेकिन ये दोनों पक्ष या और भी कोई पक्ष, जो लोकशाही को मानते हैं, वे जबतक अपने विचारों को मानते रहें, तबतक वे कमजोर पड़ें, इसमें देश का हित है, ऐसा हम नहीं समझते। वे पक्ष बलवान बने रहें, इसीमें उनका हित है, ऐसा हमारा मानना है। तो किसीको इस अर्थ में कमजोर नहीं बनाना चाहते। लेकिन हम यह पूछना चाहते हैं कि हम कमजोर पड़ें, इसमें भी किसीका हित है क्या ? याने मान लीजिये कि कल विनोबाजी राजी हो जायें और कहें कि ठीक है, मैं कांग्रेस-मैन बनता हूं। कांग्रेस-मैन बनने में बहुत ज्यादा खोने का तो कुछ नहीं है। उसमें इतना ही सवाल आता है कि अपना जो कुछ विश्वास है उस विश्वास को एक हद तक वहां अवकाश है, एक हद तक नहीं है, उसकी उपेक्षा करके मनुष्य वहां जा सकता है। हम जानते हैं कि कांग्रेस में भी सज्जनों की संगति मिल सकती है और जैसा कि शंकररावजी ने कहा, यहांपर सत्संग है, वैसे वहां भी बहुत सज्जन लोग हैं और वे वहां इकट्ठे होते हैं, तो वहां भी सत्संगति का लाभ मिल सकता

है। कांग्रेस में, प्रजा-समाजवादियों में बहुत-से ऐसे सज्जन हैं तो उनमें से कुछ अंश ऐसा है, जो हमें मंजूर है और कुछ ऐसा भी अंश है, जो हमें मंजूर नहीं है। जो अंश हमको नामंजूर है, उसकी उपेक्षा करके जितना अंश मंजूर है, उसकी तरफ ध्यान देकर व्यावहारिक बुद्धि से, मान लीजिये कि हम कांग्रेसमैन बन जायें, तो इसमें कांग्रेस का भला है क्या, यह सोचने की बात है। हम समझते हैं कि इसमें देश का भला नहीं है, इसमें किसी का भला नहीं है। जो-जो भिन्न विचार के लोग हैं, वे अपने विचार में कमजोर पड़ें, इसमें किसीका भला नहीं है, यह मुख्य वस्तु ध्यान में रखकर हम सोचें तो हमारे जो लोग भिन्न-भिन्न पक्षों में बंटे हैं, जो भिन्न-भिन्न स्थानों में हैं, उनको यह समझना चाहिए कि अब मौका आया है, जबकि हमको इस काम में योग देना चाहिए। उधर रहते हुए अगर सेवा होती है, इस काम को खूब बढ़ावा मिलता है, तब तो उस स्थान में भले ही वे रहें। तब फिर उनके विश्वास में बाधा नहीं आती है, परंतु उनको अगर यह महसूस हो कि वहां जो सेवा आज होती है, जो इतनी प्रतिष्ठित नहीं है, जितनी कि इसके आने से होगी, अगर ऐसा उनको लगे तो हमारी मांग है, सबके सामने मांग है कि इसमें आप आ जाइये और हमको जरा मदद दीजिये।

जा कहना था वह कह दिया। एक ही बात अब जोड़ूंगा। और वह एक छोटी-सी चीज है। बार-बार उसे हम दोहराते हैं, इस साल भी उसे दोहराना चाहते हैं। मीराबाई का भजन है—“**कांचे तांतणे रे मने हरि ए रे बांधी जेम ताणे रहिए रे**।” एक कच्चा धागा है। उस कच्चे धागे में मुझे बांधा है और वह इतना मजबूत है कि उसके बल से भगवान मुझे खींचता है, उसपर मैं खिंच जाती हूं। ऐसा मीराबाई कहती है। गांधीजी ने कहा था कि देश के सामने एक उपासना चाहिए। देश के लिए बच्चा-बच्चा कहे कि हम कुछ तो करते हैं। छोटा बच्चा भी यह कहे कि देश के वास्ते मैंने कुछ किया तब फिर भोजन किया। ऐसी कोई राष्ट्रीय उपासना चाहिए। धार्मिक-पाथिक उपासनाएं तो होती हैं, जो भेद पैदा करती हैं, पर सारे राष्ट्र में अभेद पैदा करनेवाली एक उपासना होनी चाहिए। इसका विचार करके उन्होंने कातने की उपासना हमको बताई। यह इतनी आसान चीज है कि किशोरलालभाई जैसा मनुष्य, जो रोज सुबह समझता था कि शाम तक शायद मर जाऊंगा और ऐसी हालत में जिसके बीसों-पच्चीसों साल बीते, वह भी कुछ-न-कुछ पैदावार करता गया, उत्पादन करता गया। मेरा खयाल है कि अपने कपड़े के लिए वह काफी सूत कातते होंगे। तो ऐसे कमजोर, बीमार मनुष्य भी उत्पादक बने, ऐसा एक सुन्दर औजार उन्होंने हमारे सामने रखा और कहा कि यह राष्ट्रीय उपासना चले। हमने गांधीजी की स्मृति में एक गुड़ी, एक लच्छी ६४० तार की हर एक से मांगी। वह एक निमित्त है। इसका प्रचार आप सब लोग क्यों नहीं करेंगे, जरा इस बात पर सोचियेगा। पार्लियमेंट के इतने

मैम्बर हैं, वे क्यों हमको एक-एक गुंडी नहीं देते ? अगर यह बात है कि वे इसे मानते ही नहीं, शरीर-परिश्रम का तिरस्कार ही करते हैं, इस विचार को गलत समझते हैं, तो फिर वे न दें। परन्तु अगर इस विचार को वे गलत नहीं समझते तो कुल मैम्बरों से क्यों न हमको एक-एक लच्छी मिलनी चाहिए ? और सारे देश में हम ऐसा आग्रह क्यों न फैला दें ? छोटी-सी बात है, परन्तु यह बहुत शक्तिशाली होगी, ऐसा हमको लगता है। हमारी प्रार्थना है कि आप सब लोग इस बात को फैलायें और जितने हमारे लोग भिन्न-भिन्न पक्षों में हैं, सब अपने-अपने पक्षवालों को समझाएँ कि क्यों नहीं वे इस बात को उठाते ? इसमें क्या गलती या दोष है ? सारे पक्षवाले अगर यह करें कि एक-एक गुंडी गांधीजी की स्मृति में सबको देनी है तो देश में एक भावना पैदा होगी, जिसका बड़ा लाभ मिलेगा।

सातवां सर्वोदय-सम्मेलन,

जगन्नाथपुरी, २५ मार्च, १९५५

## ७ :: कलियुग नहीं, कृतयुग

आज हम आपके सामने अत्यंत नम्र होकर आये हैं। जब ऐसे समूह के सामने बोलने बैठता हूँ तो ऐसा महसूस नहीं होता कि मैं बोल रहा हूँ। लेकिन यह तब होता है, जब चित्त एकाग्र होता है। जहाँ एकाग्रता नहीं होती है, वहाँ जो व्याख्यान होता है, वह व्यक्तिगत होता है और व्यक्तिगत व्याख्यान पर हमारा ज्यादा विश्वास नहीं है। जब समाधि लगती है, तभी हम कहने लायक चीज कहते हैं।

इस वक्त हमें नम्रता की सख्त जरूरत है। हम ऐसे मौके पर, ऐसे स्थान में आ पहुँचे हैं कि यहाँ हमारा काम नम्रता से ही बढ़ सकता है। इस वास्ते हम सब कार्यकर्त्ताओं की ओर से भगवान की नम्रतापूर्वक प्रार्थना कर लेते हैं।

इस साल भूदान के काम को अपेक्षा से अधिक यश आया है। हमें इसका न कोई आश्चर्य है, न इसमें हमारा कर्तृत्व है। जिस काम के लिए परमेश्वर का आशीर्वाद होता है, वह काम ऐसे ही आगे बढ़ता है। भूदान के लिए सबसे बड़ी घटना इस साल जो हुई, वह यह है कि बूद्धदेव की जयंती का उत्सव इस साल हुआ। हम चाहते हैं कि हमारा काम एक निश्चित मुद्दत में, एक स्पष्ट रूप लेकर, लोगों के सामने प्रकट हो। उसके लिए सबसे अनुकूल घटना बुद्ध भगवान का स्मरण है। हमारे देश के इस महापुरुष का स्मरण कुल दुनिया ने किया। हम समझते हैं, जिन लोगों ने भूदान का नाम सुना होगा और जिन लोगों ने भूदान का नाम नहीं सुना होगा और बुद्ध भगवान का स्मरण किया होगा, उन्होंने भूदान

को आशीर्वाद दिया। बुद्ध ने दुनिया को जो शिक्षा दी, वह सर्वप्रथम हमारे देश को दी। उसे उठाने की जिम्मेदारी सबसे पहले हमारे देश की है और हम लोगों ने उनका अवतारी स्वरूप पहचानकर उनके विचार को पूर्ण मान्यता दी है। आज उन्हींका अवतार चल रहा है। हम अपने हर धर्म-कार्य के और संकल्प के आरंभ में 'बुद्धावतारे' कहते हैं, याने हमारा आज का जीवन उनके मार्गदर्शन में चलना चाहिए, ऐसा हम चाहते हैं और आप जानते हैं कि इस वक्त रशिया ने अपना सैन्यभार कुछ कम करने का सोचा है। हम नहीं जानते कि ईश्वर की प्रेरणा किस दिशा में, कैसे काम करती है। हम इतना जानते हैं कि उसकी प्रेरणा हमारे काम के लिए बहुत ही अनुकूल है। इसलिए हमने कहा कि जिन्होंने बुद्ध भगवान् का स्मरण किया, उन्होंने हमारे काम को आशीर्वाद दिया। यह हमारे भूदान के काम के लिए बहुत बड़ी ताकत है।

हमने बहुत नम्रता से दावा किया था और प्रथम उच्चारण उसी दिन किया था, जिस दिन बुद्ध भगवान् की जयंती थी। हम लखनऊ में थे। हमने कहा था, बुद्ध भगवान् का धर्म-चक्र-प्रवर्तन का कार्य आगे चलाने की हम कोशिश करेंगे। बुद्ध भगवान् ने जो प्रेरणा दी, उसके कारण ही बिहार का काम आगे बढ़ा, यह हमने अपनी आंखों से देखा। एक दिन बिहार में हमें एक लाख एकड़ जमीन मिली थी। वह बुद्ध-जयंती का दिन था। एक दिन हमने संकल्प किया था कि गया जिले में एक लाख एकड़ जमीन हासिल करेंगे। वह प्रेरणा बोधगया में हुई, जो बुद्ध भगवान् का स्थान है। उसी प्रेरणा की स्मृति में समन्वय-आश्रम का छोटा-सा प्रयत्न भी शुरू किया। हम आशा करते हैं कि हिंदुस्तान के लोग इस स्मृति से प्रभावित होकर भूदान के काम में पूरी तरह से जोर लगायेंगे। यह प्रेरणा काम कर रही है, उसका अनुभव हृदय में प्राप्त कर लेना है। वह प्राप्त करके काम करना है।

दूसरी घटना इस आंदोलन में हुई है, वह हमारे लिए बहुत ही आशादायक है, और वह है—व्यापक परिमाण में ग्रामदान, जो उड़ीसा में हुआ, जिससे जमीन की मालकियत की जड़ें हिल गईं और ग्रामराज्य किस तरह बनाया जा सकता है, यह सोचने के लिए सामग्री मिली और ग्रामराज्य की कल्पना करने के लिए कुछ चिंतन भी इस साल हुआ। एक भाई ने हमें पत्र लिखा कि अबतक आपके इस आंदोलन की तरफ कुछ शंका की दृष्टि से देखते थे, पर जबसे व्यापक परिमाण से ग्रामदान शुरू हुआ, तबसे विश्वास हो गया कि यह आंदोलन क्रांतिकारी है। उड़ीसा के बाद हमने आंध्र में प्रवेश किया, जहां बहुत-से हमारे कम्प्यूनिस्ट भाई काम करते हैं। हमें कहने में खुशी होती है कि बहुत-से हमारे कम्प्यूनिस्ट भाई इसमें काम करने के लिए तैयार हुए। कुछ लोग इसमें भय देखते हैं। हम इसमें कोई भय नहीं देखते हैं, क्योंकि हमारे मन में आत्मविश्वास है। जिसके मन

में आत्मविश्वास नहीं होता है, उसे भय मालूम होता है। परन्तु हम इससे बहुत ही उत्साहित होते हैं कि वे भाई हमारे साथ आये। हम उनका स्वागत करते हैं। ग्रामदान में एक नया विचार ही खुल गया है। सिर्फ भारत के सामने ही नहीं, बल्कि दुनिया के सामने भी एक मार्ग खुल गया है। यह दूसरी घटना है, जो बहुत ही आशाजनक है।

तीसरी बात यह है कि हमारे हाथ में वितरण की कुंजी आई है। कुछ लोग पूछते हैं कि आपने बहुत जमीन हासिल की, लेकिन उसका वितरण नहीं किया। हम कहते हैं कि जमीन प्राप्त करने की कुंजी हमें एकदम हासिल नहीं हुई है, वह धीरे-धीरे हमारे हाथ में आई है। उसी तरह जमीन के बंटवारे की कुंजी पहले हासिल नहीं थी, अब हासिल हुई है। हमने कहा था कि हिन्दुस्तान की कुल जमीन का बंटवारा एक दिन में करना है और वह एक दिन लाने के लिए हमें कोशिश करनी है। कुल गांवों का बंटवारा एक ही दिन में हो सकता है। जैसे हम सुनते हैं और अनुभव भी होता है कि एक ही दिन में कई प्रांतों में बारिश होती है और कुल जमीन पर हो जाती है। बारिश एक-एक गांव की जमीन भिगोकर आगे नहीं बढ़ती, वह एकदम कुल जमीन पर बरसती है। इससे बेहतर उपमा सूर्यनारायण की है। उसके उदय से एक ही समय सारे घरों में प्रकाश होता है। यह तो कुदरत की उपमा हुई। लेकिन मानव-समाज में भी हम ऐसी उपमा हम देखते हैं। एक ही दिन में हर घर में दीवाली मनाई जाती है। सभी घरों में दीपक जलते हैं। लोगों में इसकी भावना पैदा हुई है और वह जिस तरह लोगों को मालूम हो गई है, उसी तरह से एक दिन में कुल जमीन का बंटवारा होना चाहिए, हो रहा है और होगा। इसका प्रयोग करने की हिम्मत कुछ भाइयों ने की है। बिहार में एक ही दिन में सौ-दोसौ गांवों की जमीन का बंटवारा किया गया और उसमें हमारे भाई सफल हुए। किस तरह वह किया, यह वर्णन करने का यह समय नहीं है। इससे लोगों को विश्वास हो गया कि एक ही दिन में कुल गांवों की जमीन का बंटवारा हो सकता है। यह असंभव नहीं है। उसीका प्रयोग उड़ीसा में हुआ। वहां सात-आठ-सौ ग्रामदान हुए। उसमें से चार-सौ ग्रामों में जमीन बंटी। दान की प्राप्ति में जितनी मेहनत लगती है, उससे ज्यादा मेहनत बांटने में है। लेकिन लोकशक्ति से यह कार्य हो सकता है, यह सिद्ध हुआ। इसलिए मैंने यह कहा कि यह कुंजी हमारे हाथ में आई।

भूदान की एक बड़ी खूबी यह है कि इसमें अखिल भारतीय नेतृत्व नहीं बनता, क्योंकि भूदान-आंदोलन पैदल चलता है। इन दिनों कितने ही अखिल भारतीय नेता हुए। लेकिन बुद्ध भगवान् अखिल भारतीय नेता नहीं बन सके। केवल पाली भाषा में वह बोलते थे और प्रयाग से लेकर गया तक घूमे। परन्तु उनका विचार विश्व-व्यापक होने लायक था। वह इसलिए फैला कि इस विचार के लायक उनका जीवन था। शिवाजी अखिल भारतीय नेता नहीं बन सके। सतत प्रयत्न करने के

बावजूद देश का छाटा-सा हिस्सा उनके हाथ में आया। जनक्रांति का जो कार्य होता है, वह एक स्थान में बनता है और हवा के जरिये दुनिया में जाता है। इस आंदोलन की यह खूबी हमारे लिए बहुत मददगार है। पंजाब के लोगों को पूरा विश्वास हो गया है कि बाबा चंद दिनों में हमारे प्रान्त में नहीं आनेवाला है। अगर बाबा रेलगाड़ी से जाता तो एक महीने में पहुँचता, परन्तु मैं पैदल यात्रा करता हूँ, इसलिए नेतृत्व स्थानिक ही होता है; बल्कि यह कहना चाहिए कि स्थानिक नेतृत्व नहीं बनता है, स्थानिक सेवकत्व बनता है, क्योंकि हम सेवक बनकर लोगों के पास पहुँचेंगे, तभी जमीन मिलेगी। नेता के नाते पहुँचेंगे तो जमीन नहीं मिलेगी। आज ही सुबह हम कहते थे कि हमारी ताकत इसीमें है कि हम अपने स्वामी के सेवक हैं। तुलसीदासजी रघुनाथजी को जगाने के लिए क्या करते थे? वह गाते थे, “जागिये रघुनाथ कुंवर”। इसी तरह तमिल-भक्त भी गाते हैं। वे जगाने के लिए गायन गाते हैं, भजन गाते हैं। इस तरह प्रभु को जगाना है। लोक-हृदय में जो प्रभु विराजमान है, उन्हें जगाने के लिए हम भक्त होकर जाते हैं तभी वह जागते हैं।

परन्तु इस साल जो कुछ हुआ, वह यह है कि व्यक्ति के सेवकत्व के बदले गण-सेवकत्व हो सकता है। आप लोग जानते हैं कि इन दिनों रशिया में एक खोज हुई है। रशिया का जो उपकारकर्ता माना जाता था, वह उपकारकर्ता नहीं है, यह खोज हुई है। जिसके स्तुति-स्तोत्र से इतिहास के पन्ने भरे थे, उस इतिहास के बदलने की बात हुई। दुनिया के इतिहास में इतना बड़ा भारी संशोधन पहला ही है। हमने अखबार में पढ़ा था कि कुछ दिनों तक रशिया में इतिहास नहीं सिखाया जायगा, नया इतिहास संशोधनपूर्वक लिखा जायगा और उसके बाद वह पढ़ाया जायगा। याने ‘मधेसाहवा’ का रूपांतर ‘तबर्ता’ में हो गया। इस्लाम के दो पंत हो गये, एक सुन्नी और दूसरा शीया। वहाँ कुछ खलीफा हो गये। उनकी स्तुति करना धर्म मानते हैं, वे मधेसाहवा है और जो निंदा करना धर्म समझते हैं, वे तबर्ता हैं। यह स्तुति और निंदा करने का दिन एक ही आता है! एक ही दिन, एक ही जगह पर, अगर वह चलेगा, तब तो भगड़े और मारामारी होगी। इसलिए रशिया में अवतक मधेसाहवा चलता था, अब तबर्ता चलेगा, ऐसा हमने कहा, याने एक नई खोज हुई। तालीम में स्टालिन की स्तुति का विशेष महत्व नहीं। वह व्यक्तिगत विषय है। परन्तु वहाँ एक नई बात सूझी है, वह विशेष है। कहते हैं, अब कलेक्टिव लीडरशिप चलेगी—व्यक्ति-विशेष का नेतृत्व नहीं, गणनेतृत्व चलेगा। यह एक नया विचार रशिया में निकला। उसी तरह भूदान में गण-सेवकत्व की शोध हुई।

एक और भी उत्तम अनुभव आया। हमें भूमिदान तो मिलता था, पर लोग कहते थे कि संपत्तिदान मिलेगा या नहीं? जब संपत्ति मिली, तब इन लोगों का

संदेह मिटा। पहले तो भूदान के बारे में भी ऐसा ही संदेह उनके मन में था। संदेही मनुष्य के लिए एक संदेह जहां समाप्त हुआ कि वहां दूसरा शुरू होता है, यही कार्यक्रम होता है। पैगम्बर ने ऐसा लिखा कि संदेह करनेवाले लोगों को अगर स्वर्ग में ढकेला जायगा तो भी वे संदेह करेंगे कि यह स्वर्ग है या नर्क ! इसलिए संदेह होता है कि जमीन तो मिली, पर संपत्ति मिलेगी या नहीं ? और संपत्तिदान मिलेगा तो भी वह सतत कैसे चलेगा ? पर इसका अनुभव इस साल बहुत आया। अभी जयप्रकाशजी की बिहार में जो सभाएं हुई, उनमें हजारों संपत्तिदान-पत्र मिले। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी एक दिन का या किसी विशेष स्थान का वह काम था। पहले से ही तैयारी थी। फिर भी हजारों दानपत्र प्राप्त करना छोटी बात नहीं है। कार्यकर्ता जुटे होंगे, गांव-गांव घूमे होंगे। यही अनुभव उड़ीसा के छोटे-छोटे गांवों में आया। आज काफी तादाद में वहां संपत्तिदान-पत्र मिल रहे हैं। इसका भावार्थ यह है कि अभी लोक-हृदय इसके लिए तैयार नहीं हुआ है कि कोई आते हैं तो उसे दान की दीक्षा देते जायें।

कुछ लोग कहते हैं कि इन दिनों लोगों का नैतिक स्तर गिरने लगा है। इसी तरह का भाव कल राजाजी के व्याख्यान में था। हम कहना चाहते हैं कि वह ऊपर-ऊपर का भास है। समाज की रचना ही गलत है, इसलिए पैसे का महत्व बढ़ा है और पैसे की कोई स्थिर कीमत नहीं है। आज सब लोग देख रहे हैं कि पैसा आज एक कीमत बोलता है, कल दूसरी कीमत बोलता है। इसलिए हमें लगता है कि लोगों का स्तर नीचे नहीं गिरा है। आज हजार रुपये मिले तो मनुष्य को लगता है कि यह बस है। लेकिन कल जब उसे मालूम होता है कि उस हजार रुपये की कीमत पांचसौ रुपये हुई तो उसे लगता है कि इनने हजार रुपये नाकाफी हैं। लोभ-वृत्ति मनुष्य में होती है, इस वास्ते कितना भी पैसा आया तो भी समाधान नहीं होता। हमारे एक भाई थे। उन्होंने हमसे कहा था कि हमको दस हजार रुपये मिल जायेंगे, तब हम जन-सेवा करेंगे। हमने कहा कि यह तुम्हारा भ्रम है, पर देखिए, दो-चार साल बाद उसके पास दस-बारह हजार रुपये हो गये। हमने पूछा कि सार्वजनिक सेवा के लिए कब आते हो तो उसने कहा कि इन दस-बारह हजार रुपयों की कीमत कम हुई है, इसलिए अब पचास हजार रुपये कमाने होंगे। हमें तो यह विनोद मालूम हुआ, लेकिन हम कबूल करते हैं कि इसमें तथ्य भी है। सारांश, भ्रम के बदले पैसे को महत्व दिया गया, यही गलत काम हुआ। पैसे की कीमत अस्थिर हो गई है, यह दूसरी गलती है। इस वास्ते लोक-मानस में पैसे की तुलना बढ़ी, इसमें दोष उनका उतना नहीं, जितना कि गलत समाज-रचना का है। जैसे पत्तागोभी में अनेक स्तर होते हैं और ऊपर के झिलके पर हवा का परिणाम होता है, तो कभी-कभी वह हिस्सा सड़ा हुआ होता है और क्योंकि ऊपर का पत्ता सड़ा होता है तो मालूम नहीं होता कि अंदर अच्छा है या नहीं। जब ऊपर के पत्ते

को हम हटाते हैं, तब मालूम होता है कि अंदर स्वच्छ, शुद्ध, निर्मल पत्ते हैं। उसी तरह मनुष्य के चित्त की स्थिति होती है। कभी-कभी खराब हवा के कारण मनुष्य के मन का ऊपरी हिस्सा खराब हो जाता है, लेकिन उसपर से कोई अन्दाज लगा-येगा कि यह मन सड़ा है तो अन्दाज गलत होगा। ऊपर का हिस्सा हटा दिया तो अंदर स्वच्छ-सुन्दर मन है। हम कहना चाहते हैं कि अब भी लोकमानस दान के लिए तैयार है—प्रस्तुत है।

हमसे जब पूछा जाता है, तब हम कहते हैं कि यह सत्ययुग है, कृतयुग का आरम्भ है। बम्बई से नौसौ मील पैदल चलकर जवान लड़के यहां आये। उनमें एक चौदह साल का लड़का है। रोज अठारह मील चलने का औसत था। कभी-कभी पचीस मील भी वे चले हैं। आप लोग जानते हैं कि बंबई के लड़कों की नितिशा की तालीम तो नहीं मिलती है, लेकिन वे मजे में आये। संपत्तिदान और भूदान का विचार क्या है, यह समझते वे चले आये। अब वात्सा जाता है और उसे जमीन मिलती है तो मान लीजिये कि यह बाबा का प्रभाव है। परंतु जब बच्चे आते हैं तो उनका क्या प्रभाव पड़ा होगा? उनके क्या व्याख्यान होते हैं? पैदल चलते हैं, इसलिए उनका आदर होता है, यह हम समझ सकते हैं, क्योंकि बच्चों का लाड़ तो लोग हमेशा किया करते हैं, परन्तु उनको सिर्फ खाना नहीं मिला, उसके अलावा ७५० एकड़ का दान भी मिला। तीन भाषा के प्रांतों में उन्हें चलना पड़ा। हम समझते हैं कि यह बुद्धदेव की प्रेरणा है। वे बहुत खुश हुए होंगे कि ऐसे बच्चे कष्ट का कार्य कर रहे हैं। इसलिए हमने कहा कि यह कृतयुग आया है। शास्त्रकार तो युगों की ऐसी व्याख्या करते हैं कि मनुष्य जब सोता है, तब कलियुग में रहता है, बिस्तर छोड़ता है, तब द्वापरयुग में आता है, उठ खड़ा होता है, तो त्रेतायुग में रामजी के साथ होता है। आप ही देखिये, यह कृतयुग है या कलियुग। इस वास्तविक बात गलत है कि लोगों का नैतिक स्तर नीचे जा रहा है, बल्कि हमें तो यह भास होता है कि लोगों का उत्थान बहुत शीघ्रता से हो रहा है और उनका स्तर ऊंचा उठ रहा है। हमारी जिस सभा में स्कूल-कालेज के लड़के होते हैं, वह सभा अत्यन्त शांत रहती है। लोग हमसे कहते रहते हैं कि आजकल के विद्यार्थी उद्धत और उद्विग्न बन गये हैं। अंग्रेजी में एक अलंकार है, जिसे 'ट्रांसफर्ड एपिथेट' कहते हैं—जो विशेषण एक के लिए लागू होना चाहिए, उसे दूसरे के लिए लागू करते हैं। तालीम की पद्धति अत्यन्त रही है, उसको जो गाली देनी चाहिए, वह नाहक लड़कों को देते हैं। हमें तो आश्चर्य होता है कि इतनी रही तालीम के बावजूद लड़के इतने शांत कैसे रहते हैं। हमें यही उत्तर मिलता है कि ईश्वर की कृपा है और ईश्वर भारत से कुछ काम लेना चाहता है। पांच साल का हमारा अनुभव है। हम देखते हैं कि हिंदुस्तान में ईश्वर की प्रेरणा काम कर रही है। मैं यह सब उस संदर्भ में कह रहा था कि लोग संपत्ति देने को राजी हैं। आज की ही बात है। एक भाई

कुछ पैसे दान में दे रहे थे। उनको समझाया गया कि संपत्तिदान का तरीका अलग है। यह फंड इकट्ठा करने की बात नहीं है। 'तो संपत्तिदान का तरीका बहुत ही बेहतर है', ऐसा उन भाई ने कहा और संपत्तिदान मान्य किया। भाइयो, पिछले साल का अच्छा अनुभव है कि संपत्तिदान का काम बढ़ रहा है।

पिछले साल का एक और अनुभव है। उसमें भी एक ताकत भरी है। मध्य-प्रदेश में एक आदाता सम्मेलन किया गया। जिन्हें जमीन मिली है, वे छोटे-छोटे लोग हैं। कार्यकर्ताओं ने आशा की थी सौ-सवासी लोग आयेगे, लेकिन कुछ जिलों में से पाचसौ लोग आये थे। उन्होंने बातें समझ लीं और हमें भी कुछ देना चाहिए, ऐसा तय किया। हर साल की जो फसल आयेगी, उसमें से एक हिस्सा देने का तय किया। बहुत लोग पूछते हैं कि इस आंदोलन में भूमिहीनों के हृदय-परिवर्तन की और उनके उत्थान की क्या योजना है। इस अनुभव से उन लोगों को अब अच्छा उत्तर मिलेगा।

हमने एक नई बात की है। हमने व्यापारियों का आवाहन किया है। हम समझते हैं कि इसका भी अच्छा अनुभव आयेगा। हमसे कहा गया है कि उसका असर व्यापारियों पर अच्छा हो रहा है। व्यापारियों को हिंदुस्तान में एक धार्मिक स्थान दिया गया है। सत्य, प्रेम आदि गुणों का सारी दुनिया में गौरव का स्थान है। इन गुणों की सब धर्मों में कीमत होती है। परन्तु व्यापार को भी एक स्वतन्त्र धर्म माना गया, यह बात हिंदुस्तान में ही हुई है। दुनिया के लोग व्यापार को व्यावहारिक काम मानते हैं। पर हिंदुस्तान में चातुर्वर्ण्य की योजना में व्यापार को वैश्य का एक स्वतन्त्र धर्म माना गया। वैश्य को मोक्ष का उतना ही अधिकार है, जितना वेदाध्ययनशील ब्राह्मण को। यह हिंदुस्तान की विशेषता है। व्यापार भी करो और मोक्ष भी पाओ, यह अजीब बात है। दूसरे देशों में यह कहा गया कि सुई के छेद से ऊंट चला जा सकता है, परन्तु श्रीमान् को मोक्ष नहीं मिलेगा। लेकिन हिंदुस्तान के दयालु शास्त्र की योजना में व्यापारी को मोक्ष-मार्ग खुला कर दिया गया, कुछ शर्त के साथ। हमने व्यापारियों से निवेदन किया कि यह जो भार आपपर डाला गया है, वह आप उठाइयेगा और हमें सुनाया गया है कि उसका असर व्यापारियों पर हुआ है। हम कोई भविष्यवादी नहीं हैं, न भविष्यवाद पर हमारी श्रद्धा है, पर हमारे मन में कोई संदेह नहीं है कि भारत में एक नैतिक क्रांति होने जा रही है।

गयेसाल में हानियां भी हुई और वे काफी गंभीर हैं। इधर इतना नैतिक उत्थान का अनुभव और उधर इतनी नैतिक हानि का अनुभव, यह क्या तमाशा है? यह है परमेश्वर की लीला! इसका भी समाधान है। कई लोग कहते हैं कि एक ओर लोग जमीन देते हैं और दूसरी ओर वे ही बेरहमी से बेदखलियां करते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि लोग बाबा को ठग रहे हैं, वे दान करने का ढोंग करते

हैं और उनकी असलियत प्रकट होती है तब, जबकि वे बेदखलियां करते हैं। हम कहते हैं कि हम इससे उल्टा समझते हैं। हम कबूल करते हैं कि लोग दान भी दते हैं और उधर बेदखल भी करते हैं। लेकिन हम समझते हैं कि वह जो बेदखली का काम है, वह असलियत नहीं है, वह उनका ढोंग है और बाबा को जो दान देते हैं, वह उनकी असलियत है। इसलिए कि उनकी दान की प्रवृत्ति उनकी आत्मा का गुण है और जो बेदखलियां करते हैं, वह परिस्थिति का परिणाम है। सरकार कानून नहीं बना रही है, लेकिन कानून बनेगा, ऐसा चार साल से चल रहा है। वे लोग बेचारे भयभीत हैं। संभालना चाहते हैं, इसलिए संभाल लेते हैं। लोभ तो मनुष्य में है ही, परन्तु उसके साथ भय भी है। इसलिए परिणामस्वरूप परिस्थितिजन्य दोष हो रहा है। लोगों का वह जो बुरा रूप प्रकट हो रहा है, वह असलियत नहीं है। बाहर की हवा के कारण ऊपर का वह अस्तर सड़ गया है। वावा को यह कुशलता सधी है कि ऊपर का छिलका हटाता है और अंदर ही देखता है। ऊपर का हिस्सा सड़ा हुआ न हो तो भी हटाता है। बाबा ने कहा है कि पत्तागोभी काटने का नियम ही यह है कि ऊपर का छिलका निकाल देना चाहिए। इस वास्ते हम अपने अनुभव से कह रहे हैं कि लोगों की असलियत दान में प्रकट होती है। फिर भी ऊपर का छिलका सड़ गया, यह इष्ट तो नहीं है। उसके सड़ने से अंदर कुछ परिणाम होता है, इस वास्ते ऊपर का छिलका अच्छा रहे, ऐसी ही कोशिश करनी चाहिए। उस हिसाब से इन हानियों का जिक्र करता हूं। परन्तु हम निराश नहीं हैं।

भाषावार प्रांत के कारण कई जगह हिंसा के प्रकार हुए। उसका बहुत दुःख हमको है और हमने माना है कि यह भूदान-यज्ञ की हार है। हमारा ध्यान इस तरफ गया है। विशेष परिश्रम शहरों पर हमने नहीं किया, यही इसका कारण है। हम यह कह देना चाहते हैं, इसके पहले भी कहा है कि भाषावार प्रांत बनाने में कोई गलती नहीं है, बल्कि हम यह मानते हैं कि लोगों की भाषा में राज्य नहीं होगा तो स्वराज्य के कोई मानी नहीं है। लोगों की जो भाषा है, वह हाईकोर्ट का न्यायाधीश नहीं जानता है, तो वह न्यायाधीश बनने के लायक नहीं है। किसान जो बात करता है, वह उसे समझनी चाहिए और उसीकी भाषा में जवाब देना चाहिए और उसका बयान तर्जुमा करके नहीं, वैसा ही सुनना चाहिए, उसका फंसला भी उसी भाषा में देना चाहिए। तालीम भी लोगों की भाषा में देनी चाहिए। यह जनता का अधिकार है और यही स्वराज्य का अर्थ है। इसलिए हम उसमें कोई गलती नहीं मानते हैं, बल्कि भाषावार प्रांत की रचना की मांग करनेवाले को 'तू संकुचित है, तू संकुचित है,' यह कहकर संकुचित बनाया गया है। यह तो उपनिषद् का सिद्धांत है—अगर हम सामनेवाले को कहते हैं कि 'तू पापी है, तू पापी है,' तो वह पापी ही बनता है। समझने की जरूरत है कि भाषावार प्रांत-

रचना की मांग सज्जनों की तरफ से ही हुई है, दुर्जनों की तरफ से नहीं। इसलिए इसमें गलती नहीं है। परन्तु उनपर संकुचितता का आरोप किया, उससे वे संकुचित बने, और कुछ लोग पहले से संकुचित होंगे भी। परिणामस्वरूप काफी हिंसा हुई, जो बड़ी दुःखद घटना है।

अब यह गंभीरता से सोचने लायक विषय है। यह क्यों हुआ ? इसलिए कि हमने गलत मनुष्यों का गौरव आज तक किया। १९४२ के आंदोलन में जनता की तरफ से कई प्रकार के हिंसा के काम किये गए—रेलवे की लाइन आदि उखाड़ना। ये जो सारी चीजें भाषावार प्रांत-रचना के आंदोलन में हुई, वे सारी १९४२ में हो चुकी थीं और उनका गौरव भी हुआ था, क्योंकि अच्छे काम के लिए वे बातें हुई थीं। सन् '४२ में ऐसा माना गया था कि वह अच्छा काम था, इसलिए हिंसा हुई। अब अच्छे काम के लिए अगर हिंसा मंजूर है, ऐसा माना गया तो इस काम के लिए हिंसा की, तो क्या गलती है ? आज जनता के मन में इस विषय में सफाई नहीं है। अगर यह सफाई होती और इसका स्पष्ट ज्ञान होता कि हमें स्वराज्य अहिंसा की शक्ति से हासिल हुआ है, तो आज जो दशा दिखाई देती है, वह नहीं दिखाई देती। हम देखते हैं कि एक ही शरू के घर में एक फोटो महात्मा गांधी का होता है और उसके नजदीक सुभाष बोस का होता है। हम भी सुभाष बोस के अनेक गुणों का, उनकी सेवा का और देशभक्ति का गौरव करते हैं, लेकिन वह जो चित्र लगा रहता है, वह गुण-गौरव के लिए नहीं होता। वह इस विश्वास से होता है कि हमें जो स्वराज्य मिला, उसमें कुछ गुण हैं महात्मा गांधी की अहिंसा का, और कुछ गुण हैं हिंसा का, याने जैसे हाइड्रोजन और आक्सीजन मिलकर पानी बनता है, वैसे इधर से अहिंसक लोगों ने शत्रु को सताया और उधर से दूसरों ने हिंसा से सताया, तब जो परिणाम आया, वह स्वराज्य है याने हमने अहिंसा को शत्रु पर हमला करने का एक तरीका माना और हिंसा को उसीका दूसरा तरीका माना। हमको आज दुनिया में इस मामले में दो मनस्थितियों का मुकाबला करना है। एक विचार यह है कि लोगों का, खास करके यूरोप-अमरीका के लोगों का—यह मानस-शास्त्र का निदान है—हिंसा पर से विश्वास उठ गया है। उनका नाम इसलिए लिया, क्योंकि उनका हिंसा पर बहुत विश्वास था और क्योंकि हिंसा ने अतिहिंसा का रूप लिया और वह काम नहीं करती है, नुकसान ही करती है, ऐसा दीखता है। इसलिए उनका हिंसा पर से विश्वास उठ गया, परन्तु अहिंसा पर विश्वास बैठा नहीं। चित्त की यह बीच की हालत बहुत भयानक है। उस हालत में वे लोग आज हैं और उनका मन केवल डांवाडोल है। उनसे कोई भी कदम निश्चयपूर्वक नहीं उठाया जायगा, भिन्न-भिन्न कोई काम नहीं होगा। नसीब से जो होगा, वह होगा। अगर हिंसा पर उनका विश्वास होता तो मुनिश्चित कदम उठाते, अहिंसा पर पूर्ण विश्वास होता तो भी वे निश्चित कदम उठा सकते। परन्तु अहिंसा पर

विश्वास बैठा नहीं और हिंसा पर से विश्वास उठ गया, इसलिए बीच की हालत में निश्चित कदम उठाया नहीं जाता। यह समस्या आज दुनिया के सामने उपस्थित है।

दुनिया के सामने एक दूसरी समस्या है और वह हिंदुस्तान में भी मौजूद है। वह यह कि हिंदुस्तान जैसे देश की बड़ी हिंसा पर श्रद्धा नहीं रही, क्योंकि बड़ी हिंसा के साधन आज उसके पास नहीं हैं और उन्हें वह जल्दी हासिल कर सकेगा, ऐसा लक्षण भी नहीं है। छोटी हिंसा पर यहां के लोगों का विश्वास है, यह एक बड़ी विचित्र बात है। छोटी हिंसा यशस्वी नहीं होती थी, इस वास्ते बड़ी हिंसा के प्रयोग हुए; लेकिन हिंदुस्तान के लोगों में छोटी हिंसा पर श्रद्धा बैठ गई। स्वाभाविक ही जो लोगों की स्थिति है, उसका प्रतिबिम्ब सरकार में है। आपने देखा कि गोलियां जगह-जगह चलीं। सिर्फ इस भाषावार प्रांत-रचना की बात नहीं करता हूं, इन पांच साल में कई मौकों पर गोलियां चलीं। कहीं कारणों की तलाश हुई और कहीं नहीं हुई। कहीं वह जायज साबित हुई और कहीं नाजायज। इस जायज-नाजायज में हम पड़ना नहीं चाहते हैं। उसका कोर्टवाले अपने तरीके से फैसला देते हैं। परन्तु हमको यह आभास हुआ। हम किसीपर अन्याय नहीं करना चाहते हैं। गोलियां आसानी से चलीं, याने लोगों की तरफ से जैसे हिंसा हुई, वैसे फौरन दूसरी बाजू से हिंसा की तैयारी हुई। दोनों तरफ से छोटी हिंसा पर विश्वास है। यह देश के लिए बड़ी दुःख की घटना है और एक समस्या है। इसका एक ही अर्थ हो सकता है कि हमें अहिंसा की शक्ति और सत्याग्रह की शक्ति खड़ी करनी होगी। 'सत्याग्रह' शब्द गंभीर है, दस-बारह साल से हम इस पर चिंतन कर रहे हैं, कई विचार सूझते हैं। हम जानते हैं और मनाते हैं कि सत्याग्रह से बढ़कर दुनिया के लिए मुक्तिदायक कोई शस्त्र नहीं है, परन्तु आज सत्याग्रह भी एक धमकी का रूप बन गया है। यह कोई रचनात्मक शक्ति का रूप नहीं है, यह गंभीर विषय है। हम चाहते हैं कि इसकी ध्यानवीन हमको अक्सर करनी चाहिए। यह गंभीर विषय थोड़े में नहीं कहा जायगा।

हम यह भी कहना चाहते हैं कि गांधीजी के जमाने में जो सत्याग्रह हुए, उनको अगर हम आदर्श मानेंगे तो गलती करेंगे, क्योंकि स्वराज्य-प्राप्ति के बाद जहां लोकशाही है, वहां जो सत्याग्रह होता है, वह अधिक शक्तिशाली, अधिक विधायक होना चाहिए। इसलिए बापू ने बहुत दफा कहा था कि सत्याग्रह का शास्त्र हम लिख नहीं सकते, वह धीरे-धीरे विकसित हो रहा है। उस शास्त्र का हमें विकास करना होगा। उसका विकास करने के बजाय हमने उस शास्त्र को गांधीजी के जमाने में जिस तरह चलाया, उससे नीचे के स्तर पर गिराया। गांधीजी के समय का कुल काम, स्वराज्य-प्राप्ति का, निगेटिव था। आज हमें जो काम करना है, वह वैसा नहीं है। आज हमें अपने देशवासियों के जीवन का ही रूपांतर करना

है। बापू हमेशा भाषा बोलते थे—‘एंड और मेंड’ की। हम वह भाषा नहीं बोल सकते। वह अंग्रेजों को ‘क्विट इंडिया’ कह सकते थे। हम व्यापारियों को जमीन के मालिक को, संपत्ति के मालिक को ‘क्विट इंडिया’ नहीं कह सकते। हम सबको यहीं रहना है, इस वास्ते कोई ‘क्विट’ नहीं करेगा। इस वास्ते हम सबको एक साथ रहने की युक्ति साधनी चाहिए। ऐसी स्थिति में जो सत्याग्रह होगा, उसमें सत्याग्रह का गुण-युक्त स्वरूप प्रकट होना चाहिए, लेकिन वह प्रकट नहीं हुआ, बल्कि हुआ यह कि बापू के जमाने में जो सत्याग्रह हुए, उनके स्तर से ऊपर उठने के बदले हम नीचे गिर गये। उसकी आज प्रतिक्रिया यह हुई है कि कुछ लोग बोलने लगे हैं कि लोकशाही में सत्याग्रह का स्थान नहीं है। यह अजीब बात है कि लोकशाही में लश्कर का स्थान तो है, पर सत्याग्रह का स्थान नहीं है। यह भी बिल्कुल गलत विचार है, यद्यपि बहुत बड़े-बड़े यह विचार धारण करते हैं। इस हालत में हमपर बड़ी जिम्मेदारी है। हमें सत्याग्रह को और उसके शास्त्र को विकसित करना होगा।

अब मैं कुछ अपने खुद के काम के बारे में कहना चाहूंगा। मैंने कहा कि इस वक्त हमें नम्रता की बहुत जरूरत है। अब मैं बिल्कुल दक्षिणापथ में आ पहुँचा। इसके आगे अब दक्षिण देश नहीं रहा। भारत का आखिरी हिस्सा यही है। हमें काम की यहीं पर परिसमाप्ति महसूस हो रही है। हम चाहते हैं कि इस आंदोलन का पूरा तेज यहाँ प्रकट हो। हम कुछ श्रद्धा रखकर यहाँ आये हैं। वैसी श्रद्धा से ही हम हर जगह जाते हैं। पर यहाँ विशेष श्रद्धा से आये हैं, यह कबूल करना चाहिए। वह इसलिए कि हमारे मन में प्राचीन ग्रंथों के बारे में कुछ प्रेम है। यह नहीं कि उनमें कुछ गलत बातें हों, तो भी उन्हें हम शिरोधार्य समझेंगे। परन्तु हमारे मन पर उनमें जो अच्छी बातें हैं, उनका बहुत असर होता है। ऐसे ग्रंथों में भागवत ग्रंथ है। इसमें लिखा है कि जब कभी ऐसी स्थिति आयगी कि सारी दुनिया से भक्ति हट जायगी, तब भी द्रविड़ देश में भक्ति कायम रहेगी। हम नहीं जानते कि इस तरह अनुमान करने को उनके पास क्या आधार था। पर कुछ था जरूर, यह मानकर हमने यह श्रद्धा रखी। यहाँ हम देखते हैं कि गांव-गांव में एक बड़ा मंदिर होता है, उसके इर्द-गिर्द गांव होता है और छोटे गांव का मन्दिर उत्तर हिन्दुस्तान के बड़े गांव के मन्दिर की बराबरी करेगा। यहाँ के बड़े कवि भारतीयार ने उल्लेख किया है कि यहाँ के लोग, सुपुत्र बनें, इस वास्ते यह मन्दिर होते हैं और माताएं, अपने पुत्र अच्छे निकले, इस वास्ते यह तपस्या करती हैं।

हमने इस श्रद्धा से यहाँ कदम रखा है और उत्तर हिन्दुस्तान में जो कुछ पुण्य-संग्रह हुआ है, वह सब लेकर हम यहाँ आये हैं। इस वास्ते यहाँ के कुल लोगों का सहयोग हमें हासिल करना है। हमारी परमेश्वर से ऐसी प्रार्थना है कि हमारी सबकी शुद्धि ऐसी हो कि हमारी आवाज सबको मधुर मालूम हो और

इसलिए यहां कितना रहना चाहिए, इसकी मर्यादा हमने यहां रखी है। हम चाहते जरूर हैं कि कम-से-कम समय में काम हो, परन्तु हम यह भी चाहते हैं कि काम व्यापक हो, याने हम चाहते हैं कि भूदान के साथ रचनात्मक काम सहज जोड़ सकते हैं, तो जोड़ें। गांव-गांव खादी और ग्रामोद्योग चलें। ग्राम-स्वावलंबन के लिए तैयारी करने का ग्रामोदय का कार्य भी यहां हो और जातिभेद निरसन हो। तीसरी बात हम चाहते हैं कि सर्वत्र नई तालीम का विचार लोग समझें। कम-से-कम ये तीन चीजें भूदान के साथ जोड़ना चाहते हैं। इसलिए सिर्फ भूदान-कार्यकर्ताओं को नहीं, बल्कि जितने रचनात्मक कार्य करनेवाले हैं, उन सब कार्यकर्ताओं की मदद चाहते हैं और उन्हें मदद देना चाहते हैं। इसके लिए अधिक शुद्धि की जरूरत हम महसूस करते हैं। इस वास्ते हमने सोचा है कि १ जून से तीन दिन तक उपवास करे, याने पूरे तीन दिन, बहत्तर घंटे। १ तारीख को आठ बजे खायेगे और ४ तारीख को फिर आठ बजे खायेगे। यह केवल प्रयोग करने के वास्ते, चित्तशुद्धि के वास्ते और कुछ चित्तन हो सके, इस आशा से और प्रार्थना के लिए हम करना चाहते हैं।

१९५७ में यह काम किस तरह समाप्त होगा, यह जानने की एक बहुत तीव्र इच्छा लोगों के मन में रहती है। उस वासना को हमने खुद बढ़ावा दिया है। इस वास्ते उसकी पूरी जिम्मेदारी हम खुद उठाते हैं। बहुतों ने इस बारे में हमें सावधान किया था। एम. एन. राय ने लिखा था कि एक मुद्दत रखना और साथ-साथ यह भी कहना कि हृदय-परिवर्तन से काम करना है, परस्पर-विरोधी है। कुछ लोगों ने हमें यह भी कहा है कि इसमें गलत तरीके अस्तियार किये जा सकते हैं और जल्दबाजी की भावना में हिंसा भी हो सकती है। एक आक्षेप यह भी है कि इसमें सकाम वृत्ति होती है और गीता ने निष्काम-वृत्ति की सिखावन दी है, उससे इसका विरोध होता है। हम तीनों आक्षेप समझ नहीं सकते हैं, यद्यपि उन तीनों आक्षेपों का हम गौरव करते हैं। निष्कामता को हम सेवावृत्ति का प्राण समझते हैं। हम कबूल करते हैं कि अहिंसा से बढ़कर हमारे चित्त में निष्कामता के लिए अधिक आदर है। लेकिन साथ-साथ हम निष्कामता और अहिंसा, दोनों को पर्याय मानते हैं, हम दोनों को समान अर्थ के मानते हैं। इस वास्ते ऐसी मर्यादा रखने में निष्कामता पर प्रहार होता है, यह आक्षेप हमें अधिक तीव्र लगा। हम चाहते हैं कि शीघ्र-से-शीघ्र दुनिया दुःख से निवृत्त हो। ऐसा मानना निष्कामता के विरुद्ध नहीं है। इसलिए शीघ्र काम करते हैं तो निष्कामता खोते हैं, ऐसा हम नहीं मानते हैं। एक निश्चित मुद्दत हम मन में रखना चाहते हैं और हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया का आधार लेते हैं इन दो बातों में भी हमें विरोध मालूम नहीं होता। निश्चित मुद्दत इसलिए होती है कि एक ही कार्य अनंत काल तक नहीं करना होता है। एक तरीका लोगों के सामने हम रखते हैं कि इस तरीके से पांचसौ साल बाद काम होगा तो वह तरीका काम का नहीं रहता। तो निश्चित मुद्दत में काम करना

जरूरी है। परंतु अगर नहीं होता तो क्या गलत तरीके आजमायेंगे ? गलत तरीके से कभी काम नहीं होगा। गलत तरीके आजमाये जायेंगे, ऐसा डर हो सकता है। परंतु किसी-न-किसी प्रकार का खतरा उठाये बिना कोई बड़ा काम नहीं हो सकता। हिम्मत के बिना काम नहीं होता। इतनी जाग्रति रखना हमारा कर्त्तव्य है कि गलत तरीके आजमाये न जायें और उतावली न रखें।

हमने बहुत दफा कहा है कि इस काम के पीछे ईश्वर का हाथ है। हम मनुष्य में और ईश्वर में बहुत थोड़ा फर्क करते हैं। मनुष्य के दो हाथ होते हैं, ईश्वर सहस्र हाथोंवाला होता है। जहां हजारों मनुष्य इकट्ठे होते हैं, वहां ईश्वर की शक्ति प्रकट होती है, अर्थात् सज्जन धर्म-कार्य के लिए जब इकट्ठे होते हैं, तब ईश्वर प्रकट होता है। जैसे ईश्वर के हाथ हैं, वैसे राक्षसों के भी अनेक हाथ होते हैं, परंतु अनेक हाथ और धर्म-कार्य का जहां संयोग होता है, वहां ईश्वर का अधिष्ठान होता है। यह हमारा विश्वास है कि ईश्वर की मदद इसके पीछे है। इसी वास्ते लोगों के दिल में अनुकूल भावना होती है। मुद्दत रखने का तात्पर्य यही है कि हमें उपाय-संशोधन का मौका मिलना चाहिए। एक उपाय हमारे हाथ में आ गया, उसे हम पूरा आजमाते नहीं हैं तो काम नहीं बनता और फिर नया उपाय नहीं सूझता। एक उपाय को हम पूरी तरह से आजमाते हैं, निश्चित मुद्दत रखकर काम होता है, तभी समाधान होता है। पूरी शक्ति लगाने पर भी एक निश्चित मुद्दत में काम नहीं हुआ तो संशोधन का मौका मिलता है और दूसरा उपाय सूझता है। हम सबको आगाह करना चाहते हैं कि पूरी ताकत लगाये बिना समय ही नष्ट करेंगे तो वह गलत काम होगा। उपाय-संशोधन के लिए यह बहुत जरूरी है कि निश्चित मुद्दत में पूरी शक्ति से हम एकसाथ काम में लगें। गंभीरता के साथ परिणामों को भगवान पर सौंपकर निष्काम-वृत्ति से काम में लगना चाहिए।

**आठवां सर्वोदय सम्मेलन**

**काचीपुरम्, २८ मई १९५६**

## ८ : : वेदान्त और अहिंसा का समन्वय

आज इस स्थान में हमको परमेश्वर खींचकर लाया है। इस स्थान के लिए मन में आदर तो बहुत था, फिर भी इस वर्ष का सर्वोदय-सम्मेलन मैसूर स्टेट में कहीं हो, ऐसी हमारी कोशिश थी। लेकिन कई कारणों से वह नहीं हो सका। दूसरी कोशिश यह हुई कि कन्याकुमारी में सम्मेलन हो, परन्तु वहां पानी की शिकायत रही, अन्यथा सम्मेलन वही होता। जब वह भी नहीं बना तो आखिर कालडी का

निर्णय किया। इस तरह हमारी कल्पना दूसरी थी और उस कल्पना के बावजूद हमारा यहां आना हुआ तो हमने यह माना कि ईश्वर की ही इच्छा है। ३२ साल पहले 'वायकम' के सत्याग्रह के निरीक्षण के लिए बापू ने हमको भेजा था, तब हम इस प्रदेश में आये थे। ट्रेन में जाते हुए हमको भान हुआ कि नजदीक ही कहीं कालडी है तो हमने साथी से पूछा। उन्होंने कहा कि "हां, है। क्या आप वहां जाना चाहते हैं?" मैंने उनको 'ना' कहा, क्योंकि हम वायकम-सत्याग्रह देखने के लिए जा रहे थे, इसीलिए बीच में यहां आना ठीक नहीं लगा। हमारी कर्तव्य की व्याख्या में वह नहीं बैठा। लेकिन रात को जब हम सोने के लिए गये तो हमको नींद नहीं आ सकी। मेरा खयाल है कि एक-डेढ़ घंटा केवल शंकराचार्य का उपकार-स्मरण हमारे मन में चला। उसका वर्णन 'गीता-प्रवचन' के बारहवें अध्याय में आया है।

बचपन से ही शंकराचार्य के ग्रन्थों से हमारा सतत परिचय रहा है और एक अद्भुत योग ही है कि इसी समय कालडी ग्राम में शंकराचार्य का एक ग्रन्थ, जिसका कि हमने चयन किया है, आपके सामने प्रकट किया गया है। यह चयन हमने चार साल पहले किया था, जब चांडिल में हम बीमार थे। आजतक वह चीज प्रकाशकों के पास पड़ी थी। इस वक्त उसके प्रकाशन का योग ठीक समय पर ही हुआ है। यह भी हम सब ईश्वरीय योजना समझते हैं।

कालडी में हमको जरूर आना था, और इस जीवन में शंकराचार्य के चरणों में हमारी तुच्छ सेवा समर्पण होनी थी। लेकिन उनके ग्रन्थ का हमने जो चयन किया है, वह बहुत बड़ी सेवा है, ऐसा हम नहीं मानते हैं। वह तो एक छोटी चीज है। हमपर उनका बहुत उपकार है। उनके ग्रन्थ हमने कई बार पढ़े हैं, सिखाये भी हैं, पर यह भी हम बहुत बड़ी बात नहीं मानते। परन्तु जो विचार उन्होंने सिखाया, उसको हम क्षणभर भी भूलें नहीं हैं। इतना असामान्य वैराग्य उनका था कि सामने जो इतनी विशाल सृष्टि दीख पड़ती है, उसको वह बिल्कुल मिथ्या समझते थे। इतने वैराग्य के साथ अनुराग भी उनका कितना था। दुनिया को मिथ्या समझनेवाला कभी किसी देश का सेवक नहीं हो सकता, लेकिन वह भारत के महा-सेवक थे। भारत की सेवा के लिए वह देशभर में घूमते रहे। समाज में जो जड़ता थी, उसका उन्होंने सख्त विरोध किया। उसके लिए उनको दुःख भी सहन करने पड़े।

आज उनके नाम का हम बहुत आदर करते हैं, परन्तु उनके साथ हमारा क्या व्यवहार रहा था, यह बहुत-से लोग जानते भी नहीं होंगे। केरल के लोग तो जानते हैं। समाज ने उनका बहिष्कार किया था। संन्यास लेने के बाद वह माता के आखिरी दर्शन के लिए आये थे और माता की सेवा की थी। उन्होंने माता के अन्तिम समय में उनको हरि-दर्शन हो, इसके लिए भगवान श्रीकृष्ण का स्तोत्र बनाया। तदनुसार माता को हरि-दर्शन हुआ। उसके बाद माता की मृत्यु हुई। घर में वह ही अकेले थे। मां की लाश को जलाने के लिए उनकी जातिवालों ने मदद करने

से इन्कार कर दिया। दूसरी जातिवाले तो आनेवाले ही नहीं थे। उन दिनों का जाति-भेद कोई साधारण नहीं था। तब शंकराचार्य ने क्या किया? तलवार से मां की लाश के तीन टुकड़े किये और एक-एक टुकड़ा दूर ले जाकर जलाया। आज हम उनका इतना आदर करते हैं कि यहांपर उनकी इस कृति के स्मरण के तौर पर लाश को ले जाने के पहले उसपर तीन रेखाएं खींचने का रिवाज है। उस समय का समाज उनके लिए इतना कठोर था, लेकिन उन्होंने उसकी शिकायत नहीं की, बल्कि उनके कुछ ग्रन्थों में उसका कोई उल्लेख तक नहीं है।

वह तो इस दुनिया को मिथ्या ही समझते थे और उसकी असलियत को पहचान गये थे। ऊपर के कवच को वह नहीं मानते थे। उनकी प्रतिभा असामान्य थी। बुद्ध भगवान के बाद इतनी प्रतिभा शायद ही किसी दूसरे व्यक्ति में दीख पड़ी हो। उनके विचारों में हमारी इतनी श्रद्धा बैठ गई है कि हमको भी यह दुनिया सत्य नहीं प्रतीत होती है। तिसपर भी हम काम करते हैं। वह भी काम करते रहे। कर्म-संन्यास का विचार उन्होंने लोगों के सामने रखा, लेकिन समाधिस्थ होने तक निरन्तर वह कर्म करते रहे। उनकी कर्म की व्याख्या स्थूल नहीं थी। किसी भी कर्म का कोई अहंकार अपने पर नहीं चिपकना चाहिए, इसे वह संन्यास समझते थे। वह निरन्तर कर्मशील संन्यासी थे। उन्होंने हिन्दूधर्म को बड़ी जड़ता से बचा लिया। अगर शंकराचार्य नहीं होते तो पाश्चात्य देशों में विज्ञान के साथ ईसाई धर्म का जैसा विरोध उपस्थित हुआ, वैसा विरोध यहां भी उपस्थित हो सकता था। बात जाहिर है कि यूरोप में वैज्ञानिकों के साथ चर्च का कितना घोर विरोध हुआ था, परन्तु शंकराचार्य ने स्पष्ट कह दिया कि विज्ञान के विरोध में धर्म कोई बात नहीं कर सकता। विज्ञान का विषय दूसरा है और धर्म का दूसरा। विज्ञान का विषय है सृष्टि का ज्ञान और धर्म का विषय है अंतरात्मा का ज्ञान। दोनों के विषय ही बिल्कुल भिन्न हैं। वे परस्पर पूरक हैं। ये दोनों विरोधी नहीं हो सकते, बल्कि उन्होंने तो बहुत ही अद्भुत लिख रखा है, “न हि श्रुति-शतमपि अग्निः अनुष्णः इति ब्रुवन्प्रामाण्यम् उपैति”। अर्थात्—सैकड़ों श्रुति-वचन भी, ‘अग्नि ठंडा है’, ऐसा अगर कहें, तो वह प्रमाण नहीं हो सकता।

कोई भी रेशनलिस्ट जैसा वाक्य लिख सकता है, वैसा यह है? कौन रेशनलिस्ट इससे अधिक कह सकता है? तिसपर भी वह परम नम्र थे और श्रुति को तो वह हजार माता-पिता से भी अधिक हितैषी समझते थे। इतनी श्रद्धा वह श्रुति पर रखते थे। इसीलिए श्रुति-वाक्यों की एक-वाक्यता करने के लिए उन्होंने जितनी मेहनत की, वह उनके ग्रंथों में दीख पड़ती है। उनके सारे भाष्य याने श्रुति-वचनों की एक-वाक्यता। अपनी असामान्य निष्ठा श्रुति पर होने पर भी श्रुति-वचन विज्ञान के खिलाफ बोलेगा तो वह प्रमाण नहीं होगा, ऐसा उन्होंने लिख दिया। उसके परिणामस्वरूप हिन्दूधर्म जड़ता से मुक्त हुआ और धर्म-श्रद्धा बुद्धियुक्त

बनी। हम मानते हैं कि हिंदूधर्म और हिन्दुस्तान पर उनका बड़ा भारी उपकार है। उनके ही अनेक शिष्यों ने हिन्दुस्तान को आगे बढ़ाया। उधर बंगाल में रामकृष्ण परमहंस हो गये। वे शांकर-विचार के ही एक शिष्य थे। इधर रमण महर्षि हुए। उनकी सारी साधना भी शांकर-विचार पर पड़ी है। इस प्रदेश में नारायण गुरु हो गये। उनका कुल-का-कुल विचार शांकर-विचार है। उधर महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर महाराज हो गये, जो वहाँ के ज्ञानियों के गुरु माने जाते हैं। उनका भी कुल-का-कुल विचार शांकर-विचार है। इस तरह कुल हिन्दुस्तान पर उनके विचार का परिणाम हुआ।

उन्होंने भूदान-यज्ञ के लिए तो बड़ा भारी आशीर्वाद ही दे दिया। ईशावास्य में एक मंत्र है—“**मा गृधः कस्य स्वद धनम्**”—किसीके भी धन की वासना मत रख। इसका बिल्कुल ही सरल अर्थ यही होगा कि दूसरे किसीके धन की वासना तू मत रख। परन्तु शंकराचार्य ने उसका अद्भुत ही अर्थ लिया। **मा गृधः कस्य स्वद धनम्**। **कस्य ? परस्य एव वा**। अपने भी धन की वासना मत रख, दूसरे के भी धन की वासना तू मत रख। यह खयाल ही गलत है कि यह धन मेरा है और वह दूसरे का। मैं इसका मालिक हूँ और वह उसका। यह कुल धन परमेश्वर का है और वह सारे समाज की सेवा में लगना चाहिए। यह हमारा है और यह ‘मेरा’ नहीं है, यह ‘किसीका’ भी नहीं है। इसीलिए उन्होंने भाष्य किया कि किसी भी धन की वासना, याने अपने भी और दूसरे के भी धन की।

भूदान-यज्ञ पर आधुनिक अर्थशास्त्र आक्षेप करते हैं—“दान की बात लोगों पर उपकार करने की है! क्या जमीन पर किसीकी मालकियत है? अगर मालकियत नहीं है तो फिर ‘दान’ शब्द क्यों इस्तेमाल करते हैं?” इसके जवाब में बाबा ने शंकराचार्य को ही वकील बनाया और उसने बाबा का केस अदालत में अच्छी तरह साबित कर दिया। दान के विषय में शंकराचार्य की व्याख्या है कि ‘**दानं संविभाग**’। दान याने सम्यक् विभाजन। ठीक तरह से सब लोगों में विभाजन होगा, यह है दान का अर्थ। याने बिल्कुल आधुनिक अर्थशास्त्र जो व्याख्या करेगा, वही यह व्याख्या है—बिल्कुल कार्ल मार्क्स की व्याख्या।

यह प्रतिभा का लक्षण है। उस जमाने में भूमि का तो कोई मसला नहीं था, परन्तु उनकी प्रतिभा यह कहती थी कि धन पर क्या मालकियत करते हो, वह तो ईश्वर-भक्ति के विरुद्ध बात हो जाती है। ईश्वर शब्द का अर्थ ही है मालिक। हम अगर खुद मालिक बनते हैं तो हम ईश्वर की जगह ले लेते हैं। यह तो नास्तिकता है। इसलिए मालकियत ईश्वर-भक्ति के विरुद्ध है, यह शंकराचार्य ने परख लिया। जबतक मालकियत नहीं छोड़ते हैं, तबतक हम भक्त होते ही नहीं, यह सारा ईश्वर का है, उसपर किसीकी मालकियत नहीं हो सकती, यह भक्ति का विचार है। यह मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा हूँ। यह मैं शंकराचार्य की ओर से कह रहा हूँ।

तीन साल पहले बोधगया में सम्मेलन हुआ था। वहाँ हमने समन्वय की बात करते हुए कहा था कि जब वेदांत और अहिंसा का समन्वय होगा, तभी हिन्दुस्तान का उद्धार होगा। बुद्ध भगवान् के नाम से मैंने वहाँ भूदान का काम चलाया। तीन साल के बाद आज हम कालड़ी आ पहुँचे हैं। यह वेदांत का स्थान है। बोधगया अहिंसा का स्थान था, वहाँ कारुण्य का दर्शन हुआ था, यहाँ आत्म-साक्षात्कार हुआ।

करुणा की बुनियाद क्या है? ईसामसीह ने कहा था कि पड़ोसी पर वैसा ही और उतना ही प्यार करो, जैसा और जितना अपने पर कर सकते हो। यह छोटी बात नहीं है। पड़ोसी पर थोड़ा प्यार करो, यह बात तो हम समझ सकते हैं, लेकिन जैसा और जितना हम अपने पर प्यार करते हैं, उतना और वैसा ही प्यार हम अपने पड़ोसी पर भी करें, यह जब ईसामसीह कहते हैं तो वह बहुत बड़ी चीज है। “लव दार्ई नेबर, एज दार्ईसेल्फ़”—यह भाषा है। कोई भी मन में सवाल करेगा कि कैसे इतने ही और ऐसे ही प्रेम की अपेक्षा की जाती है। उसका उत्तर वेदांत देता है। वेदांत कहता है कि यह भेद उपर-ऊपर का है। आत्मा में भेद नहीं है। इस तरह वेदांत और कारुण्य का समन्वय होता है। यह ईश्वरीय संकेत है कि हिन्दुस्तान में वेदांत और अहिंसा का समन्वय होना चाहिए। इसीलिए वह हमको कालड़ी में खींचकर लाया। तीन साल के अंदर बारहसौ साल का काम हमने कर लिया। शंकराचार्य और बुद्ध के जमाने में बारहसौ साल का अंतर है, और बोधगया और कालड़ी के सम्मेलन में तीन साल का। याने तीन साल में बारहसौ साल का काम हुआ। ऐसे ही वेग से हम काम करेंगे तो शीघ्र-से-शीघ्र हमको इस देश में साक्षात्कार होगा। हम आशा करते हैं कि इस केरल प्रदेश में ऐसी प्रेरणा सब लोगों को होगी।

इस काम के लिए यह समय केरल देश में बहुत ही अनुकूल है। केरल की समाजिक, राजनैतिक परिस्थिति और आध्यात्मिक वृत्ति भी इसके लिए अनुकूल है। ईसाई पंथवाले भी बोल रहे हैं कि भूदान का काम तो जरूर होना ही चाहिए। तो धर्म-ग्रन्थों में भी कोई मतभेद नहीं रहा। आर्थिक दृष्टि से ग्रामदान, भूदान की अत्यंत आवश्यकता इस देश को है। इस तरह सब तरफ देखते हुए ऐसे काम के लिए इससे अधिक अनुकूल काल की कल्पना हम कर ही नहीं सकते हैं। उस हालत में परमेश्वर आपके प्रदेश में यह सम्मेलन लाया है। हम आशा करते हैं कि इस प्रदेश के सारे कार्यकर्त्ता बिल्कुल एक होकर काम में लग जायेंगे।

कार्यकर्त्ता कौन है? क्या कोई निर्दिष्ट कार्यकर्त्ता हैं? सारी भूदान की समितियाँ तो हमने तोड़ डालीं। हमने पहचान लिया है कि वह मिथ्या है। सत्य यही है कि जनता स्वयमेव खड़ी हो जाय। सारे लोग जो यह सुन रहे हैं, वे ही कार्यकर्त्ता हैं। यह सारा जो बोल रहे हैं, वही कार्यकर्त्ता हैं। हम सारे भगवान् के सेवक हैं और भगवान् का काम करनेवाले हैं। इस काम के लिए कार्यकर्त्ता की कभी कमी नहीं रह सकती।

आज रवींद्रनाथ टैगोर का जन्म-दिन है। हम आशा करते हैं कि उनका स्मरण भी, हमने जो महान् स्मरण अभी किये हैं, उनमें समाविष्ट होगा। रवींद्रनाथ ठाकुर का मंत्रवाक्य था—ईशावास्यमिदं सर्वम्—जो ईशावास्य उपनिषद् का पहला मंत्र है। देवेंद्रनाथ टैगोर, जोकि उनके पिता थे, उन्होंने इस वचन के आधार पर समाज के लिए अपने सर्वस्व का त्याग किया था। उसीमें से रवींद्रनाथ टैगोर की विश्व-मानव वृत्ति निर्माण हुई थी। उन्होंने जो संस्था बनाई, उसका नाम भी उन्होंने 'विश्वभारती' रखा। विश्वव्यापक दृष्टि रखनेवाले वह कवि थे। उनका भी स्मरण इस स्मरण के साथ जुड़ जाता है। इस तरह काम करने के लिए भगवान सब तरह से अनुकूल होकर हमारा उत्साह बढ़ा रहा है।

नवां सर्वोदय-सम्मेलन

कालड़ी, ८ मई १९५७

## ६ : : विश्व-शांति का आधार

आज मैं उस विठोवा-मंदिर के शिखर के सामने बैठकर बोल रहा हूँ, जिसका दर्शन कर पांच-छः सौ साल से हरिजन वापस लौटते थे। वह यात्रा के लिए जाते थे, लेकिन उन्हें मंदिर के अंदर जाकर भगवान का दर्शन नहीं मिलता था, तो भी उनकी श्रद्धा अटूट रही। हिन्दू-धर्म की सबसे श्रेष्ठ उपासना उन लोगों ने की है और समाधान माना है कि हमें मंदिर के शिखर का दर्शन होता है, तो हमारी यात्रा सफल हो गई। उन दिनों वे लोग पैदल आते थे और अन्दर प्रवेश नहीं मिलता था तो उसकी शिकायत करने के बजाय वे समझते थे कि शिखर का दर्शन हुआ तो भगवान का दर्शन हुआ। भगवान का दर्शन होता है और हर जगह होता है, जो उसके लिए प्यासा होता है।

कालपुरुष अपना काम कर रहा है। दस साल पहले एक महापुरुष (साने गुरुजी) ने यहां पर अनशन किया था। हरिजनों की वेदना उनके हृदय में प्रकट हुई और उनके अनशन से मंदिर के दरवाजे हरिजनों के लिए खुल गये, लेकिन फिर भी मंदिर में अहिन्दुओं का प्रवेश अभी तक नहीं हुआ था। हमने नम्रतापूर्वक जगन्नाथपुरी में उसकी कोशिश की थी, लेकिन जहां से नानक को वापस लौटना पड़ा था वहीं से मुझे भी वापस लौटना पड़ा, इसलिए कि एक बहुत ही श्रद्धा-भक्तिमती फ्रेंच महिला मेरे साथ थीं। मेने उचित समझा कि जहां उस महिला का प्रवेश नहीं हो सकता है, वहां मुझे नहीं जाना चाहिए, बावजूद इसके कि मंदिर की मूर्ति में मेरी ठीक वैसी ही गूढ़ श्रद्धा है, जैसी आम जनता की होती है और जिस श्रद्धा से लालायित

होकर अत्यन्त वेदना, यंत्रणा और अपमान सहन करके वे यहां आते रहे। लेकिन मैंने समझा कि मुझे वहां नहीं जाना चाहिए।

दूसरा प्रयत्न केरल में गुरुवायूर में किया था। वहां के लोगों ने इच्छा प्रकट की कि मैं अपना नित्य का रामायण-पाठ मंदिर में जाकर करूं। मंदिरवाले इसमें बड़े प्रसन्न थे। लेकिन जब वे बुलाने आये तो मैंने कहा कि “मेरे साथ कुछ ईसाई और मुसलमान भाई भी हैं। वे मेरे साथ रामायण-पाठ में बैठते हैं। अगर आप उनके साथ मुझे आने देंगे तो मैं आऊंगा।” उन्होंने कहा कि आपका उद्देश्य हम समझ सकते हैं, लेकिन हम लाचार हैं। मैंने अत्यंत नम्रतापूर्वक उनसे कहा कि जमाना बदल रहा है। इसका थोड़ा-सा खयाल करें कि मैं वहां नहीं जा रहा हूं, इससे मुझे कितना दुःख होना संभव है। मेरी आत्मा कह रही है और इसीलिए मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करता हूं कि उससे ज्यादा दुःख गुरुवायूर के देवता को होगा कि बाबा मेरे पास आना चाहता था, लेकिन नम्रता और भक्ति से आनेवाले उस मेरे प्यारे बन्दे को मेरे पास नहीं आने दिया! इस घटना पर केरल के सभी अखबारों में चर्चा हुई। कुछ अखबारों ने मेरा विरोध किया, पर बहुत-से अखबारों ने उनका विरोध किया, जिन्होंने मुझे वहां जाने की इजाजत नहीं दी थी। मुझे लग रहा है कि काल-पुरुष एक मांग कर रहा है।

एक भाई ने मुझसे कहा कि “गांधीजी की एक मर्यादा थी। जिन मंदिरों में हरिजनों को नहीं जाने देते थे, वहां उन्हें जाने देना चाहिए, यही उनका आग्रह था, लेकिन आप इससे ज्यादा आग्रह क्यों रखते हैं?” मैंने कहा, “इसमें अन्तरात्मा जो प्रेरित करती है, वही करता हूं। अपने विचारों के लिए मैं अपने को ही परिपूर्ण जिम्मेदार मानता हूं।”

यहां पंढरपुर में जब आना हुआ, तब चर्चा चली कि मैं अहिन्दुओं को लेकर मंदिर में घुसनेवाला हूं, खास तौर से मुसलमानों का नाम लिया जाता था। लेकिन लोग जानते नहीं कि इस तरह घुसना मेरे लिए असंभव है। आक्रमण करना न मेरे शील में है, न मेरे विचार में है और न मेरे गुरु ने मुझे ऐसा सिखाया है। मुझे कोई जबरदस्ती नहीं करनी है। पंढरपुर के विठोबा के लिए मेरे मन में जो भक्ति है, उसका साक्षी और कोई नहीं हो सकता है, उसका साक्षी साक्षात् भगवान ही हो सकता है।

पुंडलीक के मंदिर के संचालक मेरे पास आये और उन्होंने कहा कि आप अपने सब साथियों के साथ मंदिर में आ सकते हैं। उसके बाद रुक्मिणी माता के मंदिर के ट्रस्टी आये। अन्त में विठोबा के मंदिर के ट्रस्टी भी आये। मैंने उनसे लिखित आमंत्रण मांगा और विनोद में कहा कि “रुक्मिणी ने भी स्वयं भगवान को पत्र लिखा था।” उसके बाद उन्होंने मुझे पत्र दिया और बड़े प्रेम से मुझे वहां बुलाया। उन्होंने मुझपर जो उपकार किया है, उससे बढ़कर उपकार आज तक किसीने नहीं किया है।

मेरी आंखों से घंटेभर अश्रुधारा बहती रही; क्योंकि मुझे वहां कोई पत्थर नहीं दीखा। जब मैं मंदिर में जाने लगा, तब किनकी संगति में जा रहा था? (इस समय विनोबाजी रुके। उनकी आंखों से आंसू बहने लगे।) वे थे—रामानुज, नम्मालवार, ज्ञानदेव, चैतन्य, कबीर और तुलसीदास। धन्य है वह मंदिर! बचपन से जिनकी संगति में आज तक रहा, उन सबकी मुझे याद आ रही थी और जिनकी संगति में मैं पला, उन सबका स्मरण मुझे होता था। दर्शन के लिए मैंने जब उस मूर्ति के सामने अपना मस्तक झुकाया, तब मैंने अपनी मां को वहां देखा, अपने पिता को वहां देखा और अपने गुरु को वहां देखा। मैंने किसको वहां नहीं देखा? जितने लोग मुझे पूज्य और प्रिय हैं, वे सब मुझे वहां दिखाई दिये।

मेरे साथ दो बहनें थीं फातमा और हेमा। एक मुसलमान, दूसरी ईसाई। पुजारियों ने दोनों से कहा कि आप भगवान को स्पर्श करिये। यहां एक रिवाज है, भगवान को आलिंगन देते हैं। दूसरे मंदिरों में ऐसा रिवाज नहीं है। वहां भगवान को छूते नहीं हैं। “रखुमादेवी वरु। हात विण स्पर्शिले, चक्षूविण देखिले। ब्रह्म ने माये”—बिना आंख के भगवान को देखा और बिना हाथ से भगवान को स्पर्श किया! तो फातमा से और हेमा से कहा गया कि तुम भगवान को छुओ। दोनों ने भगवान को स्पर्श किया। दोनों के स्पर्श से मेरा खयाल है कि भगवान का शरीर रोमांचित हुआ होगा। एक लड़की मुसलमान है, जिसने एक जैन लड़के के साथ शादी की है और वह शादी मेरे हाथों से ही हुई है। दूसरी जर्मन लड़की है, जो अपने देश को, माता-पिता को, भाई-बहन को छोड़कर हिन्दुस्तान की सेवा में आई है। गांधीजी के विचार पढ़कर, यहां जो छोटा-सा काम चल रहा है, उसे देखने के लिए वह आई है। ईसामसीह का नाम उसने नहीं छोड़ा है। उसे छोड़ने की जरूरत भी नहीं है। उसे वहां प्रवेश मिला तो मेरे दिल को अत्यंत शांति मिली। काल-पुरुष अपना काम कर रहा है, इसका दर्शन मुझे हुआ।

आज विश्व में शांति और प्रेम-शक्ति बढ़नी चाहिए। मंदिर-प्रवेश की यह बहुत बड़ी घटना है। इसने शांति और प्रेम को बढ़ावा दिया है। कालपुरुष बहुत विचित्र है। उसके काम करने के ढंग बड़े विचित्र हैं। इस साल हमारे पूजनीय नेता मौलाना अबुल कलाम आजाद को वह यहां से ले गया। ऐसे पुरुषों के लिए शोक करना मना है। मेरा खयाल है कि वह ऐसे मनुष्यों में से थे, जिन्हें अरबी भाषा में ‘नफसुल मुत्तमइन’ यानी ‘समाधान पाये हुए पुरुष’ कहते हैं। वह राजनीति में काम करते थे अवश्य, लेकिन उनके चित्त में जो चीज थी, वह अगर किसीको देखनी है, तो उसे कुरान शरीफ के भाष्य में उनकी प्रस्तावना पढ़नी चाहिए। अल्फातिहा पर उन्होंने जो लिखा है, वह बेजोड़ है। उसमें उनका हृदय खुल गया है। उससे मालूम होता है कि वह कितने उदार थे, सर्वधर्म-समभावी थे और सामान्य संसार से ऊपर रहने की कोशिश करते थे। ऐसे पुरुष को काल-पुरुष ले गया।

ऐसे ही दूसरे लोगों को भी वह ले गया। लेकिन उनमें से तीन पुरुषों का मुझसे व्यक्तिगत, पर बहुत ज्यादा संबंध आया है और उन तीनों ने भूदान-ग्रामदान के सेवा का क्या आदर्श होना चाहिए, यह उपस्थित किया है। इसी साल तीनों चले गये। बाबा राघवदासजी, गोपबाबू और लक्ष्मीबाबू, तीनों घरवार सब छोड़कर निरन्तर यात्रा में थे।

**माता पिता, बंधु सखा छाड़ि सब कोई।**

**अमुवन जल सींचि-सींचि प्रेम-बेलि बोई ॥**

बाबा राघवदास अत्यंत निर्मल पुरुष थे—बिल्कुल श्रीलिया। उनके हृदय को द्वेष या वैर कभी छू नहीं गया। वह यात्रा करते हुए चले गये। बाबाजी ने जब भूदान-यात्रा करने का तय किया, तो उन्हें १५० से अधिक संस्थाओं से इस्तीफा देना पड़ा था। उत्तर प्रदेश का बच्चा-बच्चा बाबाजी को जानता है। ४० साल तक निरन्तर घूमकर उन्होंने सेवा की है। आखिर में वह सब छोड़कर भूदान-यात्रा में लगे थे, उन्हें सिर्फ दो-चार दिन बुखार आया और वह चले गये। श्री गोपबाबू भी इसी तरह से काम के लिए कहीं गये हुए थे। वहां से शाम को वापस लौटे, भगवान के पास मानों सोने के समय ही जाना था, उसी तैयारी में चंद घण्टों में भगवान के पास पहुंच गये।

उनके चंद ही दिनों के बाद लक्ष्मीबाबू ठीक उसी तरह से चले गये। उस दिन वह १० मील की यात्रा कर चुके थे, दिनभर का काम पूरा कर चुके थे, शाम की प्रार्थना भी हो चुकी थी, फिर सोने के पहले पूर्व-तैयारी में थे कि चंद घंटों में चले गये। ये लोग भी गांधीजी की तरह दिनभर का काम पूरा कर चुके थे। गांधीजी रोजाना जितना कातते थे, उतना कात चुके थे और प्रार्थना के लिए निकले थे। उस दिन प्रार्थना के लिए उनके मन में कितना भक्तिभाव भरा हुआ था, उसकी कल्पना हम कर सकते हैं, क्योंकि उस दिन किसीसे बातचीत करने में उन्हें प्रार्थना के लिए १० मिनट देरी हुई थी। प्रार्थना में वह एक मिनट की देरी नहीं करते थे। इसलिए उस दिन उनके मन में उतावली थी कि आज देरी हो रही है। यों परमेश्वर की भावना से भरे हुए और चित्त में कुछ अपराध की भी भावना लिये हुए वह प्रार्थना के लिए पहुंचे और भगवान् ने उन्हें ऊपर से ही उठा लिया। इससे अधिक धन्य मृत्यु क्या हो सकती है !

एक भाई ने मुझसे तत्त्वज्ञान का सवाल पूछा था कि “गीता में कहा है कि जो भक्त होते हैं, उनके मन में किसीके लिए उद्वेग नहीं होता है। इतना ही नहीं, बल्कि दूसरों के मन भी उसके लिए भय या उद्वेग नहीं होता है। गांधीजी अगर पूर्ण भक्त थे तो उनपर इस तरह द्वेष का अस्त्र कैसे लागू हुआ ?” मैंने जवाब दिया कि गांधीजी व्यक्ति नहीं थे और वह यदि व्यक्ति थे, तो इतने निर्भय और निर्मल थे कि हमारा बड़ा भाग्य है कि हमने अपनी आंखों से उन्हें देखा और उनके चरणों

में बैठकर कुछ काम किया। परंतु वह साधारण व्यक्ति नहीं थे, सारे समाज के पापों का बोझ सिर पर ढोनेवाले महापुरुष थे। ईसाई समाज ईसामसीह के बारे में आजकल कहता है कि उन्होंने दुनिया के पापों का प्रायश्चित्त किया। ईसा तो ईसा ही थे। आज वह हमारे लिए देवता-स्वरूप है। उनके साथ दूसरे किसी पुरुष की तुलना अपने मन में भी नहीं करता हूं, लेकिन इतना कहने में कोई दोष नहीं है कि जिस तरह दुनिया के पाप की जिम्मेदारी ईसामसीह महसूस करते, वैसे ही महात्मा गांधी सबके पापों की जिम्मेदारी महसूस करते थे। हमें लगता है कि उन्होंने हम सब लोगों के पाप अपने सिर पर ढोये, इसीलिए उनका जो अंत हुआ, वह अंत धन्य है। ये तीनों पुरुष भी गांधीजी की तरह दिनभर का काम पूरा करके भगवान के पास गये। तीनों कहते थे कि इसी प्रकार की मृत्यु आनी चाहिए। इसलिए भगवान ने उन्हें उठा लिया। इसमें उसकी असीम करुणा, असीम कृपा है। यही सोचकर मेरी कमर नहीं टूटी। मैंने सोचा कि इसमें भगवान की करुणा है कि वह भक्तों को ठीक उसी ढंग से अपने-आप बुला लेता है, जैसा कि वे चाहते हैं। यह सोचकर मैंने शक्ति महसूस की। आज सुबह रमादेवी मिलने आई थीं। उनसे बात करते हुए मैंने यही विचार रखे थे और मुझे कहने में खुशी होती है कि रमादेवी और उनके साथी, उड़ीसा के भाई-बहन इस मृत्यु के बाद काम करने के लिए और अधिक सन्नद्ध हो गये हैं। वे घर-घर सर्वोदय-पात्र पहुंचावेंगे—ऐसा उन्होंने संकल्प किया है। उसे वे गोपबाबू का स्मारक समझते हैं। मैं मानता हूं कि उनका इससे बेहतर स्मारक हो नहीं सकता।

हरकोई विश्व-शांति चाहता है। सारे विश्व को इस वक्त उसकी बहुत बड़ी तृष्णा है। लेकिन हममें से एक महापुरुष उसके लिए कोशिश कर रहा है। भंसारली-भाई के उपवास का आज साठवां दिन है। उन्होंने ६६ दिन उपवास करने की बात सोची है। विश्व-शांति के लिए और आणविक अस्त्रों के प्रयोग बंद हों, ऐसी भगवत् प्रार्थना के लिए वह उपवास कर रहे हैं। मैंने उन्हें पत्र लिखा कि “आप तप कर रहे हैं, लेकिन उसे आप तप नहीं मानते हैं, बल्कि भगवान् की प्रार्थना मानते हैं, यही आपके काम का बल है। उससे आपका यह तप बड़ा बलवान हो जाता है और आशा है कि भगवान इसमें आपको परिपूर्ण शांति देगा।” उनकी तरफ से अभी आये हुए एक भाई ने कहा कि “भंसारलीभाई कहते थे कि आज तक मैंने बहुत से प्रसंगों में बहुत उपवास किये हैं, लेकिन इन उपवासों में जितनी शांति और आनंद मुझे हासिल हुआ है, उतना उसके पहले कभी भी नहीं अनुभव हुआ था। मुझे मालूम ही नहीं हो रहा है कि मैं खाता नहीं हूं। उपवास चल ही रहा है और ६६ दिन परमेश्वर की कृपा से निभ जायेंगे।”—यह बहुत बड़ी चीज है और इससे हम सबका बल बढ़ना चाहिए।

कोई अगर यह पूछे कि इन उपवासों का क्या परिणाम होगा? क्या जिस आशा

से उपवास किये जाते हैं, वह आशा साकार ? होगी, तो इसका मैं जवाब देता हूँ। यह सवाल हमारे लिए शोभादायक नहीं है। कौन-सी ऐसी चीज है जो भगवान की प्रार्थना से सफल नहीं हुई है ? भंसालीभाई को जहांतक मैं जानता हूँ वह ऐसे चंद पुरुषों में से हैं, जिन्हें भगवान ने भेजा है। वह बिल्कुल निर्मल, बालकवत् हैं। इसलिए उनकी यह प्रार्थना किस तरह काम करेगी, हम नहीं समझ सकते हैं, परंतु वह अवश्य काम करेगी, यह हम समझ सकते हैं। मैं आप सबकी तरफ से उनकी प्रार्थना में शामिल हूँ और सर्वोदय-सगाज की तरफ से सारी दुनिया को मैं कहना चाहता हूँ कि हम कमजोर हैं, हममें कोई ताकत नहीं है, परंतु भगवान ने ये आण-विक अस्त्र मनुष्य के नाश के लिए नहीं, बल्कि कल्याणके लिए ही भेजे हैं। इसलिए भंसालीभाई जैसा मनुष्य विश्वशांति के लिए इतना तप करने के लिए तैयार है।

इस साल प्यारेलालजी ने ऐसा काम किया है कि उसके लिए हमें उनका बहुत ऋणी होना चाहिए। 'गांधीजी के अंतिम दर्शन' ('लास्ट फ्रेंज') किताब उन्होंने दो खण्डों में प्रकाशित की है। वे दोनों खंड एक-से-एक बढ़कर हैं। दूसरा खंड मैं अभी बारीकी से देख रहा हूँ। प्यारेलालजी ने जो चीज उपस्थित की, वह उनके सिवा दूसरा कोई नहीं कर सकता था। मैं चाहता हूँ कि वह सारा लिखने में उनका जो अनुभव हुआ है, उसका कुछ सारांश इस सम्मेलन में सुनायें। गांधीजी के मन में ट्रस्टीशिप का सिद्धांत किस तरह का था, वह आगे क्या करना चाहते थे, इस बारे में प्यारेलालजी जितना जानते हैं, उतना और कोई नहीं जानता है।

आज मेरा दिल भरा हुआ है। सुबह मेरे कुछ मित्र मुझसे मिलने आये थे। वे कह रहे थे कि सम्मेलन में देश के सामने कई समस्याएं हैं, उनके बारे में कुछ सोचना होगा। मैंने कहा कि मैंने अपने मन में यह सोचा है कि यह सम्मेलन स्नेह-सम्मेलन बने। अगर यह सचमुच में स्नेह-सम्मेलन हो सके तो हमारा काम बन गया। दुनिया में बहुत-से सम्मेलन होते हैं, कुछ स्पर्धा-सम्मेलन, कुछ मत्सर-सम्मेलन, कुछ अविश्वास-सम्मेलन, कुछ सम्मेलन शांति के नाम से होते हैं, लेकिन अशांति के कारण बनते हैं। यों तरह-तरह के सम्मेलन होते हैं, लेकिन हमारा यह सम्मेलन सचमुच स्नेह-सम्मेलन साबित हो जाय तो हम सब खुशी में नाचेंगे। इस दुनिया में जिस चीज की कमी है, जिसकी बहुत जरूरत है, वह चीज है स्नेह।

स्नेह का मतलब आसक्ति नहीं है। स्नेह मेरी व्याख्या के अनुसार है—प्रति-रोधी प्रेम, अनुरोधी प्रेम नहीं है। अनुरोधी प्रेम में सामनेवाला जब मुझपर प्रेम करता है, तब मैं भी उसपर प्रेम करूंगा। यह जो प्रतिक्रिया-रूप प्रेम पैदा होता है, उसमें आत्मा की कोई शक्ति प्रकट नहीं होती है। उसमें प्रेम ही प्रेम को खींच लेता है। ऐसा प्रेम जानवरों में भी होता है। गाय और कुत्ता भी पहचान लेते हैं कि सामनेवाला प्रेम करता है और इसलिए वे प्रेम का जवाब प्रेम से देते हैं। यह तो प्रेम का स्वभाव ही है। पर प्रतिरोध-प्रेम में अगर कोई हमारा वैर करता

है, हमसे द्वेष करता है, तो उसपर भी प्रेम करना होता है। यह जो प्रेम है, वह 'स्नेह' कहलाता है। जो धर्षण में डाला जाय और सारी दुनिया में ठंडक पैदा करे, ऐसा पराक्रमी प्रेम। द्वेष करनेवाले पर भी जिसका आक्रमण होता है, वह प्रतिरोधी प्रेम कहलाता है। पूछा जा सकता है कि 'क्या सामान्य जीवों के लिए यह संभव है?' में न अत्रातापूर्वक कहना चाहता हूं कि यह पूर्णतः संभव है। यह इस जमाने के लिए अत्यंत आवश्यक है। कार्ल मार्क्स ने हमें एक बहुत बड़ी चीज सिखाई है कि दुनिया में कुछ गुण और क्रियाएं ऐतिहासिक आवश्यकता से पैदा होती हैं।

प्रतिरोध-प्रेम इस जमाने की मांग है। इसके अलावा हमारे संतों की सिखावन है और भारत की हड्डी में यह चीज पड़ी है। इसलिए वह यहां क्यों नहीं पैदा होगी? द्वेष करनेवाले पर हम प्रेम क्यों न करें? वह हमारे हर दोष की पूरी छानबीन करके दुनिया के सामने रखता है। उससे अधिक उपकार न मां कर सकती है, न बाप, न भाई। उससे हमें जो सीखने को मिलता है उतना गुरु से भी नहीं मिलता है। वह हमें बहुत बड़ा शिक्षण देता है और अंतर्मुख बनने की बात सिखाता है। भगवान इस तरह से एक अत्यंत उपकारकर्ता के रूप में प्रकट होंगे। फिर भी अगर हम उन्हें नहीं पहचानेंगे तो किस रूप में पहचानेंगे? हम पर ध्यान करनेवाले के रूप में प्रकट होंगे तो हम उन्हें मां, भाई या मित्र समझेंगे। लेकिन यदि वह अत्यंत उपकारकर्ता के रूप में प्रकट होकर हमारे दोषों का विश्लेषण करते हैं तो किस रूप में पहचानेंगे? चाहे उनमें से कुछ गलत भी हों, तो भी वे हमें अंतर्मुख होने के लिए प्रेरित करते हैं। गीता में 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' आदि जो भक्त के लक्षण आये हैं, उनमें ये 'अद्वेष्टा' शब्द पर रामानुज ने जो भाष्य लिखा है वह अप्रतिम है। उन्होंने कहा है, "ईश्वर प्रेरितानि भूतानि यद्वसति"—जब कोई हमसे द्वेष करता है तो ईश्वर-प्रेरित होकर करता है। भक्त किसीसे द्वेष नहीं करता है, क्योंकि द्वेष करनेवालों में परमेश्वर की प्रेरणा का आविर्भाव होता है और उसका हमपर बहुत उपकार होता है। मुझे इसका बहुत अनुभव है।

मुझपर अगर किसीने ज्यादा-से-ज्यादा उपकार किया है तो वह है, जिसने मेरी निन्दा की, मेरे दोष प्रकट किये। इसलिए मेरा अपना नियम बन गया है कि कोई मेरी व्यक्तिगत निन्दा करेगा तो उसको मेरी ओर जवाब नहीं दिया जायगा, क्योंकि मुझे उसमें उपकार का अनुभव आता है। इन सात सालों में मेरी स्तुति चली, पर इधर आने पर कुछ थोड़ी निन्दा होने लगी तो मुझे खुशी हुई। येलवाल की परिषद् ने तो हमारे काम पर मोहर लगाई। बड़े-बड़े नेताओं ने, जिनकी में इज्जत करता हूं, जिनके लिए मेरे मन में बहुत आदर है, इस काम की इज्जत की और स्तुति की। मुझे ईसामसीह का वाक्य याद आया, "तुझे धिक्कार है, जब सब तेरी प्रशंसा करते हैं।" इसलिए मुझे अच्छा लगने लगा कि कुछ टीका, कुछ

निन्दा चली है। अगर हमारा थोड़ा-सा दोष देखकर किसीने उसे हमारे सामने रखा, तो हमें मानना चाहिए कि उसने वैज्ञानिक का काम किया। वैज्ञानिक खुर्द-बीन लेकर बताता है कि आपके पेट के अन्दर जहरीले जन्तु पड़े हैं। वे बिल्कुल छोटे-छोटे होते हैं, लेकिन खुर्दबीन से बड़े बनाकर वह हमें दिखाता है। इस खुर्द-बीन का हमपर बड़ा उपकार है। उसी तरह कोई हमारे छोटे-से दोषों को बड़ा करके दिखाता तो उसका हमपर बहुत उपकार होता है। इसलिए जब यहांपर मुझपर थोड़ी-सी टीका होने लगी तो यहां मुझे इतनी खुशी हुई, जितनी इन सात सालों में कभी नहीं हुई।

आत्मशक्ति अपने देश की चीज है, यह शुद्ध स्वदेशी चीज है। इस देश में भगवान ने वेद, उपनिषद्, गीता आदि ग्रन्थ पैदा किये, इस देश में रामकृष्ण परम-हंस ने सब धर्मों के समन्वय की साधना की, इस देश में श्री अरविन्द ने 'अतिमानस' भूमिका का विचार दिया और इस देश में गांधीजी हुए, जिन्होंने हमारे उद्धार के लिए बलिदान दिया। यही इस देश की शक्ति है। अगर हम इस शक्ति को नहीं पहचानेंगे तो हमारे पास दूसरी कौन-सी शक्ति है? आज हम ३०० करोड़ रुपया हर साल सेना पर खर्च करते हैं, उसीसे हमारे प्राण कंठ में आये हैं। इस गरीब देश के लिए यही बड़ा भारी खर्च मालूम हो रहा है, लेकिन उतना रोजाना खर्च करनेवाले देश पड़े हुए हैं। अमरीका और रूस में सेना पर जो खर्च किया जाता है उसके आंकड़े ज्योतिषशास्त्र के आंकड़ों की तरह हैं। उनके सामने हम क्या हैं! हम ३०० करोड़ खर्च करके रूस और अमरीका के खिलाफ लड़ सकेंगे, ऐसी आशा किसीने नहीं की। यह तो आपसी डर के कारण खर्च हो रहा है। पाकिस्तान हिन्दुस्तान से डरता है, हिन्दुस्तान पाकिस्तान से। हम ३०० करोड़ का डर खरीद रहे हैं, तो पाकिस्तान १०० करोड़ का डर खरीद रहा है। इससे हम अपने-आपको कुंठित कर रहे हैं। हमारे देश में एक बड़ा भारी 'सोर्स' (साधन) है, जिसे 'टैप' (उपयोग) करना होगा।

देश में एक शक्ति है, उसे बढ़ाना होगा, अन्यथा भारत के पास दूसरी कौन-सी शक्ति है। जहांपर जिन्होंने अहिंसा के दर्शन किये, वे 'महावीर' कहलाये। हम यह समझे हुए हैं कि वीर पुरुष वे होते हैं, जो निर्भय होते हैं। लेकिन महावीर वे होते हैं जो न सिर्फ निर्भय होते हैं, बल्कि सामनेवाले को निर्भय बनाते हैं। ऐसे स्वयं निर्भय होकर दूसरों को निर्भय बनानेवाले 'महावीर' इस देश में पैदा हुए। कितने ही लोग कहते हैं कि गुजरात के लोग 'शामूल' होते हैं, लेकिन 'श्यामल' तो भगवान का रंग है। लोग कहते हैं कि गुजराती बस व्यापार-व्यवहार ही जानते हैं। लेकिन जरा सोचिये तो कि आपके पास जो दौलत है, वह कौन-सी? उसका भान हमें अभी तक नहीं हुआ है। गुजरात में कुल किसान मांसाहारी नहीं हैं। कुल दुनिया में हिन्दुस्तान ही ऐसा देश है, जहां जमातों-की-जमातों ने मांस का परित्याग

किया है। और हिन्दुस्तान में गुजरात ही ऐसा प्रांत है, जहांपर किसान ने मांसहार-परित्याग किया है। उसमें ज्ञान की कितनी ताकत है, उसे हम नहीं पहचानते हैं। यह ऐसी चीज नहीं है, जो जबर्दस्ती लादी जा सकती है। यह देश की विशेषता है।

आखिर गांधी आया कहां से ? मक्खन दूध से ही निकलना है। जिस समाज में अहिंसा की तपस्या हुई, वहीं से गांधी आया। ऐसी तपस्या इस देश में जगह-जगह हुई है। यहां सर्वोदय-समाज में बैठकर हम कुछ ताकत महसूस न करें तो और कहां करेंगे ? अमरीका के पास हमसे बारह गुनी अधिक जमीन है और वह भी अच्छी जमीन। हमारे पास मुश्किल से प्रति आदमी पौन एकड़ जमीन है। अगर हिन्दुस्तान को अमरीका जितना सम्पन्न और बारहगुना अधिक क्षेत्र मिल जाय तो शायद हिन्दुस्तान स्थूल दृष्टि से अमरीका की बराबरी कर सकेगा। इसलिए हमें समझना चाहिए कि हिंसा-शक्ति से हम किसी देश की बराबरी नहीं करते हैं। परमेश्वर की भारत पर यह बड़ी कृपा है कि उसने हमारे लिए कोई विकल्प नहीं रखा है, सिवा इसके कि या तो अहिंसा की शक्ति बढ़ाओ या हिंसा के पीछे पड़कर नाममात्र की स्वतन्त्रता रखो और छाती में धड़कन बनाये रखो। इसके अलावा और कोई चीज यहां नहीं बन सकती है।

इस हालत में हमें यहां बैठकर सोचना होगा कि हम करने क्या जा रहे हैं। हमने कहा था कि हम पक्ष-मुक्त समाज बानेवाले हैं। लेकिन हममें से बहुत-से आज भी पक्षों में पड़े हैं। तो क्या हम सब पक्षों से समान वैरभाव रखनेवाले हैं या हम सब पक्षों से ऊंचे हैं, ऐसा अहंकार रखनेवाले हैं ? सब पक्षों से मुक्त हम इसलिए होना चाहते हैं, क्योंकि हम नम्रता से सबकी सेवा करना चाहते हैं। सेवा करनेवाले दूसरे भी होते हैं। सेवा का एक जरिया सत्ता है। अगर हम उस जरिये को निषिद्ध मानते हैं तो फिर हमने स्वराज्य लिया ही क्यों ? इसलिए यह भी चलना चाहिए और ठीक से चलना चाहिए। ठीक से न चले तो उसपर टीका भी होनी चाहिए। सत्ता के जरिये कुछ सेवा जरूर होती है, लेकिन सत्ता के जरिये कुल सेवा नहीं होती है। कुछ ऐसी बुनियादी सेवा होती है, जो सत्ता के जरिये नहीं की जा सकती है। ऐसी जो वची सेवा 'रेसीड्युरी सर्विस' (शेष सेवा) है, जो सरकारी यन्त्र से नहीं हो सकती है, वह हमें करनी चाहिए। इसलिए अपना यह समाज सबकी सेवा करनेवाला होगा। यह अपने देश की शक्ति, जिसे हम जन-शक्ति या लोक-शक्ति कहते हैं, जिस शक्ति को पंढरपुर में परिपुष्ट किया है, उसे हम विकसित करें और उसे विकसित कैसे कर सकते हैं, इसके कार्यक्रम के बारे में सोचें। हमें सोचना होगा कि हम किस तरह से अपने देश में पड़ी हुई सुप्त शक्ति को प्रकट कर सकते हैं और कोई 'गतिशील कार्यक्रम' ले सकते हैं। मुझ अकेले को यह नहीं सूझेगा, सबको इसपर सोचना होगा। आज शस्त्र-शक्ति जिस तरह विकसित हुई, उसके पीछे १० हजार साल की तपस्या है। उसपर कितनी ताकत लगी

है, कितने प्रयोग हुए हैं, कितना पैसा खर्च हुआ है ? उसी तरह हमें अहिंसा के प्रयोग करने होंगे, ताकत लगानी होगी, तब हिन्दुस्तान की शक्ति विकसित होगी और तब उसमें से कुछ बन पायगा ।

आज शस्त्र-शक्ति विकसित होते-होते इस हद तक पहुंची है कि उससे कुछ बनता नहीं । इसलिए अहिंसा की शक्ति को विकसित करने के प्रयोगों पर समय देना होगा और त्याग करना होगा । इसमें नम्रता सबसे ज्यादा आवश्यक है । भगवान् ने गीता में ज्ञान के लक्षणों में प्रथम लक्षण कहा है : 'अमानित्वम् ।' नम्रता के बिना हृदय खुला नहीं रहता है । इसलिए हमें नम्रता से ज्ञान पाना चाहिए । बाकी अपने कुल काम हम सरकार पर सौंप सकते हैं । वे काम सरकार से होने चाहिए और ठीक ढंग से होने चाहिए । हम भी वे काम करें, लेकिन हमारा मुख्य काम सत्याग्रह-शक्ति को विकसित करना है, जो हमें बापू ने सिखाया था । 'सत्याग्रह' शब्द के उच्चारण से आनन्द होना चाहिए, लेकिन आज उस शब्द के उच्चारण से भय पैदा होता है । यहांतक हमने अपने आचरण से उसे नीचे गिरा दिया है । अब हमें उस शक्ति को विकसित करना है । इसीलिए मैंने इस वक्त प्यारेलालजी को सम्मेलन में आने का निमन्त्रण दिया । मैं डेबरभाई से भी कहता हूं कि आप मदद देने आइये । कुछ हमें सूझता है, कुछ डेबरभाई को सूझेगा, कुछ और किसीको सूझेगा । यहांपर जो साहित्यिक बैठे हैं, उनसे मदद मांगूंगा । हम तो सबके सामने सिर झुकाकर बोल रहे हैं । जहां हमने भगवान् के सामने सिर झुकाया, वहां सबके सामने नम्र होकर प्रार्थना कर रहे हैं । जो काम भगवान् भारत से चाहता है, उसके लिए हमें अत्यन्त नम्र बनना पड़ेगा ।

शान्ति-सेना के बारे में मैं सोचता था । मैं एक महाभ्रम में था कि बापू की आखिरी इच्छा थी शान्ति-सेना की स्थापना, जो पूरी नहीं हो सकी थी, शान्ति-सेना नहीं बन सकती थी, लेकिन एक दिन मेरा भ्रम दूर हो गया । १० साल तक जो बात मेरे दिमाग में नहीं बैठी थी, वह एक दिन में बैठ गई । इस साल गांधीजी के स्मृति-दिवस पर मैंने कहा कि शान्ति-सेना बन चुकी । उसका प्रथम सेनापति बन चुका, उसका प्रथम सैनिक बन चुका । वह अपना काम करने चला गया । अब हमें उसके पीछे जाना है । गांधीजी शान्ति-सेना के प्रथम सेनापति थे और प्रथम सैनिक भी थे । सेनापति के नाते उन्होंने आदेश दिये और सैनिक के नाते उसका पालन करने चले गये । इसलिए इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि शान्ति-सेना नहीं बन सकी । हमें समझना चाहिए कि शान्ति-सेना की स्थापना हो चुकी, एक बड़ा शान्ति-सैनिक बन चुका । अपना काम कर चुका और हमारा मार्गदर्शन कर चुका । यह सब देखने को प्यारेलालजी की किताब देख सकते हैं ।

**दसवां सर्वोदय-सम्मेलन,**

**पंढरपुर, ३० मई १९५८**

## १० : : 'जयहिन्द' से 'जयजगत'

हमारे साथी एक के बाद एक परमेश्वर के पास पहुँच रहे हैं, जिनके साथ हमने काम किया है। किशोरलालभाई, जाजूजी, बाबा राघवदास, गोपबाबू, लक्ष्मी-बाबू, भारतन, देवदास सारे चले गये। इसलिए सालभर में जहाँ दर्शन का आनंद मिलता है, वहीं यह भी पता चलता है कि हममें से कौन जीवित हैं। कोंकण में रिवाज है, बारिश के बाद मित्र एक-दूसरे से मिलने आते हैं। इसलिए कि बारिश के बाद पता चले, कौन जीवित है और कौन नहीं है। यों तो संसार की अखंड यात्रा चल ही रही है, लोग इस लोक से परलोक जा रहे हैं और नये-नये आ रहे हैं। इस बीच हमारी भी छोटी-सी यात्रा चल रही है। इस साल दो दफा में बीमार पड़ा, इसका मुझे दुःख है। आज अजमेर शहर में लोगों का मुझ पर प्रेम का बहुत बड़ा आक्रमण हुआ तो बचपन का स्मरण हो आया और एक-डढ़ मील दौड़ना भी हुआ। इस तरह चलता ही रहता है। मालूम नहीं कब तक चलेगा? इतना अवश्य मालूम है, जैसा कि गुरु नानक ने कहा है, "हुक्म रजाई चल्लणा, नानक लिखिया नाल।"—उसके हुक्म से ही यह सारा चल रहा है। यही एक विश्वास, यही आशा और यही भरोसा लेकर हम काम कर रहे हैं। आप लोगों से मिलता हूँ तो बड़ा आनंद होता है।

यह काम करनेवालों की एक जमात है—ऐसे लोगों की, जो ज्यादा मम्यता भी नहीं जानते और उन सम्यता न जाननेवालों में शिरोमणि शायद में ही हूँ। सारे-के-सारे व्यवहार से मैं अपरिचित हूँ, उसके विषय में नहीं जानता। जब मैं बापू के पास पहुँचा था, तो एक जंगली जानवर ही था उनकी संगति में जानवरपन तो शायद मिट गया, लेकिन जंगलीपन कायम है। उसे वह नहीं मिटा सके। इसलिए जानता नहीं, मैत्री कैसी रखी जाती है। फिर भी असंख्य मित्र अकारण प्यार करते हैं और पच्चीस-पच्चीस, तीस-तीस, चालीस-चालीस वर्षों से साथ हैं। इस तरह यह अकारण प्रेम करनेवालों की जमात है। इसके अन्दर एक तड़पन है, स्नेह है। ऐसे ही हम एक-दूसरे से मिलने आते हैं। यही हमारे सम्मेलन का मुख्य कार्य है।

आज के आपके अध्यक्ष श्री केलप्पनजी हैं। हम बड़े भाग्यशाली हैं कि ऐसों का साथ हमें मिलता है। उनका आधार नहीं होता तो केरल में वह काम नहीं होता, जो हम कर सके। शांति-सेना की नई कल्पना हमें केरल में ही सूझी। अगर वह हमारे साथ न होते, वहाँ शांति-सेना बनी, वह नहीं बन सकती थी। उम्र में हमसे वे चार-पाँच साल बड़े हैं, लेकिन शांति-सेना का विचार, ग्रामदान, ग्राम-स्वराज्य का विचार उन्हें इतना आकर्षक मालूम हुआ कि सब छोड़कर वह इस काम में कूद पड़े। जब मैं केरल में था तो ढाईसौ ग्रामदान हुए, वे उन्हींके बदौलत हुए। मेरे केरल के छोड़ने के बाद ग्रामदान की संख्या दुगुनी हुई। केलप्पनजी ने बहुत

जोर लगाया। एक जमाने में उन्होंने रचनात्मक काम भी बहुत किया है। बहुत सालों से वह काम करते आये हैं। १९२५ में उनसे मेरा थोड़ा परिचय हुआ। वायकम के सत्याग्रह के समय बापू की आज्ञा से मैं वहां गया तो उनसे सम्बन्ध आया था। वह समाजिक और राजनैतिक कार्य भी करते आये थे। वहां के सभी कार्यों में उन्होंने बहुत बड़ा हिस्सा लिया था, किन्तु राजनैतिक क्षेत्र को छोड़ना इन दिनों सबसे कठिन त्याग होता है। उन्होंने जिदगी में बहुत त्याग किया है। आखिर यह भी त्याग किया और मोह से मुक्ति पाकर वह इस आन्दोलन में कूद पड़े। मैं मानता हूं कि वह आज उस प्रान्त के शांति के आधार हैं। उनके पीछे लोगों की छोटी-सी जमात है, किन्तु वह ऐसी है कि उसके शांति के लिए मर-मिटने में कोई शक नहीं। अभी केरल में अशांति हुई थी तो वहां शान्ति की स्थापना में परमेश्वर ने उन्हें सफलता दे दी। ऐसे महान् साथी मिले हैं, उनसे हमें मार्गदर्शन मिल सकता है। यह हमारा बड़ा सौभाग्य है।

जहां हम रोज कुछ-न कुछ बोलते ही हैं, वहां नई बात क्या रखें, सिवा इसके कि मौन की महिमा प्रकट करें? शब्द से भी हम वह महिमा प्रकट कर सकते हैं।

हम समझते हैं कि यह साल हमारे लिए आत्म-परीक्षण और निरीक्षण का साल था। १९५७ तक हमने जाहिर किया था कि जो दिशा हमें सूझेगी, उस ओर हम आगे बढ़ते जायेंगे। हमें कुछ नई बातें सूझी हैं, उन्हें हमने आपके सामने रखा। जो असफलता मिली है, उसकी पूर्ति के लिए आप काम में लगे ही हैं। जहां काम का सम्बन्ध आता है, वहां हमें कुछ-न-कुछ सूझता ही है। एक अवधि तक काम का अनुभव लोगों को आया। अब थोड़ा चिंतन और ध्यान करना बहुत जरूरी है। इसलिए एक साल से यह हमारे लिए ध्यान-काल चल रहा है। हम निरीक्षण करते हैं। हमने तो यही कहा था कि यह आरोहण है, आन्दोलन नहीं। हम एक-एक शिखर चढ़ने की कोशिश कर रहे हैं। एक-एक शिखर चढ़ते हैं, बीच-बीच में ठहरते हैं और देखते जाते हैं तो स्पष्ट दर्शन होता है। ऋग्वेद में कहा है :

यत् सानोः सानुं आरुहत् । भूरि अस्पष्ट कर्त्तवम् ।

तत् इन्द्रोः अर्थं चेतति ।

अर्थात्—एक शिखर से दूसरे शिखर पर चढ़ते हैं तो फिर-फिर से दर्शन होता है। चढ़ने के बाद जरा रुककर देखते हैं तो पता चलता है कि हमने कौन-सी गलतियां की हैं, कहां तक आगे बढ़ना है। इन दिनों आलोचकों ने भी हमें बहुत मदद पहुंचाई है। इस आन्दोलन पर काफी आलोचना हुई, जिससे हमें बहुत लाभ हुआ। हम उन सभी आलोचकों का उपकार मानते हैं और चाहते हैं कि इसी तरह आन्दोलन पर आलोचना एवं चर्चा चले। कुछ दोष-दर्शन भी हम चाहते ही हैं। वह सारा हमारे काम में मदद देगा। उस अनुभव से हमें कुछ सूझा भी, जिसे आपके सामने रखता हूं।

समझने की जरूरत है कि अभी दुनिया का कुछ विचार-प्रवाह बदल रहा है।

कुल दुनिया में, जिसमें हम भी हैं, वे विचार-प्रवाह जोरों से बह रहे हैं और हमें प्रेरित भी कर रहे हैं। अभी एक भाई इंग्लैण्ड से आये थे। उन्होंने हमसे कहा कि “हम भूदान-आन्दोलन को देखना और उससे कुछ लेना भी चाहते हैं। हम आशा रखते हैं कि हिन्दुस्तान दुनिया को शांति की राह दिखायेगा।” मैंने कहा, “हिन्दुस्तान तो दिखायेगा ही, लेकिन इंग्लैण्ड भी दिखा सकता है।” उन्होंने पूछा, “इस आशा के लिए आपका क्या आधार है?” हमने कहा, “इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान पर अपनी मालकियत मानता था, पर अब उसने उसे छोड़ दिया। इससे इंग्लैण्ड की नैतिक शक्ति बढ़ी है, ऐसा हम मानते हैं। मालकियत छोड़ने के इसी विचार के आधार पर ग्रामदान का आन्दोलन चल रहा है। इसलिए उसका आरम्भ इंग्लैण्ड ने ही किया है। बहुत-से लोग समझते हैं कि मालकियत-विसर्जन के इस आन्दोलन का आरम्भ १८ अप्रैल १९५१ में हैदराबाद राज्य में हुआ। किन्तु हम तो मानते हैं कि इसका आरम्भ इंग्लैण्ड ने १५ अगस्त १९४७ के दिन किया और उससे हमें स्फूर्ति मिली।” यह सुनकर उस भाई को बहुत आनन्द हुआ और कुछ आश्चर्य भी! हमने उससे यह भी कहा कि “हम बहुत आशा रखते हैं कि इंग्लैण्ड जैसा बलवान् देश इतने बड़े साम्राज्य की सत्ता छोड़ने की हिम्मत कर सकता है तो वह यह हिम्मत भी कर सकता है कि हिंसा-शक्ति से संन्यास ले ले और अहिंसा का प्रयोग करे। सेना से मुक्ति पाने का विचार भी ऐसा बलवान् राष्ट्र ग्रहण कर सकता है।” हमने उससे यह भी कहा कि “लंदन जैसा स्फूर्तिदायी शहर दूसरा कौन-सा हो सकता है, जहां दुनिया भर के स्वातन्त्र्यप्रेमी लोगों को आश्रय मिला है। मेज़िनी को वहां आश्रय मिला है। डॉ० सन् यात सेन वहीं रहे थे। कार्ल-मार्क्स भी लन्दन में रहे हैं। गांधीजी भी वहीं से प्रेरणा पाकर आये। इस तरह लन्दन को दुनिया के स्वातन्त्र्यप्रेमी लोगों का स्फूर्ति-स्थान मानना पड़ता है। इसी-लिए मैं इंग्लैण्ड से यह आशा करता हूं कि वह सामने आये और शांति का काम उठाये।” यह सुनकर उस भाई को बहुत ही आनन्द हुआ।

मैंने आपको यह कहानी इसलिए सुनाई कि मेरे दिल में क्या चल रहा है, यह आप जानें। मैं अपने इस काम को राष्ट्रीय नहीं, जागतिक आन्दोलन मानता हूं। जागतिक पृष्ठभूमि पर मैं विचार करता हूं कि इसमें कौन-से कदम उठाये जायें? इसके लिए हमें सही तरीके ढूँढ़ने होंगे और वह हम तभी कर सकते हैं, जबकि खुद को जागतिक परिस्थिति में रख सकें। इसीलिए हम ‘जय जगत्’ का उद्घोष करते हैं। राजस्थान में हम आये तो गांव-गांव के लोग हमें अभिवादन करने के लिए ‘जय जगत्, जय जगत्’ बोलते हैं। यह कोई छोटी बात नहीं कि दस-ग्यारह साल में हम ‘जयहिन्द’ से ‘जयजगत्’ तक पहुँच गये हैं। यह इसलिए कोई छोटी बात नहीं कि यह एक संकल्प दुनिया में काम कर रहा है, जो कुल दुनिया को एक करके ही रहेगा।

तब राष्ट्र-राष्ट्र के भेद टूट जायेंगे। इसके लिए विज्ञान भी उत्सुक है और उसका बल हमारे पीछे है। इन दिनों में अपने पीछे विज्ञान का जितना बल महसूस करता हूं, उतना इससे पहले कभी नहीं किया था। ग्रामदान और भूदान-विचार के पीछे आत्मज्ञान या वेदान्त का जितना बल है, उतना ही विज्ञान का भी बल है। विज्ञान हमें संकुचित मनोवृत्ति नहीं रखने देगा। वह इसके खिलाफ ही है। वह आवाहन कर रहा है कि “मानव, या तो मिट जा या एक बन जा, व्यापक बन जा। इसके सिवा तीसरी बात नहीं। अगर तू मिटना चाहता है तो मैं तुझे मिटा सकता हूं। और अगर व्यापक बनना चाहता है, तो उसमें भी मदद दे सकता हूं। उसके लिए वातावरण तैयार है।” जब हम इसपर सोचेंगे तो ध्यान में आयेगा कि हमें अपनेको एक और व्यापक बनाना चाहिए। यह कैसे किया जाय, यह भी आज हमें विज्ञान के कारण सूझ रहा है। यह विचार हमें ऐसी कल्पना में ला रहा है, जिससे हमें ध्यान में आयेगा कि हम समन्वय की भूमिका में काम कर रहे हैं।

आस्ट्रेलिया से एक भाई हमसे मिलने आये थे। उन्होंने पूछा कि “आस्ट्रेलिया के लिए भूदान का क्या संदेश है?” मैंने कहा, “चीन और जापान के लोगों को यह आवाहन करो कि भाइयो, आप लोग हमारे देश में आइये, हम आपका स्वागत करते हैं। यह भूमि आपका स्वागत करती है। यहां आकर आप प्रेम से रह सकते हैं। यहां ज्यादा भूमि पड़ी है। इसलिए आप यहां खुशी से आइये।” यही भूदान का विश्वमानवता का संदेश है। भूदान विश्वमानव बनाना चाहता है। अब वे दिन लड़ गये, जब हम अपने-अपने देश का अभिमान रखते और उसीमें मस्त रहते थे। किसी जमाने में अपने देश का गौरव दूसरे देशों की कुछ न्यूनताओं के साथ करने में लज्जत और शायद इज्जत भी मालूम होती थी। लेकिन आज तो न उसमें लज्जत है और न इज्जत ही। इस तरह स्पष्ट है कि यह हमारा एक सार्वराष्ट्रीय आन्दोलन है और इसी पृष्ठभूमि में हमें काम करना है।

हमसे बहुत-से लोग पूछते हैं कि “कई छोटे-छोटे सवाल भी हैं—दुःख हैं, अन्याय हैं, भूमि के क्षेत्र में भी बहुत-से अन्याय होते हैं। फिर छोटे-छोटे सत्याग्रह भी क्यों न चलाये जायें?” हम उनसे कहते हैं, “बापू के जमाने में जो सत्याग्रह हो गये, अगर इस जमाने में उन्हींका अनुवर्तन, बाह्य अनुकरण करें, तो वह ऐसा ही होगा, जैसे राणा प्रताप और शिवाजी का अनुकरण कर किले बनाना। उन दिनों किले देश की रक्षा कर सकते थे, पर आज किले बनायें तो वे बमबाजों को मदद ही देंगे। उन्हें बम गिराना बहुत नजदीक हो जायगा, अनुकूल हो जायगा। इसलिए हम बापू के सत्याग्रह का स्थूल अनुकरण, स्थूल अनुवर्तन कैसे कर सकते हैं?” इसपर लोग यह कहते हैं कि “गांधीजी तो बहुत पुराने जमाने में नहीं हुए, उनका जमाना अभी पुराना नहीं हुआ है। क्या इतने में बहुत फर्क पड़ गया?” मैं कहता हूं, “भाई! हाँ, इतने में बहुत-बहुत फर्क पड़ गया। एक फर्क तो यह कि वह विदेशी

राज्य में काम करते थे और हम स्वराज्य में काम कर रहे हैं। दूसरा फर्क यह कि वह अनियंत्रित सत्ता में काम करते थे, जबकि हम लोकशाही में काम कर रहे हैं। तीसरा फर्क, जो मेरी दृष्टि से सबसे महत्व का फर्क है, यह है कि आज अणु-युग का अवतार हुआ है। ये बातें हम भूल नहीं सकते। गांधीजी के जमाने में अणु शुरू हुआ था, पर आज उसका नया दर्शन हो रहा है। विज्ञान रुद्रावतार हो सकता है और वह विष्णु का अवतार भी। इसलिए यह सबसे महत्व का विचार है कि लोकशाही, स्वराज्य और विज्ञान के जमाने में सत्याग्रह का रूप क्या हो? इस पर हम सबको गम्भीरता से सोचना होगा। अगर हम सत्याग्रही नहीं तो कुछ भी नहीं हैं। अगर हम कोई हैं तो सत्याग्रही ही हैं, याने हमारा और कोई दावा ही नहीं सकता। हमारे मार्गदर्शक इसी बात के तो गुरु थे। उनके पीछे उनके विचार के प्रचार की जिम्मेदारी आप और हमपर आई है और वह और भी बढ़ गई है। इसका चिन्तन हम सबको करना ही होगा। आज मानव के हाथ में ऐसी शक्ति आ गई है कि हिंसा करनेवाले एक जगह बैठकर अस्त्र फेंक कुल दुनिया का संहार कर सकते हैं। तब सवाल खड़ा होता है कि ऐसी स्थिति में सत्याग्रह का स्वरूप क्या हो? स्पष्ट है कि कोई ऐसी शक्ति सत्याग्रही के हाथ में चाहिए कि जैसे वे घरबैठे संहार कर सकते हैं, वैसे ही वह भी घरबैठे सारी दुनिया का बचाव कर सके। यह खोज का विषय है। हममें उन हिंसकों के हृदय में इस तरह प्रवेश करने की शक्ति होनी चाहिए कि जिन हाथों बम बनें, उन्हीं हाथों को उन्हें समुद्र में डुबो देने, नष्ट कर देने की प्रेरणा मिले और वे उन्हें नष्ट कर दें।”

एक अमरीकी भाई मुझसे अमरीका के लिए संदेश मांगने आये थे। मैं तो इस तरह कभी संदेश नहीं देता। मैंने कहा, “अमरीका को संदेश देने की धृष्टता मैं नहीं करूंगा।” तो भी वह भाई कहने लगे कि “आप कुछ बताइयें।” इसपर मैंने कहा, “आप लोग ये जो तरह-तरह के शस्त्रास्त्र बनाते हैं, उन्हें खूब बनायें। उसमें कोई कमी न रखें, क्योंकि उससे काम दिलाने का सवाल थोड़ा हल होगा। किन्तु आगे जब किसमस का दिन आये तो उस दिन हिंमत के साथ भगवान् ईसामसीह का नाम लेकर वे सारे शस्त्रास्त्र समुद्र में डुबो दें। आज तो आपके शस्त्रास्त्र रूस खतम करता है और रूस के शस्त्रास्त्र आप खतम करते हैं—आपके जलपोत वे डुबोते हैं और उनके हवाई जहाज आप। किन्तु इस तरह परस्परालम्बन का काम क्यों किया जाय? इसलिए आप स्वावलम्बी बनें! अमरीका के हवाई जहाज अमरीका ही डुबो दे और रूस के हवाई जहाज रूस ही खतम करे। इसकी क्या जरूरत है कि मेरे हवाई जहाज वे तोड़ें और उनके में तोड़ें?” मैंने उस भाई से कहा कि “इस तरह अपने हाथों से अस्त्र बनाना और उसे डुबो देना एक खेल हो जायगा। हम दूसरे के शस्त्रों का खण्डन करें और वे हमारे शस्त्रों का खंडन करें, इसके बजाय हम ही अपने शस्त्रों का विसर्जन कर दें।”

हमें गणपति की कहानी याद है। वचपन में हमारे दादा गणपति-उत्सव करते थे। हम चंदन घिस-घिसकर अपने हाथों गणपति की मूर्ति बनाते और उसकी पूजा करते थे। हमें उसमें बड़ा संतोष मालूम होता था। तेरह-चौदह दिन उसकी पूजा और आरती वगैरा होती थी। आखिर जब उस गणपति का तालाब या कुएं में विसर्जन करना पड़ता था तो हमें उस समय बड़ा दुःख होता था। खैर, इसमें क्या खूबी होगी, इसका हमारे चित्त पर बहुत असर होता था। ‘आवाहन के बाद विसर्जन भी अपने ही हाथों से करना पड़ता था’ इसका अर्थ यही है कि आपने ही उसे भगवान् के तौर पर बनाया। इस तरह हमारा शास्त्र सुझाता है कि भगवान् को बनानेवाले तुम हो। इसलिए सबसे श्रेष्ठ देवता मानव है। गणेश-पूजा की इस प्रक्रिया द्वारा हमारे पूर्वज हमें बताते हैं कि तुम पूजा तो करो, पर यह पहचान लो कि तुमने ही इसे बनाया है, इसकी प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाले तुम ही हो। तुम्हारी ताकत से ही भगवान् बना है। ऋग्वेद में एक मन्त्र आता है : **अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः**, याने मैं भगवान् हूं और भगवान् से भी श्रेष्ठ हूं। इससे बेहतर मन्त्र और कौन-सा हो सकता है? जहां पहले वाक्य में ऋषि कहता है कि मैं भगवान् हूं, वहीं दूसरे वाक्य में कहता है : **भगवत्तरः** याने भगवान् से श्रेष्ठ हूं, क्योंकि आखिर भगवान् अव्यक्त है और हम व्यक्त हैं। हमारे हाथों जो मेवा होगा, वह व्यक्त होगी और उसी सेवा के कारण उसका गौरव होगा। उस पूजा से भगवान् का वैभव बढ़ गया है। यही समझाने के लिए हमारे पूर्वजों ने गणपति-विसर्जन की प्रक्रिया हमें सिखाई है। उसका राज पीछे खुल गया। वह प्रक्रिया आवाहन की प्रक्रिया है। उसमें आवाहन के बाद विसर्जन किया जाता है। इसी-लिए हमने उस अमरीकी भाई को समझाया कि क्रिसमस के दिन अपने-अपने सभी सस्त्रास्त्र डबो दीजिये। यही हमारा संदेश है।

भाइयों, होली का त्योहार किसलिए आता है? हमारी सब आसक्तियों की चीजें जलाने के लिए। जरा देखो और सोचो कि सालभर-में हमारे मन में क्या-क्या आसक्तियां होती हैं। हमारे मन में जो आसक्ति है, उसे हम दूसरे को नहीं दे सकते, क्योंकि वह दूसरे को भी बिगाड़गी, दान लेनेवाला भी स्वार्थी बनेगा। इसलिए उसे जलाना ही चाहिए। कानून के हक की बात करते हो, मालकियत के कागजों की बात करते हो, तो वे कुल-के-कुल कागज जला दो। उससे बहुत अच्छा होगा, अपने देश में बहुत बड़ी ताकत पैदा होगी। होली का त्योहार इसीलिए है।

एक सरकारी मंत्री आये थे। कुछ बात चल रही थी। कहते थे कि “हमें चिन्तन-मनन के लिए समय नहीं मिलता।” मैंने कहा कि “मनन के लिए समय नहीं मिलता तो वह मंत्री कहां रहा? वह तो तंत्री हो गया।” उन्होंने कहा कि “क्या करें, बहुत फाइलें होती हैं, बहुत रेकार्ड होता है, इसलिए समय नहीं मिलता।” मैंने कहा, “रोज रेकार्ड रहता है, तो ठीक; लेकिन होली का भी दिन

होता है या नहीं ? बहुत ही अच्छा प्रयोग होगा, अगर होली के दिन कुछ फाड़लें उसमें डाल दी जायें। दुनिया में कुछ त्योहार ऐसे होते हैं, जिस दिन हम अपनी आसक्ति जलाते हैं, तो सच्चे अर्थ में त्योहार हो जाता है।”

हम कहना चाहते थे कि इस आन्दोलन को केवल एक राष्ट्रीय भूमिका पर मत मानो। जागतिक भूमिका इसके पीछे है, ऐसा मानो, तभी उत्साह आयेगा। समझ में नहीं आता है कि कौन-सी ताकत मुझमें है। लोग मुझसे कहते हैं कि “आप तो बहुत कम खाते हैं”, तो मैं उनसे कहता हूँ, “मैं आकाश खाता हूँ। आठ साल से मेरी यात्रा चल रही है। मेरा आकाश-सेवन चल रहा है। उससे मुझे ताकत मिलती है। इसलिए मरने के समय के पहले मैं कभी नहीं मरूंगा।” मुझे तो भास ही नहीं होता कि मैं कुछ काम कर रहा हूँ। एक बहुत बड़ी ताकत, एक बहुत बड़ा विचार मुझे घुमा रहा है, मैं नहीं घूम रहा हूँ। आखिर हम और आप हैं कौन ? बिल्कुल नाचीज ! हमारी कोई हस्ती ही नहीं है। तामिलनाडु में मैं घूम रहा था। माणिक्य वाचकर के भजन गाता था। कम-से-कम तमिल भजन गाने का नाटक तो मैं करता ही था। माणिक्य वाचकर के भजन का एक वचन मुझे याद है:

नान यारु ? यार आखिर ऐ न्ने

तामिलनाडु का सर्वश्रेष्ठ महाकवि माणिक्य वाचकर कह रहा है, “मैं कौन हूँ, मुझे कौन जानता है ? मुझे कोई नहीं जानता।” यह भजन मैंने पढ़ा तो मुझे लगा कि वह मुझे लागू हो सकता है। मुझे इस दुनिया में कौन जानता है ? मैं कौन हूँ ? मैं बिल्कुल नाचीज हूँ और आप भी कौन हैं, जिन्होंने इतना काम किया है ? अत्यन्त उपेक्षित लोग अगर कोई हों तो ये आप लोग हैं।

नवबाबू की ही बात देखिये। दो साल लगातार भगड़ा कर उन्होंने सभा से मुक्ति पाई और इस आन्दोलन में वह कूद पड़े। मैं उनकी तारीफ तो क्या करूँ ? इसके पहले भी कई बार मुझमें मिलने का मौका आता था, लेकिन एक शब्द से भी मैंने उन्हें यह कभी नहीं सुझाया कि आप यह काम सीखिये। व्यक्तिगत कर्तव्य के बारे में सुझाने का मेरा स्वभाव ही नहीं है। लेकिन उसके दिल में आग थी, इसलिए उन्होंने वह पद छोड़ा। अब उनकी तारीफ मैं करूँ तो उसमें शोभा नहीं, इसलिए मैं चुप रहा। किंतु उनके त्याग की इतनी उपेक्षा हुई कि इतनी गनीमत समझिये कि ‘उन्होंने मूर्खता की’, ऐसा किसीने नहीं कहा। उन्होंने बहुत बड़ा त्याग किया था, पर उसे कोई त्याग समझकर नहीं किया। उसमें उन्हें आनन्द महसूस हुआ और आनन्द का काम समझकर ही उन्होंने यह निर्णय लिया। आखिर मुझसे रहा नहीं गया और उनके गांव की एक सभा में मैंने उसका जिक्र कर ही दिया। मैंने कहा, “माणिक्य वाचकर भी एक राज्य के मुख्य मंत्री थे और उन्होंने वह त्याग दिया था। ऐसा ही भगवान बुद्ध ने किया। और ऐसा ही काम नवबाबू ने भी किया।”

हमारी एक लड़की अच्छी पढ़ी-लिखी है। पहले प्रोफेसर थी। वह काम छोड़कर मेरे पास आई है। सात-आठ साल से मेरे साथ घूम रही है और काम कर रही है। कुछ ग्रंथ भी उसने लिखे हैं। एक रचनात्मक कार्यकर्ता, गांधीवादी बुजुर्ग उसे सलाह दे रहे हैं कि “अरी लड़की, यह क्या कर रही है? तू तो अभी जवान है। विनोबा बूढ़ा हो गया। अभी तो तेरी जवानी का काल चल रहा है। जरा सोच। आगे चलकर कमजोर हो जायगी। इसलिए जरा स्थिर जीवन कर ले।” इतनी उपेक्षा, हृद दर्ज की! ऐसी हालत में भी आप लोगों ने काम किया है। मैं जानता हूँ कि भगवान् काम चला रहा है। भगवान् की ही कृपा है और इसीलिए यश-अपयश की तुलना आप मत कीजिये और काम करते जाइये।

कुछ लोग कहते थे कि “आपने इतना काम किया है, इतने ग्रामदान प्राप्त किये हैं, लेकिन इसके आगे का काम करने के लिए आप फेल हो गये।” मैंने कहा, “मेरे फेल होने से आप पास होते हैं तो मैं पचास दफा फेल होने के लिए तैयार हूँ। मुझे बड़ी खुशी होगी। मेरे फेल होने से आप पास होते हैं, यह बोलने में क्या आपको इज्जत मालूम होती है? क्या यह आपको शोभा देता है? क्या मेरे घर की लड़की की शादी थी?” इस तरह जब मैं सिंह-गर्जना करता हूँ तो मेरे सामने कोई नहीं टिकता। मेरा दर्शन होते ही और मेरी गर्जना सुनते ही लोग चुप हो जाते हैं।

भूदान में चालीस लाख एकड़ जमीन मिली है और आठ लाख से ज्यादा बंटी है। उसमें अच्छी फसल पैदा होती है। बाकी जमीन बांटना बाकी है। उसमें मदद की जरूरत है, बहुत मेहनत का काम है, जो लोग कर रहे हैं। उसमें कुछ ऐसी भी जमीन है, जिसे ‘रिक्लेम’ करना पड़ेगा। कल ही जयप्रकाशजी कह रहे थे कि “बिहार में इस जमीन के लिए सरकार ने बड़ी कंजूसी से तीस लाख रुपया मंजूर किया।” वहां के मंत्री कह रहे थे कि “यहां कितने कम खर्च में अच्छी-से-अच्छी फसल होती है, जबकि इस जमीन के लिए इतना अधिक खर्च करना पड़ रहा है।” सोचने की बात है, सरकार सिर्फ दूसरे राष्ट्रों के भय से सेना पर करोड़ों खर्च करती है। उसकी ‘वैसिक एज्यूकेशन’ (बुनियादी शिक्षा) कितनी महंगी है। इन खर्चों में कमी क्यों नहीं की जाती? ध्यान रहे कि मैं किसी पर निर्भर नहीं हूँ, लेकिन कम-से-कम इस काम के लिए करोड़ रुपये तो मिलने ही चाहिए थे। आप लोगों ने ही गलती की कि कई लाख एकड़ पड़ी जमीन के लिए कुछ ही लाख मांगे और सरकार ने भी उसमें से कुछ ही लाख दिये। यह तो ऐसा ही किस्सा हुआ कि किसी भिखारी को कुबेर का दर्शन हुआ तो उसने उससे शाक के लिए चार पैसे मांगे और कुबेर ने दो पैसे दिये। अगर आप करोड़ मांगते तो क्या बिगड़ता? एक शून्य और चढ़ा देते। इन दिनों शून्य का कुछ मूल्य ही नहीं रहा। आज हजारों की स्कीम स्कीम ही नहीं मानी जाती। जितने ज्यादा शून्य चढ़ाये, वह उतनी ही

बड़ी स्कीम होती है। इसलिए आप लोगों ने दस करोड़ की मांग क्यों नहीं की ?

मैं कहना यह चाहता हूँ कि इस आन्दोलन को तराजू में डालकर नापना नहीं है। हमें यह नहीं देखना है कि हमने कितने ग्रामदान प्राप्त किये हैं, कितनी जमीन प्राप्त की है। हाँ, जागतिक दृष्टि से सोचना है। तब आप इस तरह सत्याग्रह की बात नहीं करेंगे। विज्ञान-युग में छोटे सत्याग्रह नहीं होते। सत्य तो बड़ा ही होता है, जो सबका ध्यान खींच सकता है। हमें सबका ध्यान खींचने का अभ्यास करना चाहिए। विज्ञान-युग ने हम-आपपर सत्याग्रह का शास्त्र विकसित करने की जिम्मेवारी डाली है। इसलिए हमें सोच-समझकर ऐसी युक्ति खोजनी चाहिए, जिससे सामनेवाला अन्दर देखे और उसके हृदय में धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र शुरू हो। क्रिकेट का खेल खेलनेवाले कहते हैं कि अगर ग्राउंड परिचित हो, तो खेलने में अनुकूलता होती है और अगर वह अपरिचित हो तो अच्छे खिलाड़ी होने पर भी तकलीफ होती है। इसलिए किस ग्राउंड पर खेलें, इसीका महत्त्व है। इसी तरह हम किस ग्राउंड पर लड़ें, यही सोचने की बात है। इन दिनों यही माना जाता है कि लड़ाई शत्रु के क्षेत्र में ही होनी चाहिए, ताकि हार होगी तो उसका नुकसान होगा और जीत होगी तो भी उसीका नुकसान होगा। इसी तरह मैं कहता हूँ कि हम सत्याग्रह की लड़ाई सामनेवाले के हृदय-क्षेत्र में लड़ें। उसे अन्दर से यह महसूस हो कि मैं गलती कर रहा हूँ। अगर हमें ऐसी कोई युक्ति सूझे कि अन्याय करनेवाले मनुष्य के हृदय में धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र की लड़ाई छिड़ जाय और वह यह सोचे कि मैं गलती कर रहा हूँ, तभी वह सत्याग्रह होगा।

सेंट पाल की बड़ी मशहूर कहानी है, जिसने ईसाइयत को खूब फैलाया। वह पहले कोई महापंडित था और ईसाइयत के विरोध में था। ईसा के शिष्य तो विल्कुल ही सीधे-सादे थे। कोई मच्छीमार था तो कोई बुनकर। मच्छीमार को ईसा ने कहा, "Come and follow me and I will make you fishers of men." (तुम मेरे पीछे आओ, मैं तुम्हें मच्छीमार नहीं, मनुष्यमार बनाऊंगा।) वह अपना जाल छोड़कर ईसा के पीछे गया। ईसा के शिष्य एक के पीछे एक मारे जाते थे, सताये जाते थे। यह पाल ही, जो पहले 'साल' था, उन्हें बहुत सताता था। एक बार ईसा के अनुयायी कहीं जा रहे थे और उनको पाल सतानेवाला था, पर उस पहली ही रात में नींद नहीं आई और सपने में भगवान् आकर बोले, "Saul, Saul ! why do you persecute me ?" (मुझे क्यों सताते हो ?) साल ने कहा, "तुझे तो मैं नहीं सता रहा हूँ। तुझे कब सताया है ?" तब ईसा बोले, "तू मेरे लड़के को सताता है तो मुझे ही सताता है।" यह वाक्य उसने सुना और दूसरे दिन उसका परिवर्तन हुआ। वह साल का पाल होकर ईसा का सर्वश्रेष्ठ ऐसा शिष्य बना, जिसके दिल में भगवान् का प्रवेश हुआ। इसी तरह सामनेवाले के हृदय में ही हमारा प्रवेश होना चाहिए। जो ऐटम बम और हाइड्रोजन बम

बनाता है, उसकी योजना करता है, उसके हृदय में ही लड़ाई शुरू हो कि “अरे, मैं यह ठीक नहीं कर रहा हूँ !”

मनु ने कहा है कि “अपनी असफलताओं से तुम अपनेको अपमानित मत करो।” मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि अगर हमें असफलता भी मिली हो, तो वह अत्यन्त उज्ज्वल है। अगर नहीं मिली हो तो वह उज्ज्वल है ही। इसलिए हम अपनेको कभी अपमानित न करें। हम यह समझें कि हमारा काम हम नहीं कर रहे हैं। हम तो नाचीज हैं। वह हमें चला रहा है, हिला रहा है, बुला रहा है, घुमा रहा है। ऐसी भावना लेकर ही हम काम करें। हम आपको यकीन दिलाना चाहते हैं कि यह जमात खम्मीर बनेगी और दुनिया के जन-समूह को परिवर्तित करेगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। यह शक्ति हमारी नहीं, भगवान् हमसे यह काम करा रहा है। यह उसकी लीला है, वह नाचीज और कमजोर औजारों से काम करना चाहता है। ऐसी भावना, ऐसा विश्वास लेकर आप काम कीजिये, परीक्षण कीजिये, खूब निरीक्षण कीजिये, गलतियाँ सुधारिये और यह ध्यान में रखिये कि बावजूद इन सब गलतियों के भगवान् का एक पवित्र हाथ हमारे सिर पर है। यह श्रद्धा आप रखिये।

**ग्यारहवां सर्वोदय-सम्मेलन**

**अजमेर, २७ फरवरी १९५६**

## खण्ड २

### १ : : सर्वोदय की विचारधारा

आज इस अवसर पर मुझे एक विशेष ही आनन्द की अनुभूति हो रही है। आप सब वैष्णव-जन होने की इच्छा रखनेवाले हैं और वैसी कीशिश करनेवाले हैं। आप लोगों की इस संगति को मैं अपना भाग्य मानता हूँ। यहां हम लोग कुछ चर्चा करेंगे और उसमें से कुछ नतीजे भी निकालेंगे, लेकिन मेरे लिए उन सब चर्चाओं से और नतीजों से भी विशेष लाभदायी बात यह है कि हम सब साथ मिल रहे हैं। आज सुबह मित्रों में चर्चा हो रही थी कि हम हर साल एक सम्मेलन करें। सम्मेलन किसलिए ? मेने सुझाया—“सेवकों के आपस के सम्पर्क के लिए”—ये शब्द जोड़े जायें।

यह सूचना स्वीकार करली गई और उसमें सुधार के तौर पर ये शब्द और बढ़ाये गए—“विचार-विनिमय के लिए।” जब इकट्ठे होते हैं तो विचार-विनिमय तो हम करेंगे ही, इसलिए मेरे मन में सम्पर्क शब्द ही काफी था, क्योंकि शब्दों से जो विचार-विनिमय हम करते हैं, उससे भी अधिक गहरा विचार-विनिमय, मन से, मौन से, एक हवा में बैठने से, एक श्रद्धा की अनुभूति में, एक मंत्र का मानसिक मनन करने में, कर सकते हैं। हम सबने यहां एकत्र होकर अभी काता। यह दृश्य इन दिनों दुर्लभ-सा हो गया है। मैं उसका अत्यंत प्यासा हूँ। इसलिए जब मैं इस उपासना में सब भाई-बहनों के साथ शामिल होता हूँ तो चित्त में एक ऐसी अवस्था का अनुभव करता हूँ, जिसको शायद समाधि कहना अनुचित न होगा। हमें एक मार्ग-दर्शन मिला था, अगर हम उस मार्ग-दर्शन में चलने की फिर से प्रतिज्ञा करते हैं तो हमारे लिए बहुत है। इसीसे हमारा पुण्य-पुंज बढ़ेगा, शक्ति बढ़ेगी।

सर्वोदय-समाज का हमारा यह संगठन एक ढीला-ढाला संगठन कहा जाता है। शब्द हमेशा विचार को ठीक बतलाता है, ऐसी बात नहीं है। अगर इसे संगठन कहना है तो मैं इसे सहज संगठन कहना चाहूंगा। बेहतर तो यही है कि हम अपने मन में समझें कि यह असंगठन है। यह रचना नहीं है, बल्कि सहज सम्पर्क है। इसपर लोग आक्षेप करते हैं कि ढीले संगठन से क्या लाभ होगा ? मेरे खयाल में यह आक्षेप सही भी है। हम अगर एक यंत्र चलाना चाहते हैं तो उस यंत्र को तंग होना चाहिए। यदि घर्षण के डर से हम उसे ढीला रखें तो वह यंत्र काम नहीं देगा। यंत्र चलाना है तो उसे तंग रखा जावे और यह ध्यान रखकर कि उसमें

घर्षण होगा, उसमें स्नेह के लिए तेल डाला जाय। घर्षण के डर से यंत्र ढीला रखेंगे, तो न घर्षण होगा, न तेल की जरूरत पड़ेगी, लेकिन साथ-साथ उस यंत्र से कुछ काम भी नहीं होगा। “मास्टर मारे नहीं ने भणावे नहीं”—मास्टर न मारे न पढ़ावे, ऐसी बात हो जावेगी। सर्वोदय-समाज के लिए किसी तरह की संघटना की कल्पना नहीं है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हमारा काम बिखरा हुआ होना चाहिए। हम जो काम करना चाहते हैं उसके लिए हमारे पास कोई संगठन नहीं है, ऐसी बात नहीं, बल्कि हमारे पास जो संस्थाएं हैं और जो अलग-अलग काम करती हैं उन सबका संगठन हम करने जा रहे हैं, उसमें से ही ‘सर्व सेवा संघ’ पैदा हो रहा है। वह हमारे कार्य का यंत्र होगा।

यह जो सर्वोदय-समाज है वह सह-विचार का, सह-चिन्तन का, तत्त्व-संकीर्तन का, नाम-जप का साधन हो, ऐसा हम चाहते हैं। वह यंत्र है ही नहीं। वह अनियंत्रित विचार है, जो हम विश्व में फैलाना चाहते हैं। और जिसे सारे विश्व में फैलना है, वह संदेह नहीं हो सकता, विदेह ही हो सकता है। इसलिए हम उसके लिए देह नहीं बना रहे हैं, अगर हम उसे संदेह बनावेंगे तो काम जरूर होगा, लेकिन वह विश्व-व्यापी नहीं होगा। इसलिए एक तरफ तो काम करने के लिए हम पूर्ण रूप से मुसज्ज, मुसंगठित, चुस्त यंत्र बनाने जा रहे हैं और दूसरी तरफ विश्वव्यापी ज्ञान-प्रसार के लिए एक विदेह रचना कर रहे हैं।

पिछले साल जब हम एकत्र हुए थे तब एक आदेश दिया गया था, जिसको मानकर मैंने परिव्रज्या शुरू कर दी, याने घूमना शुरू कर दिया। पिछले साल जो वातावरण था वह बहुत तंग था और हम जानते हैं कि सब लोगों की एकाग्र वृत्ति उस ओर थी। उसके सम्बन्ध में अगर हम कुछ कर सकते हैं तो जरूर करना चाहिए, ऐसा सब लोगों को लगा। मेरे मन में बापू की मृत्यु के बाद घूमने का विचार स्थिर हो ही गया था। यद्यपि वह विचार कई साल पहले भी मेरे सामने आया था। मौका मिलेगा तब घूमना शुरू करूंगा, ऐसा सोचता था। उस समय क्षेत्र-संन्यासी की वृत्ति से काम करता रहा। लोग मुझे बाहर घूमने को कहते थे, बोलने के लिए कहते थे, लिखने के लिए कहते थे। वैसे मैं कुछ बोल लेता था, कुछ लिख भी लेता था, लेकिन बहुत ही कम; क्योंकि स्थिर काम करना मैंने अपना धर्म समझा था। बापू की मृत्यु के बाद घूमने का धर्म भी सामने आया। पिछले साल के सम्मेलन ने वैसा आदेश दिया और मैं दिल्ली गया। वहां जो थोड़ा काम हुआ, उसका विस्तार से मैं जिक्र नहीं कर सकूंगा। इतना जरूर कहूंगा कि हम बहुत-कुछ नहीं कर सके हैं। लेकिन उसके लिए मुझे असन्तोष भी नहीं है। इतना ही हो सका कि जो परिस्थिति तंग थी और श्रद्धा का अभवि-सा हो गया था उसकी जगह कुछ श्रद्धा शरणाधियों और दूसरों में पैदा हुई है।

इस काम को करते हुए जो अनुभव आये, वह काम का एक छोटा-सा हिस्सा

है। परन्तु लोगों में फैली हुई साम्प्रदायिक भावना का निराकरण करने का मुझे जो मौका मिला वह उस काम का बड़ा हिस्सा है। सहज ही मुझे आते गये और मुसलमानों में काम करने का अवसर मुझे मिला। उन्होंने अत्यन्त प्रेम से और उत्सुकता से मेरा स्वागत किया, मानों वे मेरा इन्तजार ही कर रहे थे। दस साल पहले मुझे विचार सूझा कि मैं अरबी में कुरान का अभ्यास करूँ, तभी से शायद इसके लिए भगवान ने मेरी तैयारी की होगी। मैंने देखा कि मुसलमानों ने मुझे उनमें से एक माना।

सबसे महत्व की चीज, जो इस समय बहुतों की अपेक्षा से भिन्न हो सकती है, वह है—खादी। जहाँ जाता हूँ वहाँ स्वागत में हार मिलते हैं, गुजरात को छोड़कर जहाँ बहुत सूत मिला, बाकी सब जगह तो फूल की मालाएँ ही मिलीं। इसपर से आप समझ जायेंगे कि परिस्थिति कैसी है। मेरी हालत तो उस अंधे जैसी है जिसका वर्णन तुलसीदासजी ने अपने एक भजन में किया है। एक मनुष्य था जो बारिश के दिनों में, थावण के महीने में, अंधा हुआ। अंधा होने के पहले उसे सारी सृष्टि हरी-भरी दिखाई देती थी, अब क्योंकि वह अंधा हो गया है, सारी सृष्टि उसके लिए लोप हो गई है और उसे हरा-ही-हरा रंग सूझता है। तुलसीदासजी ने यही कहा कि मेरी दशा भी उस अंधे की तरह हो गई है। मुझे परमेश्वर के नाम के सिवा अब कुछ सूझता ही नहीं। आश्रम में मैं बरसों रहा तो वहाँ खादी-ही-खादी देखता था, दूसरी चीज नजर में नहीं आती थी। अब बाहर निकला हूँ तो वहाँ खादी नहीं देख रहा हूँ। इस अभाव में दूसरी सारी बातें फीकी लगती हैं। संभव है, यह उस सावन के अंधे जैसी स्थिति हो, लेकिन मैं अपनेको केवल अंधा ही नहीं मानता। हमारे सर्वोदय के विचार में खादी को जो स्थान है, वह दूसरी किसी चीज को नहीं। काका कालेलकर ने आज सुबह कहा, “आज नहीं तो कल, यद्यपि आज बड़े कहने की हिम्मत नहीं आई है, हिन्दुस्तान को ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया को खादी अपनानी है।” यह वाक्य मुझे ऋषि-वचन जैसा लगा। ऋषि भविष्य की बात देखता है। हमारे दूसरे काम भी अच्छे हैं और उन्हें करना चाहिए, लेकिन वे हमारी विचारधारा के प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनके खिलाफ कोई विरुद्ध विचार खड़ा नहीं है। मिसाल के तौर पर कुष्ठ-रोगियों की सेवा लीजिये। सब मानते हैं कि कुष्ठ-रोगियों की सेवा होनी चाहिए। वह नहीं करना चाहिए या दूसरे तरीके से वह सवाल हल हो सकता है, ऐसा कहनेवाला कोई विरोधी विचार कुष्ठ-सेवा के लिए नहीं खड़ा है। ग्राम्य सफाई की बात हम आज करते हैं, वह काम भी जरूर करना चाहिए, लेकिन उसके विरोध में कोई विचार खड़ा नहीं है, इसे सबमंजूर करते हैं। वैसे बात खादी की नहीं है। खादी के विरोध में एक विचारधारा खड़ी है और खदर उस विचारधारा के खिलाफ एक बगावत है। सारी दुनिया यन्त्र-विद्या में विश्वास करती है।

वैज्ञानिक इसे यन्त्र-युग कहते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब हम खदर की बात करते हैं तो समझना चाहिए कि दुनिया में जो विचारधारा आज चल रही है, उसके खिलाफ हमारा यह बगावत का भण्डा है। यों तो हमारा राष्ट्रीय भण्डा भी खादी का बनाया गया है और कुछ दूसरे ही रूप में क्यों न हो, हमने उसमें चरखे को स्थान दिया है, फिर भी हम उसे भूल रहे हैं। यह ध्यान में रहे कि हम दूसरी चाहे हजार बातें करें, लेकिन खदर में अगर कामयाब नहीं होते हैं तो गांधीजी के विचारों का प्रतिनिधित्व करने का दावा छोड़ देते हैं और हार कबूल करते हैं। खदर में हार कबूल करे तो दूसरी सेवा भी हम छोड़ दें, ऐसा नहीं है। वह तो हम करें ही। लेकिन वह सारी सेवा हमारे विचारों की दृष्टि से गौण हो जाती है, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि खदर छोड़ने पर हम असत्य या हिंसा का आचरण करते हैं, फिर भी अगर हम खादी को व्यावहारिक मानते हैं तो जिस सामाजिक अहिंसा का हम विचार कर रहे हैं उसमें खतरा देखता हूँ। इस सम्बन्ध में मैंने बहुत विचार किया है और यद्यपि मैं जानता हूँ कि यह चर्खा-संघ की सभा नहीं है, लेकिन जो बातें मैं आपके सामने कहूँगा, उन्हें आप मुनासिब ही समझेंगे।

तीस साल के बाद भी मैं कातना नहीं जानता हूँ, ऐसा तो नहीं कहा जायगा, यद्यपि मैं खुद को उत्तम कातनेवाला नहीं समझता हूँ। मेरा सूत मिल की बराबरी नहीं करता। ऐसा कच्चा सूत अधिक दाम देकर हम बुनवा तो सकेंगे, लेकिन वह चीज व्यापक नहीं होगी, उसमें बुनाई मंहगी पड़ेगी और बुननेवाला भी खुशी से नहीं बुनेगा। इस स्थिति में लोग अगर खादी का नहीं अपनाते हैं तो दोष लोगों का नहीं है। खादी को तीस साल तक मौका मिला है। अब भी अगर हम बुनकर को कह दें कि कच्चा सूत बुनें तो चलनेवाला नहीं है। एक जमाना था कि जब आश्रम में पांजन होती थी, तब हम सब दौड़कर उसमें सम्मिलित होते थे, मानो कोई लड़ाई हो। पांजन में जो धागे टूटते थे उनकी संख्या हम गिनते थे। मुझे याद है कि वह संख्या कई हजारों तक पहुँच जाती थी। यह १९२० की बात है। वही अगर हम १९४९ में देखते हैं तो समझना चाहिए वह काम चलनेवाला नहीं है। इसलिए मैं इस नतीजे पर आया हूँ कि सूत को दुबटना चाहिए, जिससे सूत मजबूत बनेगा और हम खुद भी उसे बुन सकेंगे। खुद कातते हैं, वैसे ही हम खुद बुन भी लें। ऐसा होगा, तब यह काम आगे बढ़ेगा। दुबटे सूत को बहुत-से लोग तो घर में ही बुन सकेंगे; जो लोग नहीं बुन सकेंगे वे दाम देकर बुनवा लेंगे। वह उनको सस्ता भी पड़ेगा। यह एक बात मैं आपके सामने रखना चाहता था। मेरी आपसे अर्ज है कि आप किसी भी काम में क्यों न पड़े हों, आप अपने आस-पास खदर का वातावरण अवश्य रखिये। अगर वैसा वातावरण नहीं है तो गांधी-विचार की दृष्टि से सारा काम खास कीमत नहीं रखता है।

दूसरी बात है— सर्वोदय-विचार पर परिपूर्ण अमल। उसका समग्र अमल कब होगा, यह तो परिस्थिति पर निर्भर है, लेकिन आज सामाजिक क्षेत्र में जो एक चीज हम कर सकते हैं, वह है छुआछूत का निवारण। वह अबतक हम नहीं कर पाये हैं। यह अत्यंत दुःख और शर्म की बात है। वैसे मैं दा साल तक भंगी का काम करता रहा, लेकिन वह तो देहात का भंगी का काम था, जो शहर के भंगी के काम की अपेक्षा बहुत आसान है। शहर का भंगी-काम मनुष्य के लायक ही नहीं है।

अप्पासाहब को आप जानते हैं। जेल में भंगी का काम मिले, इसलिए वहां उन्होंने सत्याग्रह किया था। लेकिन वह अपना अनुभव मुझे बताते थे कि शहर के भंगी का काम वह करने लगे तो दो-चार दिन में ही हार गये। ऐसा काम जिस मनुष्य को हम देते हैं, वह उसे अछूत कहकर ही करवा सकते हैं, क्योंकि उनका दूसरे धंधों में प्रवेश नहीं है। इस गुलामी से हमें इन्हें मुक्त करना ही पड़ेगा। उसके लिए हम सबको भंगी बनना चाहिए, या उस काम को ऐसा स्वरूप देना चाहिए, जिससे उसे हर कोई कर सके।

अप्पासाहब ने आज मुझे कहा कि इसे सर्वोदय के बदले अंत्योदय कहें तो अच्छा हो; क्योंकि हमारे भंगी भाई सबसे आखिर के दर्जे के हैं। वास्तव में सर्वोदय शब्द का मूल अंत्योदय की कल्पना में है। रस्किन के 'अन टु दिस लास्ट' के अपने अनुवाद को वापू ने 'सर्वोदय' नाम दिया है। जो सबसे नीचे की श्रेणी के हैं, उनका भी उदय सर्वोदय में है। सारी दुनिया का उदय जब होगा तब होगा, लेकिन भंगी का उदय तो होना ही चाहिए। शब्द तो 'सर्वोदय' ही रखना है, क्योंकि 'सर्वोदय' में अंत्योदय आ जाता है। केवल अंत्योदय शब्द में यह भाव आता है कि बाकी के लोगों का उदय हो चुका है, लेकिन ऐसा नहीं है। इस कम्बख्त दुनिया में उदय किसीका नहीं है, सबका अस्त ही है। किसीके घर में चूल्हा जलता ही नहीं है, और किसीके घर के चूल्हे में रोटियां जल जाती हैं। दोनों के चूल्हों का अस्त हुआ है और दोनों को खाना नहीं मिल रहा है। समाज के पैसेवाले लोगों के जीवन का परिपूर्ण अस्त कबका हो चुका है। और जो दरिद्री हैं, उनका तो अस्त ही है। तुलसीदासजी का एक भजन मुझे यहां याद आता है। उन्होंने भगवान से कहा है कि—“प्रीति की रीति आप ही जानते हैं। आप बड़े की बड़ाई दूर करते हैं और छोटे की छोटाई दूर करते हैं। यही आपकी प्रीति की रीति है।” बड़ों की बड़ाई कायम रखना, उनपर प्रीति रखना नहीं है। अधिक धनवालों की बुद्धि जड़-धन की संगति से जड़ और निस्तेज बन जाती है। जो जड़ बन गये हैं उनका और जिन्हें खाने का नहीं मिलता है उनका, दोनों का उदय होना बाकी है।

तीसरा विचार अपरिग्रह का है। भंगीपन को मिटाना है, वैसे ही परिग्रह को भी मिटाना है। वह अपरिग्रह-व्रत से ही हो सकता है। श्री राजेंद्र प्रसादजी ने सुबह

कहा कि कुछ लोगों का विचार अपरिग्रह का है तो कुछ लोगों का विचार अपहरण का है। अपहरणवादी कहते हैं कि अपने विचार का कुछ तो प्रयोग एक देश में हमने करके बताया है, आपका अपरिग्रह विचार चलेगा इसमें हमारी श्रद्धा नहीं है।

वे क्या कहते हैं, इसे हम छोड़ दें। लेकिन हमारे देश की हालत ऐसी है कि अगर हम अपरिग्रह-व्रत पर अमल न करें तो संघर्ष नहीं टल सकता। मैंने अजमेर में देखा कि मारवाड़ियों और सिंधी शरणार्थियों के बीच द्वेष-भावना भरी है। अब यह कम हो रही है, क्योंकि सिंधी व्यापारी वहां से हट रहे हैं। मैंने वहां कहा था कि हिंदुस्तान में कभी हिंदू-मुसलमानों के बीच, तो कभी ब्राह्मणपंथियों के बीच, तो कभी सिंधी और मारवाड़ियों के बीच भगड़े होते ही रहेंगे, जबतक हिंदुस्तान में आज की दुर्दशा कायम रहेगी। जबतक अन्न की उत्पत्ति नहीं बढ़ेगी, द्वेष का यह जहर किसी-न-किसी रूप में बना रहेगा। भगड़े मिटेंगे नहीं, हिंसा टलेगी नहीं। मैं गणित का प्रेमी रहा, इसलिए गणित की भाषा में, लेकिन कुछ सख्त शब्दों में, मैंने कहा कि अगर हिंदुस्तान में थोड़ा सुख का अनुभव लोग लेना चाहते हैं तो दस करोड़ को कत्ल कर देना चाहिए, तभी बची हुई सामग्री में आधिभौतिक सुख मिलेगा।

मतलब, शारीरिक श्रम के साथ अपरिग्रह-व्रत और अपरिग्रह-व्रत के साथ शरीर-श्रम दोनों एक-दूसरे के साथ आते हैं। एक ही चीज के ये दो पहलू हैं। एक साल अपरिग्रह की बात हो रही थी, तब यह पूछा गया था कि किसकी कितनी जरूरत है, यह कौन तय करे? मैंने कहा था जिसकी जरूरत हो, वह ही तय करे। हमारे पास धन नहीं है, इतने से हम अपरिग्रही नहीं बन जाते। हमारे पास दूसरा भी अपरिग्रह पड़ा है। पैसे नहीं तो ऐसी पुस्तकें पड़ी हैं, जिनकी कभी एकाध बार ही जरूरत पड़ती है, बाकी हमेशा बन्द ही रहती है। यह एक तरह का परिग्रह ही है। इस तरह हमें अपने जीवन का शोध करना चाहिए।

परिग्रह का दूसरा भी एक पहलू है। हम यह मान लेते हैं कि खुद के लिए हम परिग्रह न करें, लेकिन संस्थाओं के लिए कर सकते हैं। हिंसावादी अपने लिए हिंसा नहीं करना चाहता है, लेकिन समाज और राष्ट्र के लिए हिंसा करने में पाप नहीं समझता। हम भी संस्था के लिए परिग्रह क्षम्य मानते हैं। मैं एक और मिसाल दूं। चर्खा-संघ का पैसा बैंक में पड़ा रहता है, जिसका ब्याज उन्हें मिलता है। सोचने की बात है कि ब्याज कहां से मिलता है? वह पैसा दूसरे धंधों में लगाया जाता है, इसलिए ब्याज मिलता है। चरखे के लिए दिया हुआ इअर-मार्क पैसा गो-सेवा जैसे अच्छे काम में नहीं लगाया जा सकता, यह मर्यादा हम मानते हैं। लेकिन बैंकों द्वारा दूसरे धंधों में यह लगाया जा सकता है, लगाया जा रहा है, यह एक महान् आपत्ति है। यह धन-लोभ ही है, चाहे संस्था के नाम से ही क्यों न हो। इसी तरह

हमने कस्तूरबा-कोष में फंड इकट्ठा किया है और अब गांधीजी के स्मारक में फंड इकट्ठा किया जा रहा है। इतने पैसे की जरूरत ही क्यों होनी चाहिए ! और अगर पैसे की जरूरत है और इकट्ठा किया गया है तो साल-दो-साल में वह खत्म करना चाहिए। पर यह बनता नहीं और बैंक में पैसा रखकर व्याज लेने की बात छूटती नहीं, उसमें हम दोष नहीं देखते। कारण, हम रहते ही ऐसे समाज में हैं, जहां व्याज लेना मूर्खता माना जाता है। गीता में 'त्यक्त सर्वं परिग्रह' कहा है—अर्थात् सब परिग्रह छोड़ो। अगर परोपकार के लिए भी परिग्रह का मोह रखते हैं तो वे सारे दोष पैदा होते हैं, जो एक सांसारिक के काम में पैदा होते हैं।

**पहला सर्वोदय-सम्मेलन**

**राऊ, ६ मार्च १९४६**

## २ : : अहिंसा का रास्ता

आज हम चार दिन मिलजुल कर प्रेमसंलाप करते हुए, विचारों का विनिमय करते हुए, साथ-साथ सामुदायिक कार्य करते हुए और एकत्र रहे। यह एक बड़ा भारी जीवन-लाभ हम सबको हुआ। साढ़े सातसौ के करीब सेवकगण हिन्दुस्तान भर के यहां आये। यहां आने से उनको किसी तरह का भौतिक लाभ मिलनेवाला नहीं था। इस संस्था के समाज के सेवक बनने के कारण किसीको भी कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता है। फिर भी इतने सारे लोग यहां आये यह छोटी बात नहीं। अगर इस संस्था के या सम्मेलन के साथ कोई सत्ता, या सत्ता की आकांक्षा या उसकी छाया भी जुड़ी हुई होती तो इस सम्मेलन की कोई खास कीमत नहीं थी। लेकिन सब तरह की सत्ताओं से अलिप्त रहने की इच्छा रखने-वाली जमात ऐसे जमाने में इकट्ठा होती है कि जो जमाना सत्तालोलुप माना गया, यह बात काफी महत्त्व रखती है।

लोगों ने तीन-तीन मिनट व्याख्यान दिये। यहांपर उन व्याख्यानों की कीमत इसलिए नहीं कि उनमें कोई खास लज्जत थी, या उनके बोलने का कोई ढंग था; बल्कि इसलिए कीमत थी कि उन लोगों के बोलने के पीछे कुछ-न-कुछ काम रहा है। यानी, यह सारी काम करनेवाली जमात है। ऐसों के जो शब्द होते हैं, उनका नाप, उनकी कीमत का अंकन, उनके पीछे जो ध्येय है, उससे छोटा है। मैंने बहुत-सारे व्याख्यान एकाग्रता से सुने और उनमें से बहुत-कुछ चिन्तन के लिए मसाला मुझे मिल गया। हम लोगों का यहांपर सभा-संचालन का यही तरीका रहा कि हम कुछ विषयों की चर्चा करते हैं। वैसे तार्किक चिन्तन से अगर किसी प्रश्न की छालें निकाला करें, तब तो अनंत छालें होती हैं। लेकिन काम करनेवाले

तार्किक चिन्तन नहीं करते हैं, अनुभव के आधार पर चिंतन करते हैं। उस हालत में उनको किसी सवाल के जो पहलू सूझते हैं, वे यहां रखते जाते हैं। उसीपर ही साधक-बाधक चर्चा होती है और फिर उस चर्चा को हम वहीं छोड़ देते हैं। यह एक ऐसा अजब तरीका है सभा-संचालन का, और केवल नया होने के कारण उसमें कुछ दिलचस्पी मालूम हो सकती है। लेकिन कइयों को शंका रहा करती है कि आखिर हम कोई प्रस्ताव नहीं करते तो इसका, इस चर्चा का, क्या नतीजा आता है।

सिकन्दर बादशाह की कहानी है कि उसका एक पदार्थ-संग्रहालय था, जिसमें कई महापुरुषों के पुतले खड़े किये थे और हरएक का नाम नीचे लिख रहा था। एक दिन सिकन्दर के यहां एक मेहमान आया। उसको सिकन्दर सारा ऐतिहासिक संग्रहालय दिखाने के लिए ले गया। हरएक मूर्ति वताता गया और उसका वर्णन, जो नीचे लिखा था, सुनाता गया। उसे देखने और सुनने के बाद मेहमान पूछता है कि “इतने पराक्रमी लोगों में आपकी मूर्ति तो कहीं दीखती नहीं है। इसका कारण क्या है?” सिकन्दर ने कहा, “मेरी मूर्ति खड़ी की जाय और फिर लोग आकर पूछें कि यह किसकी मूर्ति है? नाम लिखा रहेगा नीचे तो पूछेंगे कि सिकन्दर कौन था? इसके बजाय बेहतर है कि यहां मेरी मूर्ति न हो और लोग पूछें कि यहां सिकन्दर की मूर्ति क्यों नहीं है, यह मैं अधिक पसंद करूंगा?” तो कोई चर्चा हम करें, अंत में प्रस्ताव करें और उस प्रस्ताव का दुनिया में कोई अमल न हो, जैसे कि बहुत-से प्रस्तावों का होता है, उसकी बजाय बेहतर है कि हम चर्चा करके इस चीज को छोड़ दें और हरएक मनुष्य को अपने-अपने स्थान पर जाकर उसमें से जिसको जैसे सूझेगा वैसे आगे बढ़े, तो हरेक की बुद्धि-शक्ति का प्रयोग उसमें होगा और कुल मिलाकर बहुत अच्छा अमल दीख पड़ेगा। यह बेहतर है, ऐसा समझ करके हमने यह तरीका चुन लिया है। इसमें असमाधान के लिए गुंजाइश नहीं है, बल्कि तृप्ति के लिए गुंजाइश है।

इस बार यहांपर प्रादेशिक सभाएं अलग-अलग कराई गईं, जिनसे मुझे बहुत लाभ हुआ। रोज की दो सभाएं होतीं रहीं। इस तरह सात सभाएं हो चुकीं। आज रात को एक आखिरी सभा होगी और सारे हिन्दुस्तान के जितने कार्यकर्ता यहां आये उनसे कुछ-न-कुछ परिचय मेरा हो जायगा। उन लोगों के सामने जो भी चीज शुरू रखनी थी, उस-उस प्रांत की विशेषता देखते हुए वह उन लोगों के सामने दिल खोलकर रख दी। मैं मानता हूं कि वे चीजें, जो मैंने रखी हैं, लोगों के दिलों तक पहुंच गईं और मैं उम्मीद रखता हूं कि यहां से जाकर उन चीजों से बहुत-सी चीजों को वे अपने जीवन में एकरस कर लेंगे। इससे मुझे जो लाभ हुआ है वह यह हुआ कि हरेक प्रांतवालों के साथ मैं एकरस हो सका हूं। रूप से नाम बेहतर है। नाम से भी प्रेम बेहतर है। लेकिन देहधारी अवस्था में, और जबकि

हम सारे हिंदुस्तान की एक विशेष प्रकार की सेवा करना चाहते हैं और हिंदुस्तान को ही नहीं, ईश्वर के सारे विश्व को विशिष्ट समाज में परिवर्तित करना चाहते हैं, तब प्रत्यक्ष संबंध भी कुछ लाजमी हो जाता है। इस वास्ते यह कदम मैंने उठाया है और उसका मुझे बहुत लाभ हुआ।

चार दिन मैं यहां रहा। पैदल चलकर आया। उससे जो भी थकान आई थी, सारी यहां के मित्रों के दर्शन से दूर हो गई और इसके आगे मैंने सोचा है कि अगर ईश्वर की इच्छा होती तो कम्यूनिस्ट लोगों ने जहां काफी काम किया है, और कुछ ऊधम भी मचाया—ऐसा कहते हैं, उस सारे मुल्क में पैदल घूम लूं; ऐसा एक-दो महीने का कार्यक्रम रखा जा रहा है। मेरी स्वाहिश है कि सरकार इसमें मुझे पूरी मदद दे। मैं सरकार से मदद यही चाहता हूं कि कम्यूनिस्ट लोग मुझसे खूले दिल से बेरोक-टोक मिल सकें। याने जो मिलने के लिए आ जायं उनपर किसी तरह की दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। उनको कोई संकोच या भय महसूस नहीं होना चाहिए। इतना अगर सरकार की ओर से हो जाय तो मेरी यात्रा न सिर्फ मेरे लिए बल्कि अपने देश के लिए काफी लाभदायी होगी, ऐसी मुझे उम्मीद है। तो यह तो आगे मैंने जो सोचा है, आपके सामने रखा।

जो विशेष बातें आप लोगों के सामने मुझे रखनी थीं, वे सारी मैंने अपने प्राथमिक व्याख्यान में रख दी हैं। फिर भी इस दो-एक मिनट में उनको दोहरा लूं। उनको याद करने के लिए एक छोटा-सा श्लोकार्ध मैंने बनाया है, जिसमें उन चीजों का नाम-निर्देश है। “अतः शुद्धि बहिर्शुद्धिः श्रमः शांतिः समर्पणम्”—ये पांच चीजें हैं। अतः शुद्धि—अपने हृदय की शुद्धि, याने अपने व्यवहार की शुद्धि। इसका कार्यक्रम आप लोगों के सामने रखा है। कोई कहता है कि यह कार्यक्रम कुछ अधिक सरल है, थोड़ा ढीला होना चाहिए, या मर्यादित होना चाहिए। कोई कहता है कि उतना मूलगामी नहीं है, यह तो शाखाग्राही पांडित्य है। मूल का छेद होना चाहिए। इस तरह दो वाजू से इस पर आक्षेप आ रहा है तो उसकी मध्य स्थिति अभी के हमारे काम के लिए पर्याप्त हो सकती है। यह है अतः शुद्धि का सामाजिक कार्यक्रम।

मैंने जिसको ‘बहिःशुद्धि’ नाम दिया है वह सार्वजनिक सफाई, हर गांव में होनी चाहिए।

फिर तीसरी बात श्रम याने, परिश्रम-निष्ठा बढ़ाना। सिर्फ परिश्रम ही नहीं, बल्कि उसकी निष्ठा भी बढ़ाना। परिश्रम तो लाचार होकर क्यों न हो, सारी दुनिया किसी-न-किसी सूरत में कर रही है। लेकिन निष्ठापूर्वक श्रम करने की बात है। तो श्रम और श्रम-निष्ठा हमें बढ़ानी है, यह तीसरी बात है। क्रम तो श्लोक के लिए जैसे बैठ गया वैसे बिठा दिया। मेरे व्याख्यान में क्रम कुछ दूसरा था।

फिर 'शांति' शब्द से मेरा मतलब 'शांति-सेना' है। उसके बारे में आप लोगों ने काफी सुना है। अपनी जगह आप उस कार्य को करियेगा। आपमें से हरेक सिपाही है और सरदार भी है। जितने रचनात्मक काम करनेवाले हैं वे सारे शांति-सेना के सैनिक हैं और उस दृष्टि से अपनी तरफ वे देखें और उस दृष्टि से अपना कार्यक्रम रखें, तो जगह-जगह शांति-सेना खड़ी हो सकती है और फिर अपना सारा जीवन उसके अहंकार के साथ समर्पण कर देना है। उसकी एक छोटी-सी निशानी के तौर पर हम लोगों ने सूत कातने की एक गुंडी मांगी है, जिसका कार्यक्रम आप लोगों ने बना लिया।

अब इस समय जो एकाध शब्द कहने की इच्छा होती है वह कह दूं। लोगों ने सवाल कई किये और वे बहुत अच्छे सवाल हैं। सारे काम के हैं। कोई शाब्दिक सवाल नहीं पूछा गया। लेकिन उन सब सवालों की चर्चा यहां करना, या उनका कोई उत्तर देने की कोशिश भी करना, मेरे लिए अशक्य है। ऐसे सवालों की चर्चा हम 'सर्वोदय' में किया करेंगे। अभी उन सवालों को मने देख लिया है। इस समय उनके उत्तर पाने की आप आशा न करें। इतना कहकर एक ही चीज आखिर में आप लोगों के सामने रख देना चाहता हूं।

दुनिया-भर के इतिहास में निरंतर एक चीज हो रही है कि एक देश गिरता है और एक देश उठता है और एक के पतन के साथ एक का उत्थान होता है। इस तरह निरंतर होता रहा है। और जब कोई देश गिरा है तो उसके लिए सबने सहानुभूति रखी है और जब उसने अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ाई लड़ी और वह कुछ यशस्वी हुआ तो सब लोगों ने उसका गौरव गाया। लेकिन गौरव गाने के चंद वर्षों के बाद देखा कि वही देश दूसरे देशों पर वक्र दृष्टि रख रहा है, जो स्वतंत्रता के गीत गाता था। बचपन में हमको याद है कि इटली कैसे स्वतंत्र हुआ और जापान ने कैसे स्वतंत्रता के लिए लड़ाई लड़ी और कैसे उसने एशिया की शान बढ़ाई, ऐसे गीत हम गाते थे। लेकिन चंद वर्षों के बाद हमने देखा कि वही जापान साम्राज्यवादी बन गया और देखते-देखते जिनकी हमने स्तुति की थी, उनके प्रति नफरत पैदा हुई और दूसरे देश, जिनपर उनका आक्रमण था, उनके साथ सहानुभूति पैदा हुई। चीन के लिए सहानुभूति पैदा हुई। अब हम नहीं जानते कि कहां तक चीन हमारी सहानुभूति के लायक बना रहेगा। यह सारा क्या तमाशा हो रहा है? जो स्वतंत्रता के लिए तड़पता है और परतंत्रता का दुःख भोग चुका है, वह जहां उसको स्वतंत्रता आई वहां दूसरों पर आक्रमण करने की सोचता है! इसके मानी क्या हैं? इसके सीधे मानी यह है कि स्वतंत्रता की यह जो कोशिश थी वह वास्तव में स्वतंत्रता की कोशिश नहीं थी, बल्कि एक ऐहिक उत्कर्ष की लालसा-मात्र थी और ऐहिक उत्कर्ष की लालसा की कोई सीमा नहीं होती है और वह आकांक्षा, वह पिपासा प्रतिक्षण बढ़ती जाती है। आखिर उसपर आक्रमण

होकर वह दुःख जगती है। तब वह दूसरों को सतप्त के प्रयत्न करती है। इस तरह सतप्त होकर है। लेकिन जब कोई ऐसा सिद्ध हुआ है और उसने की जनेश्वर करती है तो उस हालत से उसकी ऐहिक उत्कर्ष की अभिलाषा का स्वातंत्र्य प्राप्त की सभिसास का रूप हो जाता है। हमें सोचना चाहिए कि क्या हमारे भी ऐसा ही कुछ नहीं होगा? यह देखना चाहिए, जहाँ जहाँ देश-देशों स्वतंत्रता के लिये जिनहोने मार्य और अहिंसा के साथ जिनहोने अत्याचारों के अन्त में निजाव के लिये आक्रमण करने बने, वे विरक्त निज के लिए निकल सकते हैं।

आप यह न समझें कि अभी ये दिन दूर हैं। एक देश के चढ़ने और उतरने में जितना समय पहले के जमाने में लगता था, अब उतना कम नहीं लगनेवाला। मुराने जमाने में जो जीजसी को जाल में होती थी, वह अब इस जमाने में ही निकली है। इस जमाने का नाम है कि देश-देशों के हिंदुस्तान-एक का सिद्ध रेजीम (शासन) बन सकता है। अगर हम जाल में रहें। तो यह हम सब लोगों के लिए एक कितना बड़ा विषय है। ये यह जहाँ सुनिश्चित करने का रास्ता है कि अभी हमारी सरकार किस ढंग से काम कर रही है, इस ढंग में, जो कोई दोष-पेच रहा है। यह कोई एक सरकार भी स्थापित करेगी। ऐसी जगह नहीं है। वह सब हम लोगों के विचार-धारा में, समान-असमान में, पूछा है। एक-अन्य-बाध भी अपने-अपने पर अपनी इच्छा-विविध करने-सहित है। ऐसी-आशा करता है जो जहाँ इसकी इच्छा के मुताबिक वह लड़कियाँ लड़की नहीं लड़ती। जो इसकी भूमिका है या पीठवा है। जहाँ एक माता, जिसको विल में लड़के के लिए भेज रही है, उस वही है, उस लड़के के लड़का के लिए ही जहाँ न हो उसकी मीठी है। वह इसको सामान्यशाही, पूँजीवाही और इसकी जो प्रत्येक अर्थवाही है, उन सबका शिक्षण देती है। यही वह को समझना-समझना, इसको कोई संतोष देती। उससे संतुष्ट हो जाओ और कलीफ-दे सो सकते हैं, इस तरह का शिक्षण वह अपना अपने बच्चे को दे देती है। उसके मूल में बस यही बात है। यह निश्चयी चाहिए कि वह लड़का अपनी इच्छा के अनुसार चलना चाहिए। तो हम लोगों को लम्बे-दूर से यह आर्थिक करनी चाहिए कि वह भ्रमवाच, ऐसी इच्छा मुझपर ही लगे, उस इच्छा का बोध बुनियाद में और किसी पर न लादी जाय। वह इच्छा जितने बलवान् आये वह उसके मुताबिक जने। यह उसकी मर्जी की बात है और हमारी खुशी की बात है। लेकिन किसी भी कारण, वह कारण बाह्य-नैतिक भी नहीं लगे, हमारी इच्छा दूसरे किसी के लिए पद न लादी जाय। बिना समझे-अज्ञाना असब बुनियाद में नहीं लगे। ऐसी भूमिका से हमें प्राथमिक कार्यनीति चाहिए। सबके वह प्राथमिक हमको नहीं सुभने और हमको यह खगल है कि जो किने-अन्वदी चाहे लोभा-अभय वात-अभय, वैश्विक फलनी चीज हो ही नहीं लगे। वह किने-अन्वदी लोभा-अभय लेना चाहिए कि हमारे मित्रों के लिये भी है और जो प्रजावात-अभय है। मन्त्रालय के बीच-अभय बोध-अभय हैं

ऐसा समझना चाहिए।

जब कभी लोग जनता को शिक्षण देने में हार जाते हैं तो वे कहते हैं कि शिक्षण देते-देते कितना समय लग जायगा, उससे बेहतर है कि एक व्यवस्था करो और उसको लोगों पर कायम करो। इससे लोग उसके अनुसार चलने लग जायेंगे और शिक्षण देने का काम हम आहिस्ता-आहिस्ता कर लेंगे। तो शिक्षण देने में हम हार खाते हैं और उसके बदले शस्त्रास्त्र बनाने में उत्साह रखते हैं। कहते हैं, कितने लोगों को शिक्षण दें ? पांच लाख गांवों में कौन जाय ? कौन लोगों को समझावे ? उनके जीवन में परिवर्तन कब होगा ? कब वे समझेंगे ? इससे बेहतर है कि कोई व्यवस्था की जाय। उसके पीछे दंड तो रहेगा। 'दंड धर्मविदुर्बुधाः,' यानी, दंड धर्म है, ऐसा ज्ञानी कहते हैं। तो ज्ञानियों का आधार हमको मिल गया। फिर उस व्यवस्था से सब लोग शांत हो जायेंगे और सुखी हो जायेंगे।

यह सुनकर मुझे अपने बचपन की एक बात याद आती है। मेरी मां को जो मिलता उससे कहा करती थी कि विन्या की स्मरणशक्ति बहुत तेज है। संध्या उसको सिखाई तो तीन दिन में सीख गया। कई मर्तबा यह स्तुति मैंने सुन ली। आखिर एक दिन पूछा, "मां, तू मेरी स्तुति किया करती है, वह ठीक है। लेकिन उसका उत्तराद्वं तुझे कहां मालूम है ?" तो उसने पूछा, "क्या उत्तराद्वं है ?" मैंने कहा कि विन्या तीन दिन में सन्ध्या सीखा जरूर, लेकिन दो ही दिन में भूल गया। तो व्यवस्था से काम तो हो जाता है, ऐसा आभास आता है, लेकिन क्योंकि वह व्यवस्था लोगों को शिक्षण देकर नहीं बनाई गई थी, इसलिए उस व्यवस्था से लोगों में असंतोष पैदा होता है और नई व्यवस्था होनी चाहिए, ऐसा लोग कहने लगते हैं। यह जो नई व्यवस्था की मांग है वह नित्य हुआ करती है। तो थोड़े दिनों में व्यवस्था हो जाती है, वैसे थोड़े ही दिनों में अव्यवस्था का आरम्भ हो जाता है और नई व्यवस्था की आवश्यकता मालूम होती है।

इसलिए बेहतर है कि ऐसे मोह में हम न रहें। केवल व्यवस्था करके कोई चीज हमें हासिल नहीं होगी और हम शांत हो जायेंगे और बाद में शिक्षण देते रहेंगे, ऐसी आशा न करें। बल्कि शिक्षण देने की ही हिम्मत रखें। जबतक लोगों को शिक्षण मिलता है, तबतक धीरज रखें, तो हमारा काम जल्द-से-जल्द हो जायगा। चाहे दीखने में यह दीखे कि इसमें पचास साल लग गये, लेकिन वही कम-से-कम समय होगा, जो ऐसी समस्याओं के सुलझाने के लिए लग सकता था। मतलब इसका यह है कि हरेक मनुष्य को कोई चीज बिना समझे-बूझे नहीं करनी है। केवल हमारी मुरब्बत के कारण, या हमारे आदर के लिए, या हमारी आज्ञा के वश होकर, या किसी दंड के भय के कारण, या ऐसे ही किसी दबाव के कारण लोग अच्छी चीज भी क्यों न हो, करें तो हमें खुशी नहीं होनी चाहिए। अच्छी चीज भी समझ-बूझकर ही की जाय और जैसे गीता के अंत में भगवान

ने अर्जुन से कह दिया कि भाई 'यथेच्छसि तथा कुरु'—तू सोच ले और सारा सोचकर जैसा तुझे लगे वैसा आचरण कर, वही हमारा विश्वास होना चाहिए। किसी तरह के दबाव में हमारा विश्वास जरा भी नहीं होना चाहिए। तब हम वह राज्य ला सकेंगे जो अहिंसा का राज्य होगा और उसके आने के बाद स्थायी शान्ति की आशा हम कर सकते हैं, क्योंकि दूसरे मार्ग से अगर हम ज़म्येंगे तो हम स्वतंत्रता के अभिलाषी हैं, ऐसा जहां आभास आयेगा वहां दूसरे ही क्षण हम साम्राज्यवादी हैं, ऐसा स्पष्ट दर्शन हमें होगा।

तीसरा सर्वोदय-सम्मेलन,

शिवरामपल्ली, ११ अप्रैल, १९५१

### ३ : : शान्ति-सैनिकों की आवश्यकता

मेरी दशा कुछ विचित्र है। मैं सभा-सम्मेलनों में बहुत कम जाता हूं। 'गांधी-सेवा-संघ' के पहले अधिवेशन में गया, बाद के अधिवेशन में नहीं गया। कल प्रार्थना में हमने रवि ठाकुर का एक गीत सुना—“एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे।” उस गीत में जो भावना है, वह मेरे जीवन का आधार है। लेकिन मैंने अकेले चलनेवाले को कभी अभागा नहीं माना, भाग्यवान ही माना है। इतना ही फर्क है। मेरा मन इसी तरह काम करता है। हृदय से मैं सबके साथ चलता हूं। सबके साथ समवेदना, सहानुभूति और स्पर्श में रखता हूं। यही मेरा पंथ या चलने का रास्ता है। सबके साथ इस तरह के निरंतर स्पर्श का मेरा हृदय साक्षी रहता है। इसलिए जब सबसे मिलने का मौका आता है तो उसमें मुझे आनंद होता है। लेकिन सम्मेलनों की मुश्किलों की मुझे कल्पना नहीं है। पर एक बार वहां चले जाने पर वहां से जल्दी लौटने की उतावली नहीं होती, क्योंकि मेरा मानस देहाती है। देहाती लोग हर काम धीरज से करते हैं। रेल आने से पहले घंटा भर स्टेशन पर जाकर बैठते हैं और रेल आने पर आराम से उसमें बैठते हैं। इसी तरह मेरा भी मानस काम करता है। आजकल तो मैं पैदल ही घूम रहा हूं। इसलिए कहीं से जल्दी-जल्दी भागना मुझे ठीक नहीं लगता। इतमीनान से काम करता हूं।

यहां आपने दो-तीन दिन वाल-गोपालों की बातें भी सुनीं। एक भाई ने कहा कि यहांपर किस तरह बोला जाय, इसके विषय में कुछ नियन्त्रण होना चाहिए। मैंने कहा कि समय का नियन्त्रण तो रहता ही है, इसके अलावा कोई बेजा शब्द, जिसमें हिंसा का भाव होता हो, निकले तो उसे रोका जाता है। इसके सिवा और

कोई नियंत्रण वक्ताओं पर रखना सवादय-सम्मेलन के अनुकूल नहीं होगा। साल भर में एक दफा लोग यहां आते हैं। उन सबकी बातें हमें सुननी चाहिए। मैंने सबके भाषण ध्यान से सुने। मैंने तो इन तीन दिन के व्याख्यानों से बहुत-कुछ पाया है, क्योंकि मेरे लिए दूसरा कोई साधन नहीं, जिससे मैं यहां आये हुए लोगों के मानस को समझ सकूँ। बाल-गोपालों के शब्दों में साहित्यिक शैली का पालिश नहीं होता। कृत्रिम शिष्टाचार का नाहक संयम नहीं होता। उनकी बोली तोतली बोली कहलाती है। उनके कथन में भावनाओं का सहज प्रकाशन होता है। इस सम्मेलन में ऐसी कोई बात किसीके मुंह से नहीं निकली, जिसके लिए हमें खेद करना पड़े। यह मेरे हृदय की अनुभूति है, जिसे मैं आपके सामने रख रहा हूँ।

अब यहां जो विचार प्रकट किये गए हैं, उनके सम्बन्ध में बुनियादी बातें मैंने कल और परसों दो दिन कही हैं। आज यह अंतिम समारोप का कथन है। इसलिए उपसंहार के रूप में कुछ कह देना चाहता हूँ।

इन तीन दिनों की चर्चा में कई बार यह कहा गया कि हमें शांति-सेना का कार्य करना चाहिए। हमने अबतक क्या किया। इसके संबंध में जब हम सोचते हैं तो यह कहा जाता है कि हमने कुछ भी नहीं किया। ऐसा विचार यहां बहुत दफा बोला गया है। लेकिन मैंने तो शांति-सेना के सैनिक के नाते ही साल भर काम किया। तेलंगाना में मैंने लोगों से कहा कि मैं शांति-सैनिक के नाते यहां आया हूँ। आज भी मैं शांति-सैनिक के नाते घूम रहा हूँ। आखिर शांति-सेना का काम किस तरह होगा? उसका संगठन दूसरी सेनाओं की तरह नहीं होता। शांति-सैनिकों को ऐसे काम में लग जाना चाहिए, जिससे अशांति का उद्भवन हो। अशांति के बीजों को नष्ट करने के प्रयत्न में उन्हें निरन्तर रहना चाहिए। जनता के निकट सम्पर्क में आना चाहिए।

चौथा सर्वोदय-सम्मेलन,  
सेवापुरी, १५ अप्रैल १९५२

## ४ : : नीतिधर्म की प्रेरणा

गये साल हम लोगों ने जो काम किया, उसके विषय में उस-उस प्रदेशवालों के साथ मैंने चर्चा कर ली। उस चर्चा के दौरान में कई मर्तबा कार्यकर्ताओं को जागृत करने के लिए कभी-कभी कठोर वचनों का मैंने उपयोग किया था। लोगों ने वह सब प्रीतिपूर्वक सहन कर लिया। लेकिन अभी उसके लिए मैं सब लोगों से क्षमा मांग लेता हूँ। मुझे कहना चाहिए कि गये साल जो काम हुआ वह यद्यपि

अधिक हो सकता था, अगर काम में हम कुछ व्यवस्था रखते, तो भी जो हुआ, वह काफी हुआ है, ऐसा कह सकते हैं और असमाधान के लिए कोई कारण नहीं है। कल जो प्रस्ताव पढ़ा गया, उसमें सात-आठ लाख एकड़ जमीन गये-साल इकट्ठा हुई, उसका गौरवपूर्ण उल्लेख है। मेरे मन में भी है कि जो काम हुआ, उसके करने में जिन लोगों ने हाथ बंटाया, उनके लिए यह गौरव की बात है।

अब अगले साल हम आगे बढ़ना चाहते हैं और जितना हमने निश्चय किया है, उतना पूरा करना चाहते हैं। वह काम बहुत कठिन तो नहीं है। इस साल हमको ग्यारह महीने मिले, अगले साल तेरह महीने मिलेंगे। और अब योजना अच्छी हुई है, लोग भी जागृत हो गये हैं तो उतना काम हो ही जायगा, ऐसी मैं उम्मीद करता हूं। लेकिन अपना काम उससे अधिक व्यापक है। उद्देश्य ऊंचा है। उस दृष्टि से हमको आत्म-निरीक्षण करना चाहिए और उसके योग्य बनना चाहिए। तो जो कुछ दोष दीख पड़ते हैं, उनका निवारण हमें करना चाहिए। हम जब अपने स्थान के दोष बताते हैं तो दूसरों के साथ तुलना करके हम अपनेको ऊंचा या नीचा नहीं रखना चाहते, बल्कि स्वतंत्र रीति से अपना ही निरीक्षण करते हैं। जो दोष अपने में हैं, वे ही दूसरों में होंगे तो उससे हमारा कोई समाधान नहीं हो सकता। इसलिए तुलना की दृष्टि हम नहीं रखते, बल्कि स्वतंत्र रीति से अपना निरीक्षण करना चाहते हैं।

कल हमने देखा कि एक भाई बंगाली भाषा का प्रश्न यहां रखना चाहते थे। कुछ आवेश में वह बोल गये। तो यहां के लोगों के दिलों में सन्न नहीं रहा और उसको 'बैठ जाओ', 'बैठ जाओ' कहने लगे। अगर लोग सन्न रखते तो उसके हृदय में भावना उठती—“इस सभा में हमारा पक्ष रखने के लिए मौका मिला, इसके लिए मैं कृतज्ञ हूं।” वे समझते थे कि इस भाषा के उद्देश्य दूसरे हैं। कई काम यहां पड़े हैं तो उनकी बात के लिए, जो कि स्थानीय हैं, प्रवेश अगर मिल जाता है तो एक विशेष बात होती है और वैसा उन्होंने कबूल भी किया। अगर उनके भाषण को हम सहन कर लेते और शांत रहते तो एक मनुष्य को हम जीत सकते। लेकिन इससे उलटा हुआ। उनका दिल दुखा। यद्यपि बोलने का मौका उनको आखिर मिल गया, फिर भी जो चोट उनके दिल को पहुंची, वह उतने से दुरुस्त नहीं हुई। तोड़ना आसान होता है, जोड़ना कठिन होता है। और वह जो प्रदर्शन हुआ, वह सामुदायिक हुआ। कोई एकाध व्यक्ति एकाध व्यक्ति को रोकता है, या उसके बारे में आलोचना करता है तो वह व्यक्तिगत मामला हो सकता था। पर यहां तो समुदाय के अनेक व्यक्ति एकदम बोल उठे। वह दृश्य दुखदायी था। अगर वह एक क्षणिक बात हुई, ऐसा ही मुझे लगता तो उसकी मैं विशेष चिंता नहीं करता। लेकिन वह एक आकस्मिक बात नहीं है। वह एक दुर्गुण ही हमारे में है। उसको हम असहिष्णुता नाम दे देते हैं, जैसा धीरेन्द्रभाई ने दिया भी है।



मिल सकता है। तो हमको वह पढ़ना चाहिए।

कुछ लोग गांधीजी के वचनों का ही प्रमाण देते हैं और गांधीजी ने कभी-कभी कहा भी है कि 'लोग पढ़ते बहुत हैं, लेकिन उनको काम करना चाहिए।' पर उसका अर्थ इतना ही है कि जो नाहक पढ़ते हैं, व्यर्थ के चिंतन में अपना समय बिताते हैं, उनके विरुद्ध वह कथन है। परन्तु जो कार्यकर्ता हैं, वे दरअसल ज्ञान के हकदार हैं। वे ही पढ़ने के और चिंतन के अधिकारी हैं। जो काम नहीं करते, वे ज्ञान-प्राप्ति के अधिकारी नहीं, वे ज्ञान की चर्चा किया करें। और वास्तव में जो ज्ञान-प्राप्ति के अधिकारी हैं, क्योंकि वे कर्मपरायण हैं, अपना हक छोड़ें और ज्ञान की कीमत न करें तो उससे कर्म निस्तेज बनता है। यह अनुभव हमारे ध्यान में आया है। हम बोलते जाते हैं, लिखते जाते हैं; लेकिन मने देखा कि दो वर्षों के दरमियान जो बात मने पच्चीसों बार कही होगी और जिसके बारे में लिखा भी होगा, फिर भी वह बार-बार दोहरानी पड़ती है। खैर, में थक तो नहीं जाता, मेरे लिए तो वह जप ही होता है।

वस्तुस्थिति ऐसी है कि जितनी चिंतन की आवश्यकता किसी भक्तिमार्गी को हो सकती है, उससे अधिक हमको है, क्योंकि भक्तिमार्गी अपनी व्यक्तिगत शुद्धि करके संतोष मान लेता है और अपेक्षा रखता है कि उसमें जितनी दुनिया की सेवा होगी, उतनी होगी; पर हम उससे संतुष्ट नहीं रहते हैं, बल्कि व्यक्तिगत शुद्धि का काम भी हम अपनी सेवा से कर लेते हैं। तो जब हमारी बाहर की सेवा और अन्दर की चित्तशुद्धि की वृत्ति, दोनों को हम एकरूप मानते हैं तो हमारे ऊपर बहुत जिम्मेदारी आती है कि हम बहुत गहराई में जाकर चिंतन करें। कोई भक्तिमार्गी सत्पुरुष ऐसा दावा नहीं करता था कि मेरे आसपास अगर मेरे विचार का प्रभाव नहीं दीखता तो मुझमें ही कोई न्यूनता है और उसके लिए प्रायश्चित्त आदि करना चाहिए। वे समझते थे कि आसपास के लोगों के भी स्वतंत्र कर्म होते हैं और इसलिए उनकी चित्तशुद्धि की कोई जिम्मेदारी हमपर नहीं है। सहज भाव से एक-दूसरे का परिणाम एक-दूसरे पर होगा; लेकिन हम समाज और व्यक्ति में ऐसा फरक नहीं करते और अपनी चित्त-शुद्धि की कसौटी ही यह मानते हैं कि आसपास के वातावरण और परिस्थिति पर क्या परिणाम हुआ है। हम अपेक्षा रखते हैं, अगर हम सत्यवादी और सत्यनिष्ठ हैं तो, हमारे आसपास के लोगों में निर्भयता और सत्यनिष्ठा होनी चाहिए। हमसे कोई चीज वे छिपायें, ऐसा नहीं होना चाहिए। और अगर कोई चीज आसपास का मनुष्य छिपा लेता है तो हम यह मान लेते हैं हमारी सत्यनिष्ठा में, सत्योपासना में कमी है। तो अपनी चित्त-वृत्ति की कसौटी आसपास के वातावरण पर से करने की वृत्ति जो रखते हैं, उनपर बहुत गहराई में जाने की जिम्मेदारी है।

एक दिन बापू कह रहे थे कि "मुझमें सत्य की कमी है।" उसका कारण वह

बताने लगे कि “फलां मनुष्य इतने दिन तक मेरे पास रहा, लेकिन फलां चीज मुझसे उसने छिपाई। मेरे सामने कहने की उसको हिम्मत नहीं हुई, दुनिया में जाकर तो कही है। दूसरे लोग जान भी गये हैं, लेकिन मेरे सामने वह चीज नहीं कही है। अगर मैं सत्यनिष्ठ होता तो उस मनुष्य को पहले मेरे पास आकर कहने की इच्छा होती और दूसरों को कहने में उसको संकोच होता। अपना पाप या दोष, जो भी हुआ है, वह जैसे लड़का माँ के पास जाकर कह सकता है, वैसे मेरे पास आकर वह कहता। लेकिन हुआ उलटा। दुनिया में मित्रों के सामने उसने वह बात कही है, लेकिन कई वरस हुए, अभी तक मेरे सामने उसने बात नहीं कही। इसका अर्थ यह है कि मुझमें सत्य नहीं है। अगर सत्य होता तो सामनेवाले को सत्य बोलने की हिम्मत होनी ही चाहिए। मेरे नजदीक रहनेवालों में अगर वह हिम्मत नहीं आई तो वह मेरी सत्य की कमी है।” मैं सुन रहा था। बहुत चर्चा हुई, उसका वर्णन यहां मैं नहीं करूंगा, लेकिन जो दृष्टि उन्होंने रखी, उसमें सत्य का एक अंश है। सत्य का पूरा अंश उसमें नहीं है। दूसरी बाजू भी उसमें है और मैंने थोड़े में कहा भी था कि जो परस्पर परिणाम होता है, मनुष्य की वृत्ति और आसपास की परिस्थिति का जो संबंध आता है, वह ‘अहल्या-राम-न्याय’ से होता है। यह मैंने एक नया न्याय बनाया है।

अहल्या-राम न्याय का सार यह है कि रामचन्द्रजी अपनी यात्रा में एक आश्रम में आये और वहां के एक पत्थर को उनके चरणों का स्पर्श हुआ तो उसका उद्धार हुआ और उसमें से अहल्या प्रकट हुई। ऐसी कहानी है। तो यह महिमा किसकी? रामचन्द्रजी की या अहल्या की? यों उनका चरणस्पर्श लाखों पत्थरों को हुआ, लेकिन उसमें से कोई अहल्या नहीं निकली। इसीलिए वह केवल राम के चरण-स्पर्श की जिम्मेदारी नहीं है। अगर हम यह कहें कि वह गुण उस पत्थर का था, जिसमें अहल्या सुप्त पड़ी थी तो हजारों लोगों के पांवों का स्पर्श उसको हुआ, फिर भी उसका उद्धार नहीं हुआ और रामचन्द्रजी के चरण के स्पर्श से ही उसका उद्धार हुआ। तो इसकी पूरी जिम्मेदारी अहल्या पर भी नहीं है। इस तरह कुछ गुण रामचन्द्रजी का और कुछ गुण अहल्या का, दोनों के गुण मिलकर एक बात बनी है। तो केवल एक पर जिम्मेदारी हम डालते हैं तो पूरा न्याय नहीं होता और पूरा सत्य उसमें नहीं आता। यह बात बापू को मैंने कही थी। और भी बहुत चर्चा चली, उसमें अभी मैं नहीं पड़ता, लेकिन उन्होंने जो बात कही कि अगर हम सत्यनिष्ठ हैं तो उसका असर आसपास के वातावरण पर होना चाहिए, यह अपेक्षा मिथ्या नहीं है।

लेकिन ऐसी अपेक्षा भक्तिमार्गी सत्पुरुष नहीं रखते हैं। वे कहते हैं कि दुनिया ईश्वर की इच्छा से चलती है; इसलिए यह जरूरी नहीं है कि मेरे स्पर्श से शेर अपना शेरपन छोड़े, गाय अपना गायपन छोड़े। एक भक्त ने तो मुझे कहा कि

हमारे को प्रति स्वीकार भी दुनिया में आचार बदलने से हमें रोकते हैं। हमें रोकते हैं। दुनिया में बदलाव रहे तो कोमल भी आकर्षण की संत है। मैं कहें। ईश्वर साक्षात्। कि मेरी संगति से क्या भाव सुधर सके, जबकि सर्ववर्द्धन पर ध्यान में होते हुए भी, उसकी संगति में नहीं सुधर रहे हैं। यह अविश्वसनीय की घड़ी है। इसमें परम नम्रता है, अहंकार का पूर्ण अभाव है और उस दृष्टि से सत्य की एक वंश उसमें है। लेकिन हम सत्वाग्रही के साथ यों मानते हैं कि हमारी चित्तवृत्ति अगर शुद्ध है तो आत्मपक्ष के वास्तविक परम में उसका परिणाम होना चाहिए। और इस कारण का आचार लेकर हममें सत्वाग्रही की योजना की है। सत्वाग्रही के तत्त्वज्ञान में वह एक मुक्त विचार पड़ा है। अगर उसे विचार को हम संकोचते हैं तो हमपर बहुत जिम्मेदारी आती है। जीवन की गहराइयों में हमको जाना चाहिए। जिस गहराई में पहुँचे थे। उसमें अधिक गहराई में हमको जाना चाहिए। जिस गहराई में पहुँचे थे। और अगर विचार की गहराई में हम नहीं पहुँचते तो में कहना चाहता हूँ कि यह एक ऐसी भूमि है कि हमारा आचार टिकनेवाला नहीं है। जहाँ तक हमारा स्वयं का तत्त्विक है। यहाँ हमारा आचार टिकेगा; क्योंकि हम आग्रह से उसको टिकाना चाहेंगे, लेकिन वह हिंदुस्तान एक सत्यज्ञान की भूमि है और यहाँ हर चीज के गहरे विचारों में जाने की क्षमता भी आती है। तब ही हमें सत्य का सच सुख-सम में यह प्रयोग करके देखा। वे कुछ आचारों तक सीमित रहे, कुछ सामाजिक सुधारों तक सीमित रहे और तत्वात्मिक की गहराई में नहीं गये। नतीजा उससे यह दुर्घटना कि धर्म के कुछ कुछ कल्याणकारी स्वयं हिंदुस्तान की जो ज़िम्मेदारी मिली, लेकिन वह हिंदुस्तान में टिकी नहीं। क्योंकि जिस गहराई में जो करामती सत्य-ज्ञान में पहुँचना चाहिए। वह जो धर्म में नहीं किया। मेरा कहना है कि यह भूमि ही ऐसी है कि विचार की गहराई में गये वैसे कोई भी जीवन का व्यवहार टिक नहीं सकता। हम मानते हैं कि गीता में एक प्राधान्य कहा है। परसे निकलने और उसपर से कितनी गहराई में वह गये, धर्म-धर्म के विचार को, पुरुष स्वयं किंवा, प्रकृति-पुरुष का विचार क्यों सोचे, आत्म-स्वरूप का सर्वत्र प्रकाशित। वे मात्र ज्ञान में ज्ञान में ज्ञान और आखिर नतीजा यह हुआ कि पुरुष-विकृति हुई। अब इसी गहराई में एक सीढ़ी से समाप्त करने जाना गया होगा। वह समाप्त में नहीं आयेगा, अगर हिंदुस्तान की जो भूमिका है। उसको हम न समझेंगे। तो हम जिस गहराई में नहीं जाते, कि एक कभी हमारे में है। तब ही हमसे नहीं स्वयं चाहिए, अगर हम चाहते हैं कि हम बड़ा काम हमसे भी जानें।

अब तीसरे दोष का उल्लेख करता हूँ। हम लोगों में शक्ति-कर्म नहीं है। और जो की शक्ति हमारे ऊपर। जो की भी बहुत है। उसपर भी बहुत है। हमें कि हमारे बारे में कि लक्ष्मी के लक्ष्मी-प्रकाश से ही रहे हैं। और किसी के काम-काज की वृद्धि पता तक नहीं, किसी भी अज्ञान है। उसका ज्ञान बहुत है। और किसी को ही

रूप प्रकट नहीं होता है। अगर हम तेल-ही-तेल इकट्ठा करें और एक शख्स के पास तेल की बोतलें पड़ी हैं, दूसरे शख्स के पास माचिस का भंडार पड़ा है, तीसरे के पास लालटेन बहुत-से पड़े हैं; फिर भी जबतक उनका योग नहीं होता तबतक प्रकाश नहीं होता, अन्धकार कायम रहता है। तो ऐसा हमारा हो रहा है।

कताई-मंडल स्थापित होते हैं तो कातते हैं। बेचारे हफ्ते में एक बार इकट्ठा होते हैं, कुछ काम करते हैं और घर पर चले जाते हैं। उनका कोई प्रचार दुनिया में नहीं होता। उनकी खुद की स्फूर्ति दिन-ब-दिन कम होती है। पचास मंडल स्थापित हुए, उनमें से पच्चीस गिर गये। बाकी के पच्चीस कुछ काम करते हैं, लेकिन उनका पता दूसरों को नहीं होता। ग्रामोद्योग-संघ को इसकी फिक्र नहीं कि कताई-मंडल कहां स्थापित हुए। फेहरिस्त तो उनकी आती है, लेकिन यह देखने की जिम्मेदारी उनपर नहीं है। अब ग्रामोद्योग की बात अगर नहीं चलती है तो उसके बारे में चौकन्ना रहने की जिम्मेदारी चरखा-संघ पर नहीं है। इस तरह हमारा सारा चल रहा है। यह गलत है। उसमें शक्ति नहीं है, यह सब जानते हैं। फिर भी चार-पांच साल हुए, वह चल ही रहा है। तो मुझे इस समय लगा कि जब हम बड़ा काम करने जा रहे हैं और सारी शक्ति उसमें केन्द्रित किये बगैर काम होने-वाना नहीं है तो फिर से उस विषय की ओर मैंने लोगों का ध्यान खींचा।

जयप्रकाशजी ने भी एक दफा जिक्र किया कि सब रचनात्मक संघों का एक संघ बन जाय तो अच्छा रहेगा। ये सब अलग-अलग रह जाते हैं तो उसमें से ताकत निर्माण नहीं होगी। यह इशारा एक सुहृद और मित्र के नाते उन्होंने किया और मुझे कहने में खुशी होती है कि उसके बारे में गम्भीरता से सोचा जा रहा है। सर्व-सेवा-संघ एकरूप बनेगा और जो मुख्य-मुख्य संघ हैं, वे उसमें विलीन होंगे। मैं तो मानता हूं कि यह दोष छोटे-छोटे कार्यकर्ताओं का नहीं है; जो मुख्य कार्यकर्ता हैं, उन्हींका है; क्योंकि उन्होंने जो एक रास्ता बताया उसीपर दूसरे जाते हैं। अगर रास्ता ऐसा बताया होता कि जहां भी कोई काम शुरू होता है, वह सर्व-सेवा-संघ का ही होता है और सर्व-दृष्टि से ही वह काम होगा, याने सर्व-सेवा वह होगी तो कहीं सिर्फ कताई-मंडल स्थापित नहीं होगा, बल्कि सर्व-सेवा-केन्द्र ही होगा। उसमें कताई भी चलेगी, ग्राम-उद्योग भी चलेगा, नई तालीम चलेगी, हरिजन-सेवा चलेगी; अर्थात् जो कार्यकर्ता वहां होगा, उसकी शक्ति और वृत्ति के अनुसार किसी काम पर अधिक जोर पड़ेगा, किसीपर कम पड़ेगा। वह वहां का कार्यकर्ता वहां की परिस्थिति, मांग आदि पर निर्भर रहेगा। फिर भी जो केन्द्र खुलेगा, वह सर्व-सेवा-केन्द्र खुलेगा। यह विचार किया जा रहा है और वह दोष मिट जायगा, ऐसा मुझे लगता है। लेकिन मुझे लगा कि इस ओर कार्यकर्ताओं का ध्यान खींचूं और वे सर्वांगी दृष्टि रखकर मिल-जुलकर काम पूरा करें, तो अच्छा रहेगा; नहीं तो जो आज जलता है, वह चन्द दिनों तक चलेगा और

बाद में सारा-का-सारा खत्म हो जायगा ।

इसके अलावा आखिर में और एक बात । बहुत निरीक्षण करके मैं इस नतीजे पर आया हूँ कि रोज सुबह-शाम जो प्रार्थना करते हैं, वह गहरी नहीं है । मैंने बहुत संस्थाओं में देखा है कि एक सदाचार या शिष्टाचार के तौर पर वह चलती है । सदाचार अच्छा है, लेकिन केवल सदाचार के तौर पर वह चलेगी तो उसमें वह अनुभव नहीं आयेगा, जो सच्चे दिल से की हुई प्रार्थना से आता है । बापू ने इस बारे में अपने जीवन से और मरण से हमको बहुत शिक्षण दिया है । आखिर में वह गये तब प्रार्थना के उत्साह में थे और प्रार्थनामय होकर उन्होंने देह-परित्याग किया और जहाँ वह गोली उनके शरीर पर लगी, वहाँ उन्होंने परमेश्वर का नाम लिया । यह कोई छोटी बात नहीं है । वह निरन्तर जागृत रहते थे और दो दफा जो प्रार्थना करते थे, वह केवल सदाचार के तौर पर नहीं, बल्कि अपना हृदय उसमें रखते थे । वह तो कहते थे कि हर सांस के साथ मेरी प्रार्थना चला करती है । और वह केवल अहंकार नहीं था, या कल्पना नहीं थी, बल्कि उनके जीवन की वह एक मुख्य वस्तु थी । तो हम जो प्रार्थना करते हैं, वह शिष्टाचार तो होता है, लेकिन उसकी गहराई में हम नहीं जाते । यहीं देखियेगा । यहाँ हमने खाने के लिए कितना इन्तजाम किया । सारा तालीमी संघ, आशादेवी और विहार के सारे लोग उसमें लगे, तब हमको खाना मिला । इतना आयोजन हमने खाने के लिए किया । लेकिन प्रार्थना के लिए हमने कितना आयोजन किया होगा ? कितना चिंतन किया होगा ? हमने प्रार्थना तो की, लेकिन उसके लिए हमको बहुत करना पड़ा है, ऐसा नहीं है ।

प्रार्थना ऐसी वस्तु है कि उसके लिए बाहर का कोई खास काम करना भी नहीं पड़ता है । जो करना पड़ता है, वह अन्दर में है और वह एक क्षण में हो जाता है । उसके लिए ज्यादा समय भी नहीं देना पड़ता । उतना अगर हम करें तो उससे हमें बल मिलेगा । और जैसे-जैसे हम एक-एक कठिन काम उठाने जा रहे हैं, वैसे-वैसे सिवा परमेश्वर के आधार के, उनकी पूर्ति के लिए हममें क्या ताकत होगी, हम नहीं देखते । अगर ईश्वर का आधार सच्चे दिल से हम नहीं रखते तो यह हो नहीं सकता कि सत्यादि धर्मों पर हम अविचल कायम रहें ।

शंकररावजी ने कल जिक्र किया था कि “हम जो काम करते हैं, वह इहलोक के लिए, याने यहाँ के प्रत्यक्ष अनुभव के लिए करते हैं । पुराने जमाने में जो यात्रा और यज्ञ इत्यादि होते थे, उसमें वे परलोक का खयाल करते थे ।” तो हमारे काम में और उनके काम में, यह फर्क है । यह फर्क तो उन्होंने ठीक बताया, लेकिन सोचने की बात है कि परलोक का नाम भी क्यों लिया जाता है ? इसलिए लिया जाता है कि जब एक व्यक्ति को हम कहते हैं कि मुझे सत्य पर अविचल रहना चाहिए और उससे मुझे नुकसान नहीं होगा बल्कि लाभ होगा तो उसके जवाब में वह

कहता है कि फलां मौके पर वह सत्य बोलता है तो उसका नाश होता है और असत्य बोलता है तो बच जाता है। अब आप उसको क्या कहेंगे? उस हालत में भी असत्य नहीं बोलना चाहिए। इस तरह अविचल सत्यनिष्ठा, अविचल निज-निष्ठा जो मानना चाहते हैं, वे उसके लिए आधार क्या बतायेंगे? तो जिन्होंने एक दूसरे ढंग से सोचा था, उन्होंने परलोक का आधार बताया कि भाई, असत्य बोलोगे तो चाहे इस दुनिया में लाभ होता-सा दीखेगा लेकिन वह परलोक ही स्थायी है, यह दुनिया तो चन्द दिनों की है। तो चन्द दिनों का लाभ देखकर स्थायी का लाभ नहीं छोड़ना चाहिए। वह एक बाल-भाषा थी, बाल-भाषा याने अवि-कसित भाषा। अगर विकसित भाषा में बोलना है तो यह कहना चाहिए कि अगर हम असत्य बोलते हैं तो अंतःसमाधान नहीं हो सकता और अंतःसमाधान की कल्पना समझना या समझाना जहां कठिन हो जाता है वहां परलोक की याने मृत्यु के बाद जीवन की भाषा काम में लाई जाती है। तो चाहे आप अंतःसमाधान का आधार रखो, चाहे परलोक की जिंदगी का नाम लो, हर हालत में सत्यादि नीति-धर्मों पर अविचल कायम रहना है, यह मुख्य वस्तु है और इसकी सिद्धि के लिए और प्रेरणा के तौर पर परलोक का या आत्मकल्याण का या अंतःसमाधान का नाम लिया जा सकता है। तो जिसकी भूमिका पर जितना विचार हुआ होगा, उसके अनुसार वह सत्य का उपयोग करेगा। अतः हम जरूर समझते हैं कि सत्यादि नीति-धर्म के अविचलित पालन के लिए अंतःसमाधान से बढ़कर दूसरी कोई प्रेरणा अच्छी नहीं हो सकती। पर जिन्होंने परलोक आदि का आधार लिया था, उन्होंने कोई गलत काम नहीं किया था; क्योंकि उनका हेतु अविचलित सत्य-निष्ठा कायम रहे, यही था। यह तो मैंने सहज एक बात प्रसंग से कही। लेकिन कहना यह है कि अगर हम अपने धर्मों पर अविचलित रहना चाहते हैं और उससे दुनिया में हंसी होती हुई दीख पड़े तो भी उसको छोड़ना नहीं चाहते तो हमें गहरे आधार की जरूरत रहेगी। इसमें ईश्वर की प्रार्थना जो मदद दे सकती है, वह और किसी तरह से नहीं मिल सकती। मैं चाहता हूं कि हमारे सारे कामों का आधार हम परमेश्वर-निष्ठा में रखें और जो प्रार्थना हम करते हैं, उसमें अधिक जान हम डालें, अपना दिल उसमें रखें।

अब आखिर दो ही शब्द कहने हैं। अगले साल जो हम करने जा रहे हैं, उसके लिए कम-से-कम साल भर पूरा समय देनेवाले लोग चाहिए। जो लोग तैयार होंगे, वे अपना नाम सर्व-सेवा-संघ के पास रखें तो उनकी महीना-दो-महीना तालीम देने की व्यवस्था की जायगी। उनकी सेवा का भी उपयोग किया जायगा। जो आना चाहते हैं, वे अपना नाम दे दें।

**पांचवां सर्वोदय-सम्मेलन,**

**चांडिल, ६ मार्च १९५३**

## ५ : : धर्म-रहस्य

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

इस साल सेवक बहुत आये, जितनी कि यहां के इन्तजाम करनेवालों ने आशा नहीं रखी थी। और कड़ी धूप में, इतनी तादाद में सब प्रान्तों से लोग आये, यह एक बहुत ही आशादायक घटना है और इसका कुछ अर्थ है। सर्वोदय-समाज में हमने, जिसे अनुशासन कहते हैं, नहीं रखा और इसका कोई खास विधि-विधान भी नहीं है। यहां आने से लोगों को अपने लिए कोई निजी स्वार्थ प्राप्तव्य है, ऐसी भी बात नहीं है। यहां आने से कोई भौतिक वस्तु उनको हासिल होनेवाली है या ऋद्धि-सिद्धि, ताकत, सत्ता प्राप्त होगी, वैसी भी कोई संभावना नहीं है। इसपर भी लोग आते हैं, बड़ी शांति से सुनते हैं, बिना नियमों के और बिना विधि-विधान के नियमित बर्ताव करते हैं और जो संकल्प किये जाते हैं उनके प्रस्तावों का रूप न देते हुए भी उसपर अमल करते हैं, यह छोटी बात नहीं है। अन्यत्र प्रस्ताव किये भी जाते हैं और उनपर अमल कराना पड़ता है—मुश्किल से। अनुशासन भी कराना पड़ता है। कृत्रिम उपायों का भी अवलम्बन करना पड़ता है और इतना सब होने पर भी, प्रस्ताव पर अमल न हो पाये, ऐसा भी बनता है—उन संस्थाओं में, जहां पर अनुशासन पर जोर है। पर यहां कोई अनुशासन न होने पर भी, और प्रस्ताव का कोई बंधन न होने पर भी पच्चीस लाख एकड़ का जो संकल्प किया गया, उसकी पूर्ति कैसे हुई? लोगों ने काम किया, तब तो हुई। करीब ढाई लाख दानपत्र हिंदुस्तान भर से मिले। जो जमीन का आंकड़ा है, उसकी उतनी कीमत नहीं, जितनी उन दान-पत्रों की संख्या की कीमत है। ढाई लाख दान-पत्र मिले हैं तो इसका अर्थ होता है कि इतने लोगों के हृदय में प्रवेश हो सका। किसीने तो मेहनत की होगी? कोई कष्ट उठाया होगा—कार्यकर्ताओं ने। संकल्प-सिद्धि के वास्ते कोई हलचल की होगी तभी तो यह हुआ।

तो यह एक बड़ी ही आशादायक वस्तु है और उससे मन में निश्चय हो सकता है कि जिसे हम शासनमुक्त समाज कहते हैं, वह कभी लाया जा सकता है। गाननामन समाज, जहां स्वयंशासन हो—अंतःशासन हो। दुःशासन हो, यह तो कोई नहीं चाहता, पर दूसरों का चलाया हुआ सुशासन भी न हो, स्वशासन ही हो, ऐसा कोई समाज कभी बन भी सकता है, इसकी आशा की भूलक, सर्वोदय-समाज में जिस ढंग से काम हो रहा है, उस ढंग से हो सकती है, ऐसा मेरा दावा है। यह बहुत ही बड़ी चीज है। मुझे मालूम नहीं कि इस तरह का कोई दूसरा समाज भी कहीं है। अगर मैं सुनूंगा कि है तो मुझे बड़ी खुशी होगी और आश्चर्य भी नहीं होगा, क्योंकि दुनिया भर में समानधर्मी पुरुष होने ही चाहिए। पर जहां-तक मैं जानता हूं, ऐसे बहुत-कुछ समाज दुनिया में मौजूद नहीं हैं। यह समाज



उपदेशपूर्ति तो हो जाय ।

हमने आज जो यह प्रतिज्ञा की आप लोगों के सामने, और आप लोगों ने हमारे सामने, इस तरह एक-दूसरे को साक्षी रखकर जीवन-अर्पण की जो प्रतिज्ञा की है, वह जीवन-शुद्धि की भी प्रतिज्ञा है और यह हमारे लिए कोई विशेष बात हो जाती है । हमने अपना जीवन तो लगाया है, इस काम में, और इसी तरह के दूसरे सार्वजनिक कामों में, ऐसा ही कहा जायेगा । मेरे लिए तो जरूर कहा ही जायगा कि सिवा सार्वजनिक सेवा के मेने कोई काम किया ही नहीं है । तिसपर भी भूदान-यज्ञ-आंदोलन जैसा एक बिल्कुल ही बुनियादी और बेसिक, काया पलटने का जिसमें माहा है, ऐसे आंदोलन के लिए जब हम जीवनदान करते हैं तो अभी तक जितना चित्त-शुद्धि का खयाल हमने रखा था, उससे बहुत ज्यादा चित्त-शुद्धि का खयाल रखने की जरूरत होती है और इसीलिए इसमें हमारे लिए नई चीज है । इसमें लाखों लोगों से संबंध आयेगा । भगवान् शंकराचार्य ने इसपर लिखा है । वह संन्यासी थे तो भिक्षा की बात करते थे और भिक्षा में जो मिलेगा वही गाना नाटिए, ऐसा कहते थे । वह उसकी खूबी बताते थे कि कोई भिक्षा न दे तो उससे सुख होता है या दुःख ; और कोई भिक्षा दे तो चित्त पर क्या असर होता है, यह भिक्षा मांगनेवाले को रोज देखने को मिलता है और इस वास्ते वह एक बड़ी साधना होती है । अच्छी भिक्षा मिली तो क्या भावना हुई, रद्दी भिक्षा मिली तो क्या भावना हुई ? कुछ भी भिक्षा न मिली तो क्या भावना हुई ? आदर के साथ मिली तो क्या भावना हुई और अनादर के साथ मिली तो क्या भावना हुई ? यानी रोज का खाना एक लबोरेटरी का प्रयोग ही हुआ—वह भिक्षा मांगना । चित्त पर क्या असर होता है, यह देखने का मौका उस भिक्षा से मिलता है । इस तरह का विश्लेषण करके उन्होंने कहा है कि संन्यासी का यह बड़ा शुभदायक कार्य-क्रम है । उसी भिक्षा का कार्य-क्रम हमारे पास है । जायेंगे जमीन मांगने तो कोई देता है, कोई गाली भी सुनाता है, कोई आदर करता है कोई अनादर करता है ; कोई कम देता है, कोई ज्यादा देता है, कोई ठगने की नीयत भी रखता है, ऐसी पचास प्रकार की भावनाएं, वासनाएं, कल्पनाएं प्रकृति में होती हैं । लेकिन ये सारी आत्मा में नहीं होतीं इतना अगर दृढ़ निश्चय हमारे मन में रहा तो हम ऐसे अनुभवों के बावजूद शांत रहेंगे, अविचल रहेंगे । हमारी वाणी से कोई बेजा बात नहीं निकलेगी, अविनय का शब्द नहीं निकलेगा । लेकिन जरा अगर यह खयाल हुआ कि यह आत्मा नहीं ; बल्कि सामनेवाला जो बोल रहा है, उसका शरीर, उसकी वाणी, उसका मन यही वह है, ऐसी अगर भावना, ऐसा यदि विचार रहा तो अगर उसने कोई अच्छी बात कही तो संतोष एवं हर्ष, और बुरी बात कही तो दुःख, विषाद, क्रोध इत्यादि भावनाएं पैदा होंगी । पर रोज भिक्षा मांगने का जिन्होंने यह धंधा शुरू कर दिया, उनको इस चीज का रोज अनुभव यदि आयेगा, तो आत्मपरीक्षण के

लिए रोज ही मौका मिलेगा। हमारे लिए बड़ा ही उपयोगी कार्यक्रम है और ऐसे कार्यक्रम में शोधन की बहुत ही जरूरत रहेगी। जिस दृष्टि से जिन्होंने आज जीवन-दान दिया, यद्यपि उनमें से कुछ लोग ऐसे जरूर थे कि जो पहले ही से काम करते थे और बरसों से काम करते थे और कुछ नये भी हैं, लेकिन जो पुराने भी थे, उनके लिए भी वह प्रतिज्ञा नई प्रतिज्ञा हो जाती है, अगर इस दृष्टि से हम इसको देखें।

अब, एक बात और। जब हम यह कहते हैं कि भूदान-यज्ञ में कार्यकर्ता अपनी सारी ताकत लगाये तो बहुत-से कार्यकर्ता, जो पहले से इसका रचनात्मक काम करते होते हैं, कहते हैं कि “हम जिस काम में हैं, वह भी पुण्य-कार्य है और वह हमारा कर्तव्य भी है। बरसों से हम वह करते आये हैं। उनको हम कैसे छोड़ सकते हैं? उसको सम्हालते हुए जितना हो सकता है, उतना करना ही हमारा धर्म होगा। माना कि भूदान-यज्ञ एक श्रेष्ठ कार्य है—उस कार्य की तुलना में, जो आज कार्य हम कर रहे हैं; लेकिन फिर भी गीता क्या कहती है? स्वधर्म गौण है, यह समझकर क्या उसे छोड़ा जा सकता है? और पर-धर्म श्रेष्ठ है, यह समझ करके क्या उसे कबूल किया जा सकता है? तो इस वास्ते धर्म-निर्णय में श्रेष्ठ-कनिष्ठ का विचार नहीं कर सकते, और जो काम हम करते हैं, वह सम्हालते हुए ही यदि इस काम को करेंगे तो क्या हर्ज है?”

ऐसे लोगों को मैं समझाता हूँ कि भाइयो, धर्म-विचार की एक मर्यादा है, एक हद है। भगवान् श्रीकृष्ण ज़िदगी-भर शत्रुओं से लड़े। वह पराक्रमशील थे, दिग्गज योद्धा थे। लेकिन एक समय आया, जब उन्होंने जाहिर कर दिया कि ‘अब मेरी मर्यादा हो गई। इसके आगे मैं शस्त्र-धारण नहीं करूंगा।’ आप लोग जानते हैं कि ‘मैं निःशस्त्र होकर जो भी मदद हो सकती है, करूंगा’, ऐसी प्रतिज्ञा करके वे पांडवों की मदद में गये। उसके आगे ज़िदगी-भर—और काफी लंबी ज़िदगी उनकी रही—उन्होंने शस्त्र का इस्तेमाल नहीं किया, फिर भी महाभारत में प्रसंग आया और एक मौके पर उनको शस्त्र उठाना पड़ा, प्रतिज्ञा का अक्षरार्थ तोड़ना पड़ा, इत्यादि। उसमें मुझे अभी नहीं पड़ना है। लेकिन सतत शस्त्र चलानेवाले ने एक दिन कह दिया कि इसके आगे मैं नहीं चलाऊंगा तो उन्होंने कर्मयोग छोड़ा नहीं, बल्कि कर्मयोग को वह ऊंची सतह पर ले गये।

हमको भी समझना चाहिए कि जिसे हम पुण्य-कार्य कहते हैं और धर्म कहते हैं, वह एक हद तक साधक होता है और उसके आगे वह बाधक हो जाता है। इसीलिए तत्त्वज्ञानियों को कहना पड़ा कि—“धर्मोपि इह मुमुक्षो पापमुत्”—धर्म ही—जो मुमुक्षु है, छटना चाहता है, उसके लिए पाप हो जाता है। तो यह जरा समझने की बात है कि कुछ हद तक एक काम को विकसित करने के बाद, उस काम के जरिये उस मनुष्य का विकास होना बन्द हो जाता है।

गणित का एक प्रोफेसर पच्चीस साल गणित सिखाता रहा। दो-चार साल तो खैर, उसके सिखाने की कला सीखने में गये होंगे। लेकिन मैंने ऐसा प्रोफेसर देखा है—गणित का, जो बहुत ही उत्तम सिखाता था। व्याख्यान सुन्दर देता था गणित पर, लेकिन सुन्दर व्याख्यान देते-देते नींद भी लेता था, ले सकता है। वह प्रोफेसर आखिर पकड़ा गया। यानी मैंने एक ऐसा प्रश्न बीच में पूछा कि वह एकदम चौंक गया और कहने लगा—हँसते-हँसते कि “देख, तूने जो यह सवाल पूछा है, यह ‘आउट ऑव दि वे’ है और इसलिए इसका जवाब मैं आज नहीं दे सकता, कल दूंगा। आज मैं सिखाता हूँ तो उसके साथ थोड़ी-सी नींद भी मैं ले लेता हूँ।” इसका उस वक्त मुझे इतना भान नहीं था। लेकिन बीच में, मुसाफरी में, अपने कंधे पर मैं थोड़ा बोझ रखता था। पुरानी बात है, इस वक्त की नहीं है। चलता था तो चलते-चलते जो कंधे पर बोझ रखा रहता, उसीको तकिया समझकर अगर सिर को उसका आधार दे दिया तो चलते-चलते ही मुझे नींद आती थी। अर्थात् रास्ता अच्छा होना चाहिए, नहीं तो ठोकर लगेगी। इस तरह एक काम में मनुष्य जब प्रवीण हो जाता है तो उस काम के जरिये उसका विकास होना बन्द होता है।

इसलिए शास्त्रकार किसीको चैन नहीं लेने देते। ब्रह्मचारी को, गुरु के घर जाने के पहले, पिता के घर में समाधान ही था। तो उन्होंने कहा कि गुरु के घर जाओ। फिर कुछ थोड़ी मेहनत और तपस्या वहाँ शुरू हुई, लेकिन गुरु के घर में भी कुछ आराम मिलता है। कुछ बरसों के बाद आदत पड़ जाती है, वेदाध्ययन आदि की, और उस जीवन में भी सुख होता है। तो फौरन शास्त्रकार कहता है कि अरे, अब तो जीवन सुखी हो चला। इस वास्ते तू अब गृहस्थ बन जा और जिम्मेदारी उठा ले। जिम्मेवारी उठाना तब उसको जरा कठिन लगता है। उसके आरम्भ में बहुत तकलीफ होती है। पर चन्द दिनों के बाद उसमें भी उसको सुख मिलता है, कुछ व्यवस्था हो जाती है। मनुष्य अपनेको जमा लेता है। आखिर वहाँ भी सुखी जीवन हो जाता है उसका। तो शास्त्रकार कहते हैं कि अब तू घर छोड़। जहाँ उन्होंने देखा कि इसको थोड़ी चैन मिलने लगी है तो फिर वे बेचैन हो जाते हैं और कहते हैं, जाओ, वन में जाओ। अच्छा, वन में गया तो जरा तकलीफ भी हुई, पर विकास शुरू हो गया बुद्धि का, कि कैसे वन में जीवन बिताना इत्यादि। लेकिन वन में भी दो-चार, पाँच-छः साल रहने के बाद आराम हो जाता है। कई प्रकार की सेवा वहाँ मिल जाती है और जीवन सुखी बनने लगता है। पर जहाँ जीवन फिर सुखी बनने लगा कि शास्त्रकार ने तुरन्त कहा, “अब तू बूढ़ा भी हो गया है तो चलना शुरू कर दे, अब तुझे ठहरना नहीं है।” इस तरह वे मनुष्य को निस्तेज नहीं बनने देते। यह शास्त्रकारों की निष्ठुरता नहीं है।

इन दिनों हमको लगता है कि कोई बूढ़ा हुआ तो घर में उसकी सेवा जरूर

होनी चाहिए। लड़कों को उसकी सेवा करनी चाहिए, उसको सेवा लेने का हक है। वह घर में बैठे-बैठे बेटों से सेवा ले। पंशन तो मिलती है—चाहे सरकार के जरिये न मिले, लड़कों के जरिये मिलनी चाहिए, ऐसी आशा इन दिनों हम करते हैं और पिता-माता को हम दया-पात्र समझते हैं। लेकिन हमारे शास्त्रकार पिता-माता को दया-पात्र नहीं होने देते। वे कहते हैं कि तुमने तो अपने बच्चों की सेवा की। अब उन बच्चों के बच्चे हो गये। तो तुम्हारे बच्चे अब तुम्हारी सेवा करेंगे या अपने निज के बच्चों की वे सेवा करेंगे? इस वास्ते तुम यहां से हट जाओ। तुम्हारा यह काम नहीं की बनी-बनाई सेवा लड़कों से लो और सुखी जीवन बिताओ। यह तुम्हारा काम नहीं है। जो आत्मीयता दो-चार लड़कों से तुम्हारी बन गई, वह तो एक प्रयोग हुआ। पहले तो स्वार्थ केवल शरीर में था। लेकिन शरीर के बाहर जाकर त्याग करने का अभ्यास तुमको हुआ—लड़कों के निमित्त से। अब जरा व्यापक क्षेत्र में जाओ और दुनिया भर में जितने लोग हैं, वे सब अपने कुटुम्ब के हैं, ऐसा समझ करके वर्ताव शुरू कर दो। लड़कों की सेवा लेकर बिस्तर में मरना, यह धर्म नहीं है। इस तरह शास्त्रकार अत्यन्त निष्ठुरता से कहते हैं; लेकिन उस निष्ठुरता में जो सदयता है, वह बड़ी मधुर है। हमारी तेजोहानि करनेवाली जो दया होती है, वही बदतर है। जिससे हमारी तेजोहानि न हो, ऐसी कठोर वाणी कोई हमको बोलता है तो मैं उसका उपकार मानता हूं और उसके हृदय की दया का भान ही मुझे होता है।

इस वास्ते जिन कामों में दस-दस, बीस-बीस साल हमने बिताये, उन कामों का लोभ और मोह रख करके अगर उसीके अन्दर सतत, आजीवन और आमरण रहना है, ऐसी हम कल्पना करते हैं तो मेरे मन में निश्चय है कि हम अनासक्ति को पहचानते नहीं।

नित्य-कर्तव्य से एक ऊंचा कर्तव्य भी होता है। आज सुबह मैं चर्चा कर रहा था। लक्ष्मण से राम ने कहा कि तेरा धर्म है, पिता की सेवा करना। मुझे बनवास जाना है। तू भी जायगा तो पिता को ज्यादा दुःख होगा। उनकी सेवा में रहना तेरा धर्म है। अगर लक्ष्मण कबूल कर लेता राम की उस बात को और वाल्मीकि उसी तरह की रामायण लिख डालते कि लक्ष्मणजी दशरथ और कैकेयी-कौशल्या की सेवा में रहे और बड़ी अच्छी सेवा उन्होंने की तो हममें ऐसा कौन बहादुर था, जो इसमें नुक्स बताता? हम भी ऐसा ही कहते कि हां भाई, ठीक है। रामचन्द्रजी के साथ जाने के मोह का उसने संवरण किया और माता-पिता की सेवा में वह संलग्न रहा। एक बड़ा ही उत्तम आदर्श उसने उपस्थित किया, इस तरह से कहते। लेकिन जब यह सारी धर्म की बात रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण के सामने रखी तो उसने यह नहीं कहा कि आपने कोई बेजा बात मुझसे कही है। उसने कहा, “आपने तो बड़ी ऊंचे धर्म की बात मुझसे कही है। लेकिन मैं तो प्रभु का शिशु हूं, प्रभु-स्नेह से प्रति-

पालित। मैं तो एक बच्चा हूँ। आपने तो बड़ा नीति-धर्म कहा और 'निगम नीति के ते अधिकारी।' मैं तो अधिकारी नहीं हूँ। जो होंगे 'निगम नीति के अधिकारी', वे तो जरूर आपके कहने के मुताबिक करेंगे। लेकिन मैं बच्चा हूँ। मैं क्या जानूँ यह सारा धर्म? मैं तो जानता हूँ आपकी सेवा-मात्र। इस वास्ते मुझसे यहांपर वह स्वधर्मचरण नहीं होगा, जो मुझे आप सिखा रहे हैं।" यो कह करके उन्होंने बात को काट डाला और रामचन्द्र को कबूल करना पड़ा कि लक्ष्मण को आने देना ठीक है। इसका मतलब है कि धर्म छोटे-छोटे होते हैं और एक परम धर्म भी होता है, और उस परम धर्म के साथ अपने छोटे धर्म की तुलना करने का भी मौका नहीं मिलता। जहां ऐसा हो कि दोनों सादे धर्म हैं, एक ऊंचा है और एक नीचा है तो वह धर्म ऊंचा है, इस वास्ते अपना नीचा धर्म छोड़ें तो वह काम गलत माना जायगा—जहां कि सादे धर्मों की तुलना है। पर एक स्वधर्म के साथ जहां परम धर्म की तुलना आती है, वहां वह विचार नहीं टिकता और सब-कुछ छोड़ना पड़ता है। इसलिए खास करके गांधीवालों के लिए मैं कह रहा हूँ कि उन्होंने न मालूम कहां से कर्तव्य-भावना का एक बड़ा ही बोझ अपने सिर पर उठा लिया है। मैं समझता हूँ कि यह कर्तव्य-भावना नैतिक मनुष्यों के मन का एक रोग है और ऊंची उड़ान उससे रुक जाती है। यह एक बात ध्यान में रखने की है।

लेकिन इसपर से वही सवाल पूछा जाता है, जो यहां सर्व-सेवा-संघ की बैठक में भी पूछा गया था कि एक तो आप हमपर जिम्मेदारी डालेंगे कि खादी का काम करो, वह करना चाहिए, ग्रामोद्योग भी चलने ही चाहिए इत्यादि-इत्यादि। हम संस्थाएं चलाते हैं तो हमारी प्रशंसा भी होती है कि आपने तो बड़ा अच्छा किया, वहां दिल्ली में प्रदर्शन बहुत अच्छा किया। यह प्रशंसा तब होती है न कि जब हम वह काम करते हैं? अब इधर यदि यह आवश्यक हो कि सारे काम छोड़कर भूदान-यज्ञ में लग जायें तो दो आज्ञाएं आप हमको कैसे करते हैं, कैसे देते हैं? कोई एक बात कहिये, ऐसा एक सवाल उठा था। यह बड़ा ही सोचने लायक सवाल है। मैंने उसका उत्तर दिया कि मैं नहीं चाहता कि हमारी संस्थाओं के लोग, जो काम कर रहे हैं और जो मुफीद काम है तथा भूदान-यज्ञ के लिए पोषक है, उस काम को वे छोड़ दें और भूदान-यज्ञ में आवें। यह तो मैं नहीं कह रहा हूँ, लेकिन मैं यह भी नहीं कहता कि जिस ढंग से आज वह काम चल रहा है, उस ढंग से वह काम चलाते ही चले जायें और भूदान-यज्ञ मानो कुछ हुआ या न हुआ, समान ही है, ऐसी ऐंठ में रहें। यह भी गलत होगा।

मैं चाहता हूँ कि उनका काम करने का तरीका ही ऐसा हो, जिससे भूदान-यज्ञ में और अनेक कामों में एकरसता आ जाय। मैं एक मिसाल दूँ। बिहार में मैं कभी-कभी देखता हूँ कि हरिजन-सेवा का काम चलता है। मुझे मालूम नहीं कि हरिजन-सेवा-संघ की तरफ से वह चलता है या और भी कोई चलाते हैं। जो भी

चलाते हों, वे यह कहते हैं कि हरिजनों को फी या स्कॉलरशिप दिलाओ, कॉलेज में भेजो, आदि। ऐसा जब मैं देखता हूँ तो मैं कहता हूँ कि अरे भाई, यह तो बिल्कुल पुरानी चीज हो गई। यह तालीम तो जर्जर हो गई है, अब बिल्कुल फटने पर आई है। इसमें क्या पढ़ाया जाय? इस तालीम में कोई सार ही नहीं। जो बिल्कुल नीरस हो गई है, उसमें उन बच्चों को भी क्यों भेजें? पहले विचार था कि जो हम करते हैं, उनको भी वह करने दो। और इस तरह से आरम्भ हुआ। परंतु अब पच्चीस साल के बाद भी वही स्कॉलरशिप, वही कॉलेज और वही उत्तेजन! और इसीको हम हरिजन-सेवा समझें! मैं तो समझता हूँ कि यह हरिजन-सेवा नहीं है, बल्कि हरिजनों की गांठ पक्की बनाने का रास्ता है। बन रही है दुनिया नई, नया जमाना भी बन रहा है। इस वास्ते हरिजनों में और दूसरों में कोई भेद नहीं होना चाहिए। यहां पर, बिहार में मैंने देखा है कि कुछ सरकार की तरफ से भी उत्तेजन दिया जाता है, हरिजनों को। उनके खास छात्रालय होते हैं, खास बोर्डिंग भी। एक बोर्डिंग में मुझे बुलाया, उन लोगों ने देखने के वास्ते, और कहा कि कुछ कहिये। तो मैंने कहा कि ऐसे बोर्डिंग हरिजनों नहीं चलने चाहिए। वह जमाना गया। अलग बोर्डिंग बना करके उनको तालीम देने का जमाना गया। अब तो हरेक छात्रालय में और हरेक स्कूल में हरिजनों को पूरा प्रवेश मिलना चाहिए। दिन तो बदले, लेकिन फिर भी हम और हमारा दिमाग यदि नहीं बदलता है और वही पुरानी चीज हम चलाया करते हैं तो इससे काम नहीं बनेगा। भूदान-यज्ञ ने जो मांगें देश से की हैं, हमारे सामने उनका उत्तर देने की तैयारी संस्थाओं में भी होनी चाहिए, तभी वे संस्थाएं ठीक ढंग से चलेंगी और उन संस्थाओं के कामों में और भूदान-यज्ञ में कोई फर्क नहीं गिना जायगा।

हमने यह जो काम शुरू किया, उसका आरंभ ही हरिजनों से हुआ। हरिजनों ने जमीन मांगी। उनको देने के लिए ही पहली मांग की गई। दान मिला। वह हरिजनों ही में बंटा और फौरन नियम बनाया गया कि जितनी जमीन मिलेगी, उसका एक-तिहाई हिस्सा हरिजनों को दिया जायगा, जो कि भूमिहीन होंगे। इतना होने पर भी हरिजन-सेवा करनेवाले कार्यकर्ताओं को मैं बहुत ही उदासीन देखता हूँ—भूदान के लिए, मानो कोई चीज ही नहीं हो रही है। और फिर जब बंटवारे की बात आ जाती है तो एक भाई ने हमको लिखा कि हम सुनते हैं कि उत्तर-प्रदेश में कोई बंटवारा शुरू हो रहा है। शीघ्र ही हिंदुस्तान भर में भी बंटवारा होगा, ऐसा इधर आपके भाषण में हमने पढ़ा। हम आशा करते हैं कि उसमें हरिजनों के लिए कुछ रखा होगा, उनका भी स्मरण हुआ होगा। ऐसी आशा रखनेवाला एक पत्र उन्होंने भेजा। भले मनुष्य को इतना ज्ञान नहीं कि भूदान-यज्ञ का आंदोलन ही शुरू किस तरह हुआ, उसमें हरिजनों पर किस तरह से आशा रखी गई, उनको आर्थिक गुलामी से मुक्ति देने का विचार

उसमें किस तरह काम करता है, आदि-आदि। यहां तक हुआ है कि गरीब जगह हमने दान देनेवाले ने कहा कि हम आपको अच्छी-से-अच्छी जमीन दान देते हैं—पच्चीस एकड़, लेकिन एक ही शर्त है कि कृपा करके हरिजनों को यह न दीजियेगा। अब कोई लोभी मनुष्य होता तो कहता, हां, भई, ठीक है, क्योंकि हमने यह तो जाहिर नहीं किया है कि हरेक का जो दान मिलेगा, उसका तिहाई हिस्सा हरिजनों को देंगे ! ऐसा तो नहीं कहा है। कहा इतना ही है कि कुल प्राप्त जमीन का तिहाई हिस्सा देंगे। तो किसी शख्स की पच्चीस एकड़ जमीन नहीं देंगे हम हरिजन को। दूसरों को वह देंगे। कोई लोभी शख्स होता तो इसी तरह करता। पर हमने कहा कि नहीं, आपका यह दान हम इस तरह नहीं ले सकते। आप अगर बिना शर्त के दान दे सकते हैं, तो लेंगे। हरिजनों को भी जमीन दी जायगी, मुसलमानों को भी दी जायगी, सबको दी जायगी। जो भी भूमिहीन होंगे—लायक, उनको दी जाएगी। हरिजनों को तिहाई हिस्सा तो जरूर देना है। इस वास्ते इस शर्त पर हम दान कबूल नहीं कर सकते। ऐसे तीन-चार प्रसंग आये, यह मुझे याद है। इस तरह सारा चला। लेकिन वह भाईसाहब हरिजन-कार्य में इतने मस्त और इतने एकाग्र रहे कि यह सारा उनको पता ही नहीं चला। अब मैं अपने मन में पूछता हूं कि क्या हरिजन-सेवा करने का यह ढंग है ?

ऐसी कई बातें मैं सुभा सकता हूं, पर उससे विस्तार होगा। उसकी जरूरत भी नहीं है। समझ लीजिये कि परम धर्म के आचरण के लिए अपने स्वधर्म को उस ढांचे में ढालना होता है, और जो स्वधर्म उस ढांचे में न ढाला जाय, उसको छोड़ना होता है।

ये दो बातें मैंने आपके सामने रखीं। स्वधर्म का परधर्म से जब मुकाबला होता है तो ऊंच-नीच नहीं देखना होता है और स्वधर्म से ही चिपके रहना होता है। लेकिन स्वधर्म का जब परम धर्म से मुकाबला होता है तो उस परम धर्म के ढांचे में स्वधर्म को ढालना पड़ता है। यदि ऐसा न ढाला जाय, न ढाला जा सके, तो उस स्वधर्म को छोड़ना पड़ता है। यह धर्म-रहस्य आप लोगों के सामने मैंने रख दिया है।

आखिर में एक बात और कह देना चाहता हूं। कल कृपालानीजी ने एक व्याख्यान आम सभा में दिया और कुछ बातें आप लोगों के सामने रखीं। वे मुझे अच्छी लगीं। वे बातें उन्होंने मेरे सामने भी कही थीं, एकांत चर्चा में। मैंने कहा, हां, ये बातें कहिये आप लोगों के सामने। उन्होंने प्रेम से वह बातें वहां कहीं। जब कभी वह मुझसे मिलने आते हैं, तब कुछ आशंका उनके मन में रहती है कि इनके और हमारे विचार में कहीं कुछ फर्क होगा शायद। पर हर दफा वह पाते हैं कि कोई खास फर्क नहीं है। तब थोड़ा प्राश्चर्य उनको होता है और संतुष्ट होकर वह वापस जाते हैं। आखिर बात यह है कि जिस गंगोत्री का उन्होंने पान किया,

उसी गंगोत्री का मैंने पान किया। ऐसी हालत में फर्क ही क्या हो सकता है? पर हाँ, बात रखने का एक तरीका होता है। संतरे में कुछ खटाई ज्यादा होती है, नीबू में और भी ज्यादा खटाई होती है और कोई फल मीठा-ही-मीठा होता है। किसीमें थोड़ा-बहुत कड़ुवापन भी होता है। ऐसी ही रूचि होती है। तो मनुष्यों के 'एक्सप्रेशन' में, विचार-प्रकाशन में, कुछ फर्क हो सकता है और जितना विचार-प्रकाशन में फर्क होता है उतना थोड़ा सोचने में भी होता है।

तो जो बातें उन्होंने कहीं, वे मंजूर हैं, यह आप लोगों के सामने मैं कह देना चाहता हूँ। (तालियाँ)। यह तो समझने की बात है। आप तालियाँ मत बजाइये। अपने आनंद को अपने मन में ही रखियेगा। एक बात मैं कह देना चाहता हूँ कि जिस ढंग से वह बात रखते हैं, उस ढंग से मैं अगर बात रखूँ तो गलत काम होगा। इस वास्ते मैं एक दूसरे ढंग से चीज को रखता हूँ। उनकी एक विशेषता मैं बहुत महसूस करता हूँ, जो दूसरे कम लोगों में है। वह यह कि उनके हृदय में तीव्रता है। यानी जिसे हम 'अरजंसी' कहते हैं, वह है। अग्नि है हृदय में। अग्नि होना बहुत ही जरूरी है, पर दिमाग में अग्नि नहीं होनी चाहिए। दिमाग ठंडा रहे, हृदय गरम रहे तो बड़ी ताकत पैदा होती है। तो उन्होंने बात यह रखी कि भूदान-यज्ञ एक सिरा है। एक सिरे से आपने आरम्भ किया। लेकिन अगर यह ठीक ढंग से चलाया जाय और उसमें दृष्टि पूरी रहे, समग्र दृष्टि रहे तो उसके परिणामस्वरूप सत्ता में भी परिवर्तन होना ही चाहिए। यह उन्होंने कहा और यह विचार वह है, जो मैंने मंजूर किया है।

पर अब कोई कहेगा कि छः में चार मिलाओ, इतना बस नहीं है, उसीमें से दस पैदा करने चाहिए तो मैं इतना ही कहूँगा कि दस पैदा करने की तो कोई स्वतन्त्र युक्ति ही नहीं है। छः में चार मिलाने की क्रिया आप कर लेते हैं तो परिणामस्वरूप जो दस हैं, वे हो ही जाते हैं। वह कोई अलग करने की बात नहीं रहती। लेकिन यह एक विचार है। थोड़ा भेद है इन विचारों में। विरोध तो मैं नहीं कहूँगा, लेकिन भेद है। भेद यह है कि हमको कुछ काम यह करना पड़ेगा और कुछ काम वह करना पड़ेगा। यानी सत्ता भी अपने हाथ में लेनी होगी और उसके लिए भी आज से कुछ-न-कुछ तैयारी उस दृष्टि से करनी होगी, जिस तरह की एक भावना रहती है। मैं मानता हूँ कि सत्ता मेरे हाथ में रहने की कोई जरूरत नहीं है, सत्ता मेरे कंधे में रहे तो बस है। हाथ में सत्ता लेने की तकलीफ उठाने की कोई जरूरत नहीं। यही थोड़ा भेद है।

आज आपने सुना, आशीर्वाद-वचन राजेंद्रबाबू का। उन्होंने कहा कि जो यह कार्य हुआ, उसका कुछ-न-कुछ असर हो रहा है। कहां हो रहा है? राज्य-कर्ता समाज पर उसका असर हो रहा है। किन-किन चीजों का क्या परिणाम हुआ है, उसका विश्लेषण करने में कुछ सार नहीं रहता। फिर भी मानना पड़ेगा कि

खादी की तरफ जो अधिक भुकाव हुआ है, ग्रामोद्योगों की जो अधिक आवश्यकता मालूम होती है, नई तालीम जरूर लाना चाहिए, इस तरह का जो भास हो रहा है, ग्रनएम्प्लायमेंट, ग्रंडरएम्प्लायमेंट का कुछ-न-कुछ करना ही पड़ेगा, ऐसी जो बातें शुरू हुई हैं, यह जो परिणाम हुआ है, मैं नहीं कहता कि यह पर्याप्त परिणाम है, कोई नहीं कहेगा कि यह पर्याप्त परिणाम है; परन्तु यह जो परिणाम हुआ है, वह किस चीज का है, यह अगर देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि यह जो भूदान-यज्ञ का काम चला है, उससे जो जन-शक्ति निर्माण हुई है, उसका यह परिणाम है। माने इसके यह नहीं है कि इसमें दूसरे कोई फैक्टर्स नहीं हैं। दूसरी किन्हीं चीजों का इसमें कोई असर नहीं है, यह तो नहीं। कई कारणों से एक कार्य बनता है। लेकिन यह एक बड़ा कारण उसमें है। सत्ता के बाहर रहकर भी अगर जन-शक्ति निर्माण करते हैं तो सत्ता हाथ में लेने की तकलीफ उठाये बिना और चुनाव आदि के भंभट-भगड़े में पड़े बिना और अपने समय का उस तरह से क्षय किये बिना राज्य-सत्ता पर अंकुश रखा जा सकता है, ऐसा मेरा दावा है।

भाइयो, यही, इतना ही, फर्क है। मैं पार्लियमेंट में जाऊँ और वहाँ कोई बिल आये तो उसका खंडन-मंडन करूँ तो मेरी आवाज सीधे सरकारी मिनिस्ट्रों के कानों तक पहुँचेगी और उससे एक परिणाम होगा, यह मैं मान सकता हूँ। लेकिन मेरा कहना है कि इस तरह पार्लियमेंट में या असेम्बली में कैदी होकर और पेंरोल पर छूटकर दो-चार महीने घूमने का जो मौका मिलेगा, उतने समय में देश का दूसरा काम करके जो वजन मेरे शब्दों को मिलेगा, उससे ज्यादा वजन मेरे शब्दों को तब मिलेगा, जब मैं उन स्थानों में गिरफ्तार न होऊँ, वहाँ कैदी न बनूँ और बारह-के-बारह महीने जनशक्ति निर्माण करने में लगा दूँ और राज्य के विविध प्रश्नों के विषय में मेरा जो अभिप्राय बनता है, वह निस्पृहता से, नम्रता से और निश्चय से अगर बताऊँ तो मैं नहीं समझता कि पार्लियमेंट के व्याख्यान का जितना परिणाम होगा, उससे उसका कुछ कम परिणाम होगा।

यह आप लोगों के सोचने की बात है। और अगर इतना फर्क आप समझ लें तो उनके और मेरे कथन में कोई विरोध नहीं आयेगा और हम दोनों का हृदय एक है, इसका आपको भान होगा। मैं उनको भी आह्वान करता हूँ। मैं जानता हूँ कि हरेक की अपनी-अपनी पद्धति होती है। वह कभी-कभी कहते हैं कि आप जाते हैं भीख मांगने और परमेश्वर का नाम लेते हैं। यह अच्छा भी है, क्योंकि आप वैसा अनुभव करते हैं, श्रद्धा भी रखते हैं। लेकिन मैं तो ईश्वर के नाम से नहीं चल सकता। मैं तो सामाजिक मूल्य और आर्थिक परिवर्तन की भाषा में कह सकता हूँ। तो मैं कहता हूँ कि एक ही वस्तु केवल एक ही भाषा में कहने से लाभ होता है, ऐसी बात तो नहीं है। विविध भाषाओं में कहनेवाले विविध लोग अगर हुए तो उस चीज को बहुत अधिक बल मिलता है। तो यह कोई जरूरी

नहीं है कि कृपालानीजी को भूदान-यज्ञ काम में कूद पड़ने के लिए परमेश्वर के साक्षात्कार की ही आवश्यकता है, बल्कि उनको जो अर्थशास्त्र का साक्षात्कार हुआ है, वह काफी है और उस तरह से इसपर प्रकाश पड़ेगा तो उससे भी कम बल नहीं मिलेगा।

मे जानता हूं कि उनकी इस काम के साथ पूरी सहानुभूति है। मैं यह भी जानता हूं कि उन्होंने अपने शिष्यों को इस काम के लिए पूरी आजादी दे दी है, बल्कि उपदेश भी दिया है कि यह काम करो। मुझे यह भी मालूम है कि उन्होंने बड़े अच्छे शब्दों में इसका सत्कार किया है, इसपर लेख लिखे हैं। सब किया है। लेकिन उनकी पार्टी के जिन लोगों पर उनका कुछ बजन है, उन लोगों को अगर वह इस श्रद्धा से प्रेरित कर सकेंगे कि भाई, भूदान-यज्ञ में काम करोगे, जन-शक्ति-निर्माण में लगोगे और चुनाव-चिंतन नहीं करते रहोगे तो कुछ खोओगे नहीं, बल्कि जरूर शक्ति पाओगे और जो राज्य-क्रान्ति हम चाहते हैं, वह बिना तकलीफ के हो जायगी, इस ढंग से हो जायगी कि पता भी नहीं चलेगा। इस तरह अगर श्रद्धा उनमें पैदा हो जाय और वह अपने अनुगामियों में श्रद्धा पैदा कर सकें और वे इस काम में जोरों से लग जाय और इसी तरह से कांग्रेसवाले भी अगर लग जाय, तो मैं समझता हूं कि यह समस्या बहुत ही जल्द हल होगी और उसके परिणामस्वरूप राजनीति पर अत्यन्त उत्तम असर होगा और राजनीति का लोकनीति में परिवर्तन होगा।

**छठा सर्वोदय-सम्मेलन**

**बोध-गया, २० अप्रैल १९५४**

## ६ : : अहिंसा का सार्वभौम आवाहन

आज, कल और परसों कई चर्चाएं यहां हुई, कई सवाल निकले और मेरे पास कई लिखित शंकाएं भी आ पहुंचीं। लेकिन उन सब सवालों के और शंकाओं के बारे में अभी बोलने की प्रेरणा नहीं होती। आज मुख्य आवाहन का जो प्रस्ताव 'सर्व-सेवा-संघ' ने देश के सामने रखा है, उसीको ध्यान में रखकर हमारा कर्तव्य हम सोचें। उस दिशा में कुछ चिंतन, प्रकट चिंतन, मैं आपके सामने रखना चाहता हूं।

अपना मानव-समाज जब से अस्तित्व में है—कोई नहीं जानता कि कब से—तबसे उसमें प्रेम के साथ भगड़े भी चलते ही रहे हैं। उस क़दीम ज़माने में, जो कि मानव-समाज का आरम्भ-काल माना जाता है, स्वेर हिंसाएं चलती थीं और उन हिंसाओं का निपटारा या उसका प्रतिशोध वैसी ही स्वेर हिंसाओं से किया

जाता था। उसमें से आखिर समाज की हालत कुछ बिगड़ती गई और कुछ सुधरती गई। अन्त में यह एक युक्ति समाज को सूझी कि स्वैर हिंसा के बदले व्यवस्थित हिंसा की जाय तो वह स्वैर हिंसा रुक जायगी। परिणाम-स्वरूप, जिसे हम दंड-शक्ति कहते हैं और शासन भी कहते हैं, उसका आरम्भ हुआ। व्यवस्थित हिंसा अर्थात् दंड-शक्ति पहले-पहल करागर साबित हुई। उसने स्वैर हिंसा को रोका और चंद दिनों तक वह सीमित अवस्था में रही, लाभदायी साबित हुई। इसलिए मानव ने उसे धर्म का अंश समझा। संस्कृत में हमको ऐसा भी वाक्य स्मृति में मिलता है कि “दंड धर्मं विदुर्बुधः”—बुध जनों ने दंड को धर्म समझा, अर्थात् उस जमाने के बुध जनों ने। परन्तु यह दंड-शक्ति, जिसमें व्यवस्थित हिंसा थी और आरम्भ में सीमित हिंसा थी, फिर सीमित नहीं रह पाई और आहिस्ता-आहिस्ता उसकी सीमा विस्तृत होती चली गई। व्यवस्थित तो रही वह। व्यवस्थित नहीं रहती तो शासन न कर पाती, दंड-शक्ति न कहलाती। इस वास्ते व्यवस्थित तो वह रही, लेकिन सीमित न रहते हुए विस्तृत होती गई, फैलती गई, चौड़ी होती गई। होते-होते आज उसने अतिहिंसा का रूप ले लिया है। व्यवस्थित और सीमित हिंसा अर्थात् दंड-शक्ति का रूपान्तर अतिहिंसा में आज हुआ है। तो आज मानव भयभीत है और शायद इस समय सारा मानव-समाज जितना भयभीत है उतना मानव के इतिहास में वह कभी नहीं रहा होगा, ऐसा कहने में किसी तरह से कल्पना-गौरव नहीं होगा, क्योंकि जहांतक हम जानते हैं, इतने व्यापक प्रमाण में मानव कहीं फैला ही नहीं था। दुनिया में इतनी व्यापक शक्तियां शायद उसको हासिल नहीं हुई थीं। इस वास्ते मानव की आज जो भयभीत हालत है, उसकी बराबरी में प्राकृतिक कारणों से कहीं भय पैदा हुआ हो तो अलग बात है।

बड़े भूकम्प और प्रलय इत्यादि हुए, परन्तु मानव को मानव की हिंसा से आज जो अति भय प्राप्त हुआ है, वैसा इसके पहले कभी उसको अनुभव हुआ होगा, वैसा दीखता नहीं है। भयभीत मानव अब कुछ विचार करने लगा है और सोचने लगा है कि यह अतिहिंसा की जो अतिरिक्तता है, वह तोड़ी जाय और फिर से सीमित व्यवस्थित हिंसा कायम की जाय। ऐसी कोशिश अब हो रही है।

यद्यपि सारे वैज्ञानिक नहीं तो भी कुछ वैज्ञानिक जहां यह कहने लगे हैं कि इस आणविक शक्ति को रोका जाय और जहां राजाजी जैसे महर्षि यह उद्गार प्रकट कर रहे हैं कि उसको रोकना चाहिए, तो यहां मानव का एक प्रयत्न स्पष्ट दीखता है। वह चाहता है कि इसकी अतिरिक्तता नष्ट की जाय और जैसे बीच के जमाने में वह सीमित और व्यवस्थित रही—दंड-शक्ति के रूप में—वैसी ही वह रह जाय। परन्तु प्रगति का क्रम देखते हुए जो मानस-शास्त्र को समझते हैं, वे इस बात को जरा सोचने पर महसूस करेंगे कि इस प्रगति का चक्कर कभी पीछे नहीं आ सकता। वह कहीं आगे ही जा सकता है। स्वैर हिंसा दंड-शक्ति में परिणत हुई,

सीमित व्यवस्थित हिंसा उत्तरोत्तर विस्तृत ही होती गई और अब वह अतिहिंसा के रूप में प्रकट हुई है तो उसको अब इसके आगे ही जाना है, इसके पीछे वह नहीं आ सकती। यंत्र में ऐसी शक्ति नहीं है। सामूहिक मानव-मानस-यंत्र ऐसा नहीं है कि उसको कोई एक व्यक्ति रोक सके और पीछे ले जा सके; क्योंकि वह सामूहिक मानव के मानस का यंत्र बन गया है। और जिस गति से वह आगे बढ़ा है, उसी गति से उसको और आगे बढ़ना है। अब क्या होना बाकी है? अर्थात् या तो उसको अपना रूप अब अहिंसा में विसर्जित करना है, या उससे भी विकराल रूप धारण करके, मनुष्य-समाज की समाप्ति करके, कृतकार्य होना है। इन दो में से कोई एक तो उसको करना ही है, यह समझना जरूरी है।

इस वास्ते भयभीत मानव का यह जो प्रयत्न है कि केवल उसका अतिरेक रोका जाय तो यह सम्भव नहीं है। यह बात अगर ध्यान में आयेगी तो इसके आगे दो ही परिणतियां उसकी हो सकती हैं। एक में मानव का पूर्ण विनाश होगा और दूसरे में मानव को पूर्ण विश्वास का मौका मिलेगा। अगर अहिंसा आती है तो हमको जरा बल महसूस करना चाहिए। जिनका मानवता में विश्वास है, उनको भी अपने में जरा ताकत महसूस करनी चाहिए।

अभी टंडनजी ने रायफल क्लब के बारे में कहा था। कुछ बचाव भी उसका उन्होंने कर लिया था। उसमें भी काफी सार है, रहस्य है कि जब आदमी निर्भीक बनता है, तब उस हालत में वह थोड़ा-सा साहस करने लगता है। पर अगर उस हिम्मत को बारीकी से सोचें तो वह भय का ही रूप होता है। उसमें जो निर्भयता होती है, वह वीर्यवान् निर्भयता नहीं होती है या वह उत्तम निर्भयता नहीं होती। वह डरनेवाली निर्भयता होती है। उसमें कुछ साहस या हिम्मत होती है, इस तरह उसका कुछ बचाव अभी तक किया गया और अभी और किया जा सकता है। मगर यह बात हम मान लें तो ऐसी छोटी-छोटी हिंसाएं अपना रोव अब जमा सकेंगी, यह सम्भव नहीं है। अगर समाज पर अब किसीकी सत्ता चलेगी तो या तो उसका पूर्ण संहार करनेवाली अतिहिंसा की ही सत्ता चलेगी, या फिर वह विसर्जित होकर अहिंसा में परिणत होगी।

हमें अब वह पुरानी कल्पना छोड़कर मध्य-युगीन जमाने में जिन गुणों का लोगों ने सम्मान किया, उन्हीं गुणों में सीमित रहने के बजाय जरा हिम्मत करके अपने में थोड़ा बल महसूस करना चाहिए और इस अतिहिंसा को समाप्त करके पूर्ण अहिंसा की तैयारी करनी चाहिए। दूसरी भाषा में इसका मतलब होता है कि दंड-मुक्त, शासन-मुक्त समाज की जो बात हम करते हैं, उसके लिए बुद्धि तैयार रखनी चाहिए और उसके लिए हृदय में प्राण भरना चाहिए।

यह मेरी निष्ठा आज की नहीं है, काफी अनुभव से मुझमें वह स्थिर हुई है। वर्षों से मैं यह मानता हूं। परंतु मुझे लगता था कि इसमें कुछ समय लगेगा। दंड-

मुक्त समाज बनाने में, शासन-मुक्त समाज बनाने में, काफी वक्त लगेगा, ऐसा मुझे लगता था। लेकिन जबसे अतिहिंसा का यह स्वरूप प्रकट हो गया है, तबसे मुझे बड़ा भारी उत्साह आया है और उम्मीद हो गई है कि दंड-मुक्त समाज अब जल्दी लाया जा सकेगा। और यह उम्मीद अगर आपको मैं समझा सकूँ और उसका स्पर्श आपके हृदय को हो जाय तो हम सबका रूपान्तर परिशुद्ध, परिनिष्ठ, आत्ममय मानवता में हो जायगा। तो वह जो मेरी उम्मीद है, वह बहुत बड़ गई और इस वास्ते जब कभी एटम और हाइड्रोजन बम की बात चलती है तो मुझे लगता है कि एक ईश्वरी प्रेरणा हो रही है और सारी समाज-रचना अब मेरे हाथ में आनेवाली है। वह जोरों के साथ हमारी तरफ आ रही है। वह कहती है—पूकार करके कि अहिंसा देवी, तू आ जा और इस शक्ति को बचा ले। तो अब हमारे लिए सोचने की बात है कि हमारा काम इसके आगे हमारे लिए आसान ही है। यह ध्यान में आना चाहिए कि कालचक्र ही इसको आसान बनाता जा रहा है और उस दृष्टि से हिम्मत करके हमको आगे की सारी योजना करनी चाहिए। शासन-मुक्त समाज के लिए ही अब तैयारी हो रही है।

इन दो सालों के अन्दर पांच करोड़ एकड़ भूमि प्राप्त होगी या नहीं होगी, और इस समस्या के सुझाव का दर्शन होगा या नहीं होगा, ऐसी उलझन में हममें से कुछ लोग पड़े हैं, ऐसा मुझे कभी-कभी लगता है। पर यह उलझन मुझे छू भी नहीं रही है, बल्कि मुझे तो लगता है कि १९५७ में शासन-मुक्त समाज की स्थापना सारी दुनिया में हो क्यों न हो? यह केवल एक कल्पना नहीं है, बल्कि अगर हम ठीक हिम्मत बांधें, ज़रा इस दृष्टि से सोचें, गहराई में जायें तो ज्ञात होगा कि मानवता को आखिर हम मिटाना तो नहीं चाहते! मानव कितना भी मूर्ख बना हो, पर आखिर वह इतना मूर्ख तो नहीं बनेगा कि स्वजाति का ही नाश करने के लिए प्रवृत्त हो! यह संभव नहीं है। हम कोई ईश्वर की इच्छा नहीं जानते परन्तु जो दीख रहा है—वह जो सारा तमाशा है, उसपर से ऐसा नहीं दीखता है कि मानवता की समाप्ति की कोई योजना हो रही है। और यह किसपर से पहचाना जाता है? ईश्वर अभी प्रलय नहीं चाहता, मानव के हाथ से मानव का नाश नहीं चाहता, यह किसपर से मालूम पड़ता है? वह इसीपर से मालूम होता है कि ऐसी प्रेरणा हमको हो रही है। अगर ऐसा नहीं होता तो भगवान हम सबको बेवकूफ बनाता और आप और हम यहां बैठकर दंड-मुक्त समाज, शासन-मुक्त समाज-रचना की बात नहीं कर सकते थे। भगवान को जत्र प्रलय करना था तो यादवों को क्या सूझा? एक-एक ने शराब पीकर हाथ में लठ्ठ लिया और मारने लगे एक-दूसरे को। आखिर भगवान ने कहा कि यकीन भाई, मैं भी तुम लोगों से अलग क्यों रहूँ? इस वास्ते प्रहार कर दिया और चले गये। सबका संहार वहां से हो गया, ऐसा कहते हैं। अगर भगवान दर-असल नहीं चाहता होता तो दंड-मुक्त, शासन-मुक्त

समाज बनाने की प्रेरणा मुझे क्यों होती ? हम सब यहां इकट्ठे क्यों होते ? इसके लिए हम एकत्र हो ही नहीं सकते थे । कोई अगर ऐसा अहंकार रखे कि ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध हम एक काम करने जा रहे हैं और ईश्वर तो प्रलय चाहता हुआ दीखता है, कम्बख्त, लेकिन हमने तय किया है कि हम प्रलय नहीं होने देंगे । ऐसा हम ईश्वर की मर्जी के खिलाफ जाकर कुछ करने जा रहे हैं तो यह असम्भव है । इस वास्ते समझना चाहिए कि जब हमको आपको ऐसी प्रेरणा हो रही है तो ईश्वर इस वक्त प्रलय नहीं चाहता है । यह निश्चित ही समझ लेना चाहिए । और अगर वह प्रलय नहीं चाहता है तो हमको शीघ्र-से-शीघ्र मुक्त करना चाहता होगा—हिंसा से, यह भी स्पष्ट है । इसलिए मैं कहता हूं कि जरा हमको श्रद्धा रखनी चाहिए । वह नज़दीक आ रहा है, सतयुग । बहुत नज़दीक आ रहा है । पर सतयुग कब आता है, जबकि कलियुग का परिपूर्ण अतिरेक होता है, उसका घड़ा भर जाता है तो उसके बाद आता है, सतयुग । हमें भगवान् चाहिए कि जब इतनी अतिहिंसा समाज में फैल गई और समाज भयभीत बन गया तो इसके आगे शीघ्र ही सतयुग आ रहा है ।

आज यह हमको कल का दर्शन हो रहा है । चार साल में हमको इतनी जमीन प्राप्त हुई तो आगे दो साल में और कितनी जमीन प्राप्त होगी, इत्यादि गणित करके जो हम सोचते हैं तो वैसा नहीं सोचना चाहिए । सोचना यह चाहिए कि एक बड़ी भारी प्रेरणा सारी दुनिया में काम कर रही है और उस प्रेरणा के लिए हम निमित्त हो गये हैं । वह प्रेरणा हमसे कुछ कराना चाहती है, यह समझ लेना चाहिए । इतिहास भर में देखा गया है कि मानव का समूचा इतिहास दैवी प्रेरणाओं से प्रेरित है । आप देखेंगे कि एक ज़माना था, एक युग था, जिस युग में इधर बुद्ध भगवान् थे तो उधर कन्फ्यूशस थे और कुछ दिन के अन्तर से ज़रथुस्त थे । थोड़े दिन बाद ईसा आ गये । पैगम्बर-ही-पैगम्बर एक साथ उन पांचसौ साल के अंदर आपको दिखाई देंगे । फिर समाज में एक ऐसी अवधि आई, इतिहास में एक ऐसा समय आया, जिसमें आप देखते हैं अनेक संतों को । जब इधर वैष्णव आये तो अन्यतर और साधु-संत हुए । इस प्रकार सब तरफ उस समय हम संतों को देखते हैं । फिर जिधर देखो उधर, हर देश में आजादी की बात चली, मानव-समाज में साम्ययोग की स्थापना होनी चाहिए, किसी-न-किसी स्वरूप की समता स्थापन करनी है । समता चाहिए, आजादी चाहिए, ऐसी प्रेरणा आज कुल देशों में हो रही है ।

इसका मतलब यह है कि प्रेरणाएं हुआ करती हैं और प्रेरणाओं से मानव-समाज प्रेरित होता है और प्रवृत्त होता है । तो अभी की जो यह प्रेरणा है, वह अभी तक जो प्रेरणाएं हुईं, उनके विकसित स्वरूप की प्रेरणा है, ऐसा समझकर हमको यह महसूस होना चाहिए कि ईश्वर हमको अपना हथियार, औजार बना

रहा है। हमको अगर यह भास हो जाय तो फिर हम कम ताकतवाले नहीं रहेंगे, बल्कि एटम ने तो यह साबित कर दिया है कि बड़ी भारी श्रद्धा अब बढ़नी चाहिए। एटम ने यह सिद्ध कर दिया कि अणु में ऐसी शक्ति है कि वह संहार कर सकती है। इतनी शक्ति अणु में होती है तो फिर हमको यह समझना है कि एक साधारण भौतिक परमाणु में अगर इतनी शक्ति है तो चैतन्य में, ज्ञान-परमाणु के कितनी शक्ति होगी? इस वास्ते में यह चाहता हूँ कि इस भूदान-यज्ञ की तरफ हम सीमित नजर से न देखें। अगर हम ऐसी नजर से देखेंगे तो गोता खायेंगे। लेकिन व्यापक नजर से देखेंगे तो ज्ञात होगा कि यह एक बड़ा भारी खेल सारी दुनिया में हो रहा है और उस खेल का मध्यबिंदु फिर से भारत बनने जा रहा है और इसी वास्ते यह प्रेरणा हमको मिली है। आप देखते हैं कि उधर पंडित नेहरू कोशिश कर रहे हैं कि सारी दुनिया में शांति स्थापित हो और शांति के विचारों को बढ़ावा मिले। यह प्रेरणा उनको हो रही है और वह जिस पद्धति से काम कर रहे हैं, उस पद्धति में वह अपनी पराकाष्ठा भी कर रहे हैं। वह प्रेरणा भी हिंदुस्तान में से निकल रही है और आप देखते हैं कि भूदान-यज्ञ की प्रेरणा भी हिंदुस्तान में प्रकट हुई है। आपने यह भी देखा कि आजादी का जो एक तरीका आया, वह भी हिंदुस्तान में आया। इस तरह से कुल बातें देखते हुए यह आभास होता है कि दुनिया में एक प्रेरणा काम कर रही है और उसके वास्ते फिर से भारत को निमित्त बनना है। यह विशाल भावना अगर हम ध्यान में रखेंगे तो फिर अपना लश्कर कैसे बढ़ायेंगे, उसका उपयोग है या निरूपयोग है, पाकिस्तान के खिलाफ टिकेंगे या न टिकेंगे और 'रायफल क्लब' का क्या होगा, इत्यादि-इत्यादि बातें बिल्कुल क्षुद्र हो जाती हैं। इनका विचार करने की जरूरत ही नहीं मालूम होती।

इसलिए अब हम इस दृष्टि से इसपर सोचें कि आज जो एक प्रस्ताव हुआ है और जो मांग की गई है कि दो साल तक अपने बहुत सारे अच्छे-अच्छे कार्यों को भी छोड़ करके लोग इसमें जोर लगावें तो उसका क्या महत्त्व है? शंकरराव-जी ने कहा कि दो साल तक जोर करने का अर्थ यदि यह हो कि आज तारीख से उस तारीख तक ही जोर लगाया और फिर हम ढीले पड़ गये तो ऐसा नहीं होना चाहिए। यह सावधानी की सूचना उन्होंने हमको दी। लेकिन दो साल की जो बात प्रस्ताव में बताई गई है, वह जिन सब लोगों ने प्रस्ताव बनाया, उन्होंने कुछ ज्यादा सोच-विचार करके बनाया हो, ऐसा नहीं है। उन्होंने बारीक विचार किया, ऐसा नहीं। एक स्थूल विचार ही उन्होंने किया कि १९५७ तक हमने काम करने का संकल्प किया था, इसलिए उसके अब दो साल बाकी हैं तो उसके लिए उतना समय दिया जाय। इतना ही सोचा था। लेकिन हम यह समझें कि यह जो दो साल की अवधि दी हुई है कि हम सब लोग दो साल में जोर लगावें, और हम आवाहन देते हैं सबको जोर लगाने के लिए, तो सिर्फ हिंदुस्तान के लोगों के लिए

यह आवाहन दे रहे हैं। हमारे सर्वोदय-प्रेमी लोगों तक ही सीमित होकर हम नहीं बोल रहे हैं। यद्यपि हमारा उनके लिए अधिकार है, इस वास्ते उनको ही विशेष आवाहन कर रहे हैं, लेकिन यह आवाहन हमारा सारी दुनिया को है कि अगले दो साल जोर लगाइये और १९५७ तक दण्ड-मुक्त समाज स्थापित करिये।

आज हम यहां से जायेंगे। वल्लभस्वामी ने कहा कि कुछ लोग पैदल आते हैं और वापस जाते हैं, ट्रेन में। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो आये भी पैदल और जायेंगे भी पैदल। पर अगर कम-से-कम एक ही दफा पैदल जाने की योजना हो तो जाते समय वे पैदल जायें। यह बात उसने क्यों कही, मैं भी सोच रहा था। क्या उसे सूझा? इसलिए कि इस वक्त एक ऐसा संदेश हमको मिल रहा है कि उसका प्रचार फौरन करने की जरूरत है। अगर हम यहां से पैदल निकल पड़ते हैं तो जो संदेश हमको यहांपर मिला है, वह संदेश हर जगह सुनाते जायेंगे कि भाइयो, देखो, दो साल के अंदर मानव का उद्धार होनेवाला है। जहां भी इस तरह का उत्थान हुआ है, वहां मानव ने अति तीव्रता से मान लिया है कि मुक्ति मेरे नजदीक है। और यह मुक्ति नजदीक है, ऐसी तीव्रता जब मानव में आई, तभी धर्म का उत्थान हुआ और बहुत भारी कार्य हुए, इसे हम सब जानते हैं। इसलिए हमको न सिर्फ ऐसा महसूस करना चाहिए कि दो साल के अंदर यहां के मानव ऐसा प्रयत्न करेंगे और कुछ जमीन हासिल करेंगे बल्कि दो साल में हमको ऐसी कोशिश करनी है कि दुनिया के सब शस्त्रों को निकम्मा समझ करके एक नया समाज बनाने के लिए दुनिया प्रेरित हो। यह कोई असंभव बात मानने की जरूरत नहीं है—इस युग में, जबकि एक-एक वर्ष की कीमत आज पुराने सौ-सौ, दो-दोसौ वर्ष के बराबर हो गई है। तब ऐसा समझने की जरूरत नहीं है और ऐसी आशा रख करके एक प्रेरणा से प्रेरित होकर हम यहां से चले जायें और जब भी भूमि मांगने के लिए जायें तो उनको यह समझावें कि भाई, आप जो दान-पत्र देंगे, वह विश्व-शांति के लिए है। आप विश्व-शांति चाहते हैं या नहीं चाहते? यदि चाहते हैं तो यहां की भूमि-समस्या हल करने के लिए भूमिदान और संपत्तिदान की जो योजना है, उसमें अपना हिस्सा दीजिये। आपका जो यह छठा हिस्सा दिया जायगा, वह विश्व-शांति के लिए वोट ही माना जायगा।

ऐसी ही भावना रखकर हम यह काम करें और देखें कि इसमें कौन-सी शक्ति पड़ी है? कुछ हिसाबी भाइयों ने कहा कि जिस तरीके से हमने यह काम चलाया, उस तरीके से शायद यह मामला १९५७ तक निपटता नहीं दीखता, अतएव हम कोई दूसरे तरीके ढूँढ़ें। पर हम कहते हैं कि तरीकों की यहां कोई कीमत नहीं है। तरीका कोई कीमत ही नहीं रखता। यहां कीमत इस बात की है कि हम कितनी श्रद्धा से भावित हैं? यदि हममें श्रद्धा-भावना की न्यूनता है तो इससे बेहतर तरीके हम ढूँढ़ते भी चले जायें तो भी समझ लीजिये कि फिर भूमि-समस्या हल

होनेवाली नहीं है। वह समस्या हल होगी तो उसके साथ-साथ मानव का यह निश्चय हुआ होगा कि हमको शासन-मुक्त होना है, दंड-मुक्त होना है। ऐसा निश्चय हुआ होगा तभी उस निश्चय के साथ यह समस्या भी अहिंसा से सुलभ होगी।

हमसे लोग पूछते हैं कि क्या आपका, ऐसा विश्वास है ? आज ही श्री पाटिल-साहब ने भी पूछा था कि क्या आपको इसपर विश्वास है कि हर कोई मनुष्य अपना छठा हिस्सा दे ही देगा। पर क्या यह सही सवाल माना जायगा ? अब ऐसा जो सवाल उठता है, वह इसलिए कि हमारा दर्शन सीमित है। यदि हम व्यापक दर्शन से देखें और भावना से भावित होकर लोगों के पास पहुंचें तो आप देखेंगे कि यह महज हिंदुस्तान की भूमि-समस्या हल करने की छोटी-सी बात नहीं है। यह बात ऐसी नहीं है कि यहां के थोड़े भूमिहीनों को थोड़ी-सी मदद मिल जाय, जिससे कि थोड़ी शांति यहां स्थापित हो तथा 'लेड हगर' जिसको कहते हैं जमीन की भूख, वह जरा शांत हो जाय। यह इतनी छोटी वस्तु नहीं है। बात यह है कि हिंदुस्तान की नैतिक शक्ति ऐसी बने कि उसके परिणामस्वरूप सारी दुनिया में शांति स्थापित हो। जब यह बात ध्यान में आयगी तो हमारा यह जो तरीका है, वह अगर अभी तक कारगर नहीं हुआ है तो फिर हमें अपना संशोधन करना होगा। इसमें त्रुटियां होंगी, तो कुछ दोष हमसे होते होंगे, मन के दोष होंगे, कृति के दोष होंगे, इस वास्ते इसमें पूरी ताकत नहीं आई होगी, यह हमको समझना चाहिए।

जब हम सत्याग्रह के लिए सोचते हैं तो मैं सत्याग्रह-शास्त्र आपके सामने रखता हूं। सत्याग्रह के बारे में हम लोग सोचते हैं तो करीब-करीब ऐसे ढंग से सोचते हैं कि जैसे मानव ने छोटी हिंसा से बड़ी हिंसा और बड़ी हिंसा से अति-हिंसा में जिस ढंग से कदम रखा है, उसी ढंग से सोचते हैं और कहते हैं कि पहले तो हम एक सौम्य-सा सत्याग्रह करेंगे। आज हमारी यह जो पद-यात्रा चल रही है, वह भी एक सत्याग्रह है, ऐसा हम कहते हैं। लोगों ने यह माना है और कहते हैं कि हां, यह भी एक सौम्य सत्याग्रह है। पर इससे अगर काम नहीं बना तो और तीव्र सत्याग्रह से काम करो। यदि उससे भी नहीं बना तो हमारे पास उससे और भी तीव्र सत्याग्रह होगा। इस तरह से हम इसकी तीव्रता बढ़ाते जायेंगे। किंतु यथार्थ में हमारा चिंतन इससे बिल्कुल उल्टा होना चाहिए। हमने जो सौम्य सत्याग्रह शुरू किया है, अगर उससे काम बनता नहीं दीखता तो उससे कोई सौम्यतर सत्याग्रह ढूँढ़ेंगे, ताकि उसकी ताकत बढ़े। अगर उतने से भी काम नहीं निभा तो कोई और सौम्यतम सत्याग्रह निकालेंगे, जिससे कि उसकी ताकत और बढ़े। आपको मालूम है कि होमियोपथी में यह विद्या सिखाई जाती है कि औषधि कम मात्रा में हो और उसे घोंटा जाय, बार-बार भावित किया जाय। भावना से जो भावित होता है वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होते हुए अधिकाधिक परिणामकारी होता

है। हिंसा-शास्त्र में जैसा सोचा जाता है कि सौम्य शस्त्र से काम नहीं चला तो उससे तीव्र शस्त्र लेने से ताकत बढ़ेगी और तब वह सफल होगा तो यह जो प्रक्रिया हिंसा में चलती है, इससे बिल्कुल उलटी प्रक्रिया यहां होनी चाहिए और ध्यान में आना चाहिए कि यह काम अगर इस तरह से कामयाब नहीं हो रहा है, इसमें यदि हमको सफलता नहीं मिल रही है तो इसका मतलब यह है कि हमारी सौम्यता में कुछ न्यूनता है और इस वास्ते हमको सौम्यता और बढ़ानी चाहिए।

भाइयो, यही सत्याग्रह का स्वरूप है। अभी तक आजादी के लिए जो सत्याग्रह हुए हैं उनमें दबाव लाकर अंग्रेजी सत्ता को यहां से हटाना है, इतना ही एक निगेटिव कार्य था। उस वक्त और उस अवस्था में, जबकि हिन्दुस्तान देश निःशस्त्र होकर निराश हो गया था, या तो आत होकर इधर-उधर छोटे-बड़े खून करने लगा था, स्वैर हिंसा में बैठना चाहता था, उस हालत में यह अहिंसा का विचार आया और लोगों ने उसको उतनी ही मात्रा में ही ग्रहण किया, जितनी मात्रा में वे ग्रहण कर सकते थे। इस वास्ते उन दिनों सत्याग्रह की जो एक प्रक्रिया हुई, वह परिपूर्ण हुई, ऐसा नहीं मानना चाहिए। वह विशिष्ट परिस्थिति में, उपाधि से युक्त परिस्थिति में एक प्रक्रिया हुई, ऐसा समझकर स्वराज्य-प्राप्ति के बाद, डेमोक्रेसी की आज की हालत देखते हुए सारी दुनिया में जो शक्तियां काम कर रही हैं उनका सूक्ष्म दर्शन पा करके हमको समझना चाहिए कि सत्याग्रह की मात्रा हमको उत्तरोत्तर सौम्य करनी होगी। सौम्य, सौम्यतर और सौम्यतम, इस तरह से अगर सत्याग्रह बढ़ता गया, तब तो वह अधिकाधिक कारगर और अधिकाधिक शक्तिशाली होगा। तुलसी-रामायण में मुरसा राक्षसी की कथा है। “मुरसा नाम अहिन की माता।” यह हनुमान के सामने खड़ी हो गई और उसने जब अपना मुंह फैलाया और एक योजन का किया तो हनुमान दो योजन के बन गए। जब उसने दो योजन का मुंह बनाया तो हनुमान चार योजन के हो गये। जब हनुमान चार योजन के बन गये तो मुरसा आठ योजन की बन गई। आखिर जब वह आठ योजन की बनी हनुमान सोलह योजन के बन गये। तब मुरसा ‘बत्तीस भयऊ।’ अब हनुमान ने देखा कि इसके आगे गुणन क्रिया करते रहने में सार नहीं, बत्तीस का चौंसठ होगा, चौंसठ का एकसौअठ्ठाईस, जिसका कोई अन्त नहीं है। यह न्यूक्लीयर वैपन तक पहुंच जायगा, जिसमें कोई सार नहीं है। तो फिर ‘अति लघु रूप धरेऊ हनुमाना।’—फिर हनुमान ने अति लघु रूप धारण किया और उसके मुंह के अन्दर चले गये तथा नासा-रंध्र से बाहर निकल गये। खतम हो गया मामला।

हमको समझना चाहिए कि जो विशाल मुरसा इतना भयानक रूप धारण करके एटम और हाइड्रोजन बम का रूप लेकर मुंह फैलाकर हमारे सामने खड़ी है, हम बिल्कुल अति लघु रूप धारण करके उसके अन्दर चले जायें और नासिका-रंध्र से पार हो जायें। हमको इसलिए प्रेरणा होती है। गुजरात के एक भाई

ने कहा कि अब वहां काम बहुत मंद पड़ गया। मैंने कहा, अरे, क्या मंदा पड़ा ? मंद नहीं पड़ा रे ! तुम बाहर से देखते हो, पर जरा अन्दर से देखो कि अपनी छाती में जो चीज है, वह मंद पड़ी है क्या ? अपनी नाड़ी मंद पड़ी है क्या ? अगर अपनी छाती पर हाथ रखते हैं तो अनुत्साह नहीं दीख पड़ता। विनोबा को तो उत्साह ही दीख पड़ता है। इधर विनोबा चल रहा था तो उधर पेट के अन्दर जरा जोर से दर्द शुरू हो गया। मैंने कहा, वाह रे वाह ! उसकी ज्यादा लम्बी कहानी में यहां नहीं सुनाऊंगा, पर पेट सुबह से शाम तक दुखता था। सतत ही दुखता रहा। पहले तो रात को नींद आती थी, पर इन दिनों दर्द से रात में वह अक्सर टूट जाती थी। पर मन ने कहा, पेट दुखता है तो इसमें पैरों का क्या अपराध है ? पांव चल सकते हैं, इसलिए यात्रा जारी रखी। आखिर लोगों ने बहुत आग्रह किया तो पालकी में बैठा, तीन दिन। कुल मिलाकर सात-आठ मील पालकी में बैठा, फिर भी रोज पांच-छः मील तो चलता ही था। आखिर वह पेट बेचारा शांत हो गया। यह विचार का चमत्कार हुआ तो एक छोटी-सी परीक्षा हुई; लेकिन हमको यही लगा कि पांव तो परमेश्वर ने नहीं तोड़े हैं, इसमें उसका संदेश स्पष्ट है कि 'चलते रहो' और जब फिर यात्रा बन्द करने का मुझे सूझेगा, तब तेरे पांव तोड़ डालूंगा। उसका यह संदेश मैं समझ गया और मेरा उत्साह बढ़ा। मैं पूछता हूं कि इधर आपको कितनी जमीन मिली है ? कोई कहते हैं कि गयेसाल से कोई तीन-चार लाख एकड़ कम जमीन मिली। पर यह कोई बात नहीं है। इसपर सोचो ही मत और यहां से अपने हृदय में तीव्र भावना लेकर जाओ, यही आपसे मुझे कहना है।

आज सर्व-सेवा-संघ ने जो प्रस्ताव आपके सामने रखा है, क्या उसको सब कार्यकर्ताओं को आदेश देने का अधिकार है ? परन्तु सर्व-सेवा-संघ आदेश नहीं दे रहा है और इसलिए आप सबको आज्ञा करने की उसकी शक्ति नहीं है। सर्व-सेवा-संघ यह नहीं कर सकता। सर्व-सेवा-संघ अगर कुछ कर सकता है तो आदेश नहीं दे सकता, प्रार्थना कर सकता है। 'असर्व' के लिए प्रार्थना नहीं कर सकता, सर्व के लिए ही कर सकता है। इस वास्ते आज का प्रस्ताव अति नम्र है। वह उद्धत नहीं है कि अपने चंद लोगों को ही आदेश दे, जैसे कि कोई उद्धत मालिक अपने नौकरों को हुक्म देता है और उसके मुताबिक काम करवाता है। सर्व-सेवा-संघ ऐसा उद्धत नहीं बन सकता। तो उस प्रस्ताव में सारी दुनिया से प्रार्थना की गई है कि दो साल जोर लगाओ और इस अरसे में अपना समाज शासन-मुक्त करने की कोशिश करो। जब हम समाज को शासन-मुक्त करेंगे, तभी अहिंसा में प्रवेश होगा, नहीं तो अगर हम यह कोशिश करेंगे कि हिंसा सीमित न बने और उसके जो अतिरिक्त शस्त्र हैं, उतने ही क्षीण हो जायं तो घटना-चक्र में यह बात बैठनेवाली नहीं है। ऐसा समझकर के हम इस प्रस्ताव का यह अर्थ करते हैं कि

हम सब लोग सारी दुनिया के हित के लिए, विश्वहित के लिए यह बोल रहे हैं, जरा भी कम शब्द नहीं बोलना है।

हमको हमारे पूर्वजों ने क्या सिखलाया, यह महारोगी सेवा-मंडल की एक पुस्तक की प्रस्तावना लिखते समय मैं सोच रहा था। मैंने लिखा कि ह्यूमैनिटी का विकास क्रिस्ती धर्म में हुआ है और उसके परिणामस्वरूप वहांपर कुछ रोगियों की सेवा-इत्यादि चलती है। तो, ह्यूमैनिटी शब्द का तर्जुमा करना मुझे मुश्किल मालूम हुआ, क्योंकि अपनी भाषा में ह्यूमैनिटी के लिए कोई शब्द ही नहीं है। अपनी भाषा में जो शब्द है, वह है 'भूतदया' और यहां तो चाहिए 'मानवदया'। अब मानवदया जैसी एक सीमित वस्तु हमने बनाई ही नहीं है। तो 'भूतदया' नाम ले लिया है और कहा है 'सर्वभूतहिते रताः।' इतना विशाल शब्द पूर्वजों ने हमारे सामने रखा है कि उससे अधिक विशाल दूसरा कोई शब्द ही नहीं। 'सर्व' कह दिया, 'भूत' कह दिया एवं 'हित' कह दिया। तब और कहने को क्या बाकी रहा? याने पूरा-का-पूरा मनुष्य जितनी ऊंची उड़ान उड़ सकता है, उतनी ऊंची उड़ान इस शब्द में पड़ी है। 'सर्वभूतहिते रताः' और उसका अर्थ भगवान भास्कर लिख रहे हैं, "अहिंसक इत्यर्थः" अर्थात् जिसका अर्थ अहिंसा है, यह एक ही शब्द में बता दिया। 'सर्व-भूत-हिते रताः' यह जो शब्द है, उसे लेकर ही हम सम्मेलन से जा रहे हैं। लोगों के पास हम जायें और कहें कि यह काम हम कर रहे हैं। यहां की भूमि-समस्या ही केवल हमें हल करने की नहीं है, दुनिया की कुल सल्लतनतें, जो कि हिंसा को सीमित करने में कारगर नहीं हो सकती, उनको मिटाने के लिए और परिणामस्वरूप दुनिया में अहिंसा की स्थापना करने के लिए, विश्व-शांति के लिए हम आपसे दान मांग रहे हैं। क्या आप विश्व-शांति के लिए जमीन का छठा हिस्सा नहीं दे सकते? अपनी सम्पत्ति का भी छठा हिस्सा विश्व-शांति के लिए क्या नहीं दे सकते? लोगों के पास जाकर हम यह समझावें।

भाइयो, मैं आपका अधिक समय नहीं लेना चाहता। कई प्रश्न पूछे गये हैं, लेकिन थोड़े में जो बात मेरे हृदय में थी, वह आपके सामने प्रकट की। हमारे कई भाई अच्छे-अच्छे कामों में लगे हैं। अब हम उनसे जरा प्यार की बात कहना चाहते हैं। हमारा एक दावा है। वह हम आपके सामने पेश करते हैं। दावा हमारा यह है कि जितनी निष्ठा से रचनात्मक कार्य हमने किया, उससे अधिक निष्ठा से हम कर नहीं सकते थे। उससे ज्यादा निष्ठा हमारे पास उपलब्ध ही नहीं। इतनी निष्ठा से हमने छोटे-छोटे असंख्य रचनात्मक कार्य तीस-बत्तीस साल तक बड़ी निष्ठा से किए हैं। हमारी आत्मा कह रही है कि अगर इस समय गांधीजी होते तो वे ही छोटी-छोटी सेवाएं चलतीं और उनमें जो तृप्ति थी उसमें हमें विशाल तृप्ति महसूस होती थी। हम इतने मस्त थे कि आज तो लोगों के सामने हम हाथ जोड़ते हैं, लेकिन उन दिनों ऐसे मस्त थे कि यदि कोई हमारे सामने भी आये

तो परवा नहीं करते थे। लोग कहते थे, यह कैसा उद्धत मनुष्य है कि देखता भी नहीं। लेकिन वही हम आज आपके सामने बैठकर प्रार्थना कर रहे हैं कि वे जो छोटे-छोटे काम हमने चलाये हैं, वे दो-एक साल के लिए जरा छोड़ दें। इससे इन कामों का नुकसान नहीं होगा, हमारा नुकसान नहीं होगा तथा देश और दुनिया का भी नुकसान नहीं होगा, क्योंकि आगे हमें इतना काम उपलब्ध होगा कि वह करने के लिए हम पर्याप्त समर्थ भी साबित नहीं होंगे, ऐसा संभव है।

**सातवां सर्वोदय-सम्मेलन,**

**जगन्नाथपुरी, २७ मार्च १९५५**

## ७ : : सत्त्व और शक्ति

अब हममें से बहुत-से लोग एक वर्ष तक एक-दूसरे से मिलेंगे नहीं। साल भर में एक दफा हमको मिलने का प्रसंग मिलता है। हम लोग अक्सर काम में लगे होते हैं; इसलिए काम छोड़कर यहां आने की इच्छा भी कुछ कम रहती है। लेकिन अभी अप्पासाहब ने जो कहा, वह आप लोगों ने सुना है। उन्होंने कहा कि यहांपर आने से और यहां की बातें सुनने से कुछ लाभ हुआ है। हमको बहुत खुशी है कि इस प्रकार का अनुभव हमको यहां होता है। मैंने भी इस सम्मेलन का कुछ निरीक्षण किया। दो-चार सम्मेलनों में लगातार हम देखते रहे हैं। मुझे ऐसा भास हुआ कि इस साल सम्मेलन में जो चर्चाएं हुईं, उनमें कुछ सात्त्विकता का अंश था। इस वर्ष यहां सत्त्व-गुण का अंश अधिक देखा। हो सकता है कि यह मेरा भास ही हो, लेकिन अगर यह भास सही है तो यह लक्षण अच्छा है। इससे बल बढ़ेगा। जितना सत्त्व-गुण बढ़ेगा, उतना हमारा बल बढ़ेगा।

बहुत लोगों का खयाल है कि बल कुछ दूसरी वस्तु है। सत्त्व-गुण से बल बढ़ता है, ऐसा वे निश्चित रूप से मानते नहीं। वे समझते हैं कि बल के लिए किसी दूसरे देवता की आराधना करनी होती है। सत्त्वगुण से शान्ति प्राप्त होती है, ऐसा लोग अक्सर मानते हैं। परन्तु सत्त्वगुण में ताकत होती है, ऐसा विश्वास अभी बैठा नहीं है, इसलिए शक्ति का स्वतन्त्र देवता माना गया है और उसके हाथ में सब प्रकार के शस्त्रास्त्र होते हैं। उसकी उपासना लोग अन्तिम श्रद्धा रखकर करते हैं। शान्ति की उपासना लोग करना चाहते हैं, परन्तु अन्तिम श्रद्धा शान्ति में नहीं होती। वह शक्ति में ही होती है, इसलिए सतत यह भास होता है कि अगर शक्ति हमारे में न हो तो हमारा बचाव कैसे होगा? आत्म-समाधान के लिए, सामाजिक समता के लिए, मानसिक शान्ति के लिए, सत्त्व-गुण का देवता मान्य है। यह भी मान्य है

कि अगर रचनात्मक काम करना है, देश का विकास करना है तो भी सत्त्व-गुण का उपयोग है, शान्ति की जरूरत है। परन्तु अभी तक यह मान्य नहीं है कि रक्षण के लिए सत्त्वगुण समर्थ है। रक्षण के लिए दूसरे देवता की आराधना, दूसरा देवता की उपासना करनी होगी, ऐसा लोगों को लगता है।

वह जो (शक्तिरूपी) हमारा परम देवता था, जिसपर हमने अपने बचाव का आधार रखा, उसीने अब तीव्र रूप धारण किया है, इन दिनों। इसलिए एक प्रकार का डर पैदा हुआ है। आज भी माता-पिता बच्चे को प्रेम से समझाते हैं। लेकिन अगर वह नहीं समझता है तो क्या करते हैं? उसको एक तमाचा मारते हैं, याने आखिर माता-पिता का विश्वास प्रेम के बजाय मारने पर है। जो माता-पिता प्रेम के समुद्र होते हैं, बच्चों के हित के सिवा कुछ भी नहीं चाहते, अर्थात् बच्चों के लिए उनके मन में जरा भी द्वेष नहीं है—वे भी, अगर बच्चे समझाने से नहीं मानते हैं तो उनको दंडन करना, ताड़न करना, यही अन्तिम सेंक्शन, अन्तिम देवता समझते हैं। हमारे मन का निश्चय अभी तक नहीं हुआ है कि वह शक्ति-देवता हम लोगों के लिए तारक नहीं होगा, क्योंकि उसमें बुद्धि नहीं है। ऐसा अनुभव नहीं है कि जहां शक्ति होती है, वहां बुद्धि भी होती हो। शक्ति मूढ़ देवता है। जिस किसीके हाथ में शस्त्रास्त्र आते हैं, वह शक्तिमान है, यह जरूरी नहीं है कि उसका सत्पक्ष हो। जो देवता मूढ़ है, उसको देवता मानना ही गलत है; उसपर विश्वास रखना भी गलत है, उसपर अन्तिम विश्वास रखना तो और भी गलत है।

यह बात सर्वमान्य है कि जहां परस्पर में भगड़ा होता है, मतभेद होता है, वहां बातचीत से जितना हो सकता है, उतना करना चाहिए। सामपूर्वक ही कार्य करना चाहिए। परन्तु कार्य सामपूर्वक नहीं हुआ तो हम अपनी साम-बुद्धि का अधिक संशोधन करेंगे और अधिक उज्ज्वल साम उपस्थित करेंगे, ऐसा वे नहीं सोचते; बल्कि जब साम से काम नहीं होता तो दण्ड का प्रयोग करना पड़ता है। लेकिन दण्ड का भी उपयोग न हुआ तो उससे भी अधिक दण्ड की योजना करते हैं। और उससे भी काम न हुआ तो? उससे भी अधिक दण्ड की योजना खड़ी करते हैं। यों करते-करते अणु-अस्त्रों तक हम पहुंच गये, परन्तु यह ध्यान में नहीं आया कि यह दण्ड-शक्ति विश्वसनीय शक्ति नहीं है, बल्कि यह दगा देनेवाली शक्ति है। यह किसी पक्ष का समाधान करनेवाली शक्ति नहीं है इसका भान अभी तक हमको नहीं हुआ। दण्ड-शक्ति ने अति उग्र रूप धारण किया, इस वास्ते कुछ डर है और उस वजहसे मन कुछ डावांड़ोल है। परन्तु चित्त में जो दण्ड में पूरा विश्वास है, वह विश्वास उठा नहीं। अब कुछ थोड़ा-सा ढिंगा है। परन्तु अभी तक दण्ड त्याज्य नहीं हुआ।

कई दफा सोचा जाता है और मैं भी बहुत दफा कहता हूं कि पुरुषों ने समाज का काम बहुत बिगाड़ा। अगर उसमें स्त्रियां दाखिल होंगी तो शायद मामला कुछ

सुधरेगा। अभी यह विचार इसलिए मन में आया कि इस सम्मेलन में स्त्रियां काफी आई हैं। मुझे लगता है कि यह अच्छा लक्षण है। कई दफा मैंने कहा है कि स्त्री-शक्ति अगर सामने आयेगी तो तारण होगा। लेकिन आज स्त्रियों की हालत क्या है? और उनका विश्वास क्या है? वह अपनेको रक्ष्य समझती हैं और पुरुषों पर रक्षण की जिम्मेदारी है, ऐसा मानती हैं। अमरीका की स्त्रियां क्या कहती होंगी? ये सारे अणुबम चलते हैं तो क्या उनको अच्छा लगता होगा? वे अपने पतियों से कहती होंगी कि यह ठीक नहीं हुआ तो पतिदेवता उन्हें क्या समझाते होंगे? समझाते यही होंगे कि देख, अगर यह न किया जाय तो तेरे बाल-बच्चों की रक्षा नहीं होगी। तो स्त्रियां क्या कहती होंगी? कहती होंगी कि अगर ऐसा है तो बड़ा उपकार है कि यह सारे अस्त्र मिले, क्योंकि स्त्रियों को पुरुषों ने भयभीत अवस्था में रखा है और स्त्रियों का यह गुण माना गया है कि वे भयभीत हैं। अगर कोई स्त्री बहादुर दीखी तो कहते हैं कि इसमें पुरुष का गुण है। स्त्री का स्वाभाविक गुण, याने भीरुता। अब इस हालत में स्त्रियां पुरुषों की मदद में आकर भी क्या करेंगी? वह बन्दूक उठायेगा तो वे उसमें बारूद भरेंगी। दूसरे देशों में स्त्रियों की पल्टनें भी बनती हैं और युद्ध में सब प्रकार की मदद करने के लिए स्त्रियां तैयार होती हैं। इसमें स्त्री-पुरुष-भेद भी तो मदद नहीं दे रहा है।

यह भी माना गया कि स्त्री मातृ-देवता होने के कारण अधिक दयालु, अधिक शान्तिमय, अधिक करुणामय, अधिक वात्सल्यमय होनी चाहिए—होती है। परन्तु जिस मनुष्य में देह और आत्मा के पृथक्करण का भान नहीं है, उसमें करुणा हो ही नहीं सकती। कुछ दया का गुण दीख पड़ता है, लेकिन वह करुणा-संज्ञा की पात्र नहीं है। करुणा तो बड़ा बहादुर गुण है। उसमें महान् सामर्थ्य है, उसमें डर नहीं है। वह परम निर्भय है। दया का जो भाव आता है, वह दुर्बलता के साथ आता है। गौतम बुद्ध को जो दर्शन हुआ, करुणा का, वह तीव्र तपस्या के अन्त में निर्भयता प्राप्त होने पर हुआ। वृत्रासुर से दुनिया को बहुत पीड़ा होती थी। इन्द्र के सारे औजार नाकामयाब हो गये थे। इन्द्र ने कहा कि यह सत्त्व-गुण से ही मरेगा। सत्त्व-गुण की मूर्ति उस जमाने में दधीचि मुनि थे। इन्द्र दधीचि मुनि के पास पहुंच गये। बोले, “जब हम तुम्हारी अस्थियों का शस्त्र बनायेंगे तब इसे जीत सकेंगे।” उस करुणामय ऋषि ने सोचा कि मेरे पास और है ही क्या? सिर्फ हड्डियां भर तो हैं तो उन्हें दे दिया जाय। उसने अपनी देह का विसर्जन किया। उसकी अस्थियों का वज्र बनाया गया और उस वज्र से वृत्रासुर का मर्दन हुआ। दुनिया को भय-मुक्त करने के लिए अपना देह-विसर्जन करने की तैयारी उस शस्त्र की हुई, क्योंकि उसका हृदय करुणा से भरा हुआ था। जबतक देह और देह-सम्बन्ध में हम पड़े रहेंगे तब-तक करुणा की शक्ति प्रकट नहीं होगी, चाहे जीवन में दया थोड़ी-बहुत प्रकट हो जाय। यह बहुत सोचने की बात है।

पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के मसले की इन दिनों चर्चा चलती है। वह बेचारा इतना डावांड़ोल देश दीखता है कि हमको तो उसपर दया ही आती है। न कोई व्यवस्था-शक्ति वहां है, न कोई योजना वहां दीखती है, न परस्पर एकता है, न प्रजा के लिए समृद्धि की कोई तजवीज बनी है। बस, एक कश्मीर का भगड़ा है। उसे बार-बार खड़ा करके भारत के द्वेष के नाम पर प्रजा को काबू में रखते हैं। इस प्रकार उस देश में जो तरह-तरह के दुःख हैं, उन दुःखों की तरफसे लोगों का ध्यान ही खींच लिया। बाकी जो कुछ दीखता है, शक्ति का आभास, वह केवल अमरीका की गुलामी है। इसके सिवा और कुछ नहीं है।

ऐसे देश से क्या डरना है? उस बेचारे की अत्यन्त दयनीय दशा है। वह शस्त्रास्त्र बढ़ा रहा है, उससे उसकी ताकत बढ़ेगी, ऐसा हम नहीं समझते। बल्कि हम ऐसा समझते हैं कि वह शस्त्रास्त्र बढ़ा रहा है, इस वास्ते उसकी कमजोरी बढ़ रही है। वह क्षीण हो रहा है। वह भारत पर क्या आक्रमण कर सकेगा? वह भारत पर तब आक्रमण कर सकेगा, जब अमरीका उसको आक्रमण के लिए प्रेरित करेगा। अमरीका उसको आक्रमण के लिए तब प्रेरित करेगा, जब एशिया आदि सब राष्ट्रों से लड़ने की ठानेगा और विश्वयुद्ध शुरू करने का इरादा करेगा। इसलिए उस देश की कोई भीति रखने का कारण नहीं। हम तो यह समझते हैं कि उस राष्ट्र के साथ अगर हमको बलपूर्वक पेश आना है तो हमें दूसरी ही बात करनी होगी। हमें उसको भयभीतता से मुक्त करने के लिए उसमें कुछ विश्वास पैदा करना होगा। वहां के प्राइम मिनिस्टर क्या कहते हैं—“अमरीका की मदद हम इसलिए लेते हैं कि बातचीत में कुछ ताकत आये। हमको आक्रमण नहीं करना है। बातचीत से ही मसला हल हो सकता है। लेकिन बातचीत में ताकत चाहिए, इसलिए यह शस्त्रास्त्र हम हासिल करते हैं।” हम भी मानते हैं कि आमने-सामने बातचीत करने से मसला हल करना है तो उस बातचीत के पीछे कुछ ताकत चाहिए। इसीलिए हमको भास होता है कि हम शस्त्र बिल्कुल कम कर दें तो हमारी ताकत बढ़ जायगी। यह तब ध्यान में आयागा, जब छाती में धड़कन नहीं होगी और सामनेवाले के लिए हमारे दिल में प्रेम होगा। परंतु उसके अभाव में हमको डर मालूम होता है और फिर अपने देश के बचाव की जिम्मेदारी महसूस होती है। देश के बचाव की जिम्मेदारी है, इसीलिए हम कहते हैं कि शस्त्र-त्याग होना चाहिए। बाबा के बचाव के लिए बाबा नहीं कह रहा है कि शस्त्र कम किये जायं, परन्तु देश के बचाव के लिए कह रहा है। यह हिम्मत की बात है, इतना ही नहीं, हिकमत की भी बात है, याने इसमें बुद्धिमानी भी है।

यह समझना होगा कि आजकल भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के बीच बैलेन्स (संतुलन) रखने की जो कोशिश की जाती है, वह आज की विद्या नहीं है, सौ-दोसौ साल से यही चल रहा है। यह ‘बैलेन्स ऑव पावर’ (शक्ति के संतुलन) का विचार राज-

नीति में और उसके दर्शन में सौ-दोसौ साल से मान्य रहा है। इस 'बैलेन्स ऑव पावर' के लिए ही उस देश ने शस्त्रास्त्र बढ़ाये तो हम भी बढ़ाते हैं, जिससे कि बैलेन्स रहे याने तराजू की डंडी बराबर रहे। तराजू के इस पल्ले में पांच सेर डाला, बैलेन्स नहीं रहा; तो उस पल्ले में पांच सेर डाल दिया। अब इस पल्लेवाले ने और दो सेर ज्यादा डाला तो डंडी इधर झुक गई। उसने उधर दो सेर और डाला। ऐसे होते-होते दोनों पल्लों में इतना वजन बढ़ा कि तराजू टूटने की नौबत आई।

आज दुनिया में जो डर छाया हुआ है, उसका कारण यही है कि मन में भय है। एक पल्ले में भारी वजन पड़ा हुआ है, इसलिए दूसरे पल्ले में रखना ही पड़ता है। कुछ मिलाकर सारा जीवन दुःखमय है। 'बैलेन्स' कायम रखने के लिए वजन दोनों तरफ समान रूप से बढ़ाते चले गये। 'बैलेन्स ऑव पावर' पर से विश्वास अभी गया नहीं है। लेकिन बहुत ज्यादा भार हर एक पल्ले में हुआ है, इसकी हानि मालूम हो रही है। दोनों एक-दूसरे से कह रहे हैं कि 'बैलेन्स' को कायम रखना चाहिए, लेकिन दोनों तरफ वजन बढ़ाकर बैलेन्स कायम रखने के बजाय दोनों बाजू वजन कम करके बैलेन्स कायम रखेंगे तो अच्छा होगा। इसलिए अब शस्त्र दोनों तरफ से परस्पर-सम्मति से कम हो जायें तो ठीक होगा, ऐसी बात हो रही है। इसका मतलब यह हुआ कि दो मनुष्यों के बीच बात हो रही है। एक बुद्धिमान है, दूसरा मूर्ख। बुद्धिमान मूर्ख से कह रहा है कि जबतक तू मूर्ख बना रहेगा, तबतक मुझे भी मूर्ख रहना होगा। अरे, तुझको मूर्ख रहना क्या पड़ेगा? तू मूर्ख तो है ही। नाहक बुद्धिमत्ता का आरोप तुझपर हुआ था। वस्तुतः तुम वही हो, जो तुम होना चाहते हो।

इस वक्त हमारा देश निश्चय के साथ, हिम्मत रखकर, परिस्थिति को समझकर, अपने शस्त्रास्त्र विश्वासपूर्वक कम कर दे तो हम समझते हैं कि इससे हमारी नैतिक ताकत बढ़ेगी। लोग पूछते हैं कि क्या इस बात के लिए आम लोग तैयार होंगे? यह बहुत सोचने का विषय है। अमरीका की मदद पाकिस्तान को मिल रही है। यह कोई नई घटना नहीं है। दो-तीन साल से इसका आरंभ हुआ है। जब उनको मदद मिलनी शुरू हुई, उसी वक्त पंडित नेहरू ने अगर एक कॉल (आवाहन) दिया होता कि "हमें शस्त्रास्त्र जोरों से बढ़ाने चाहिए, इसलिए मेरे प्यारे भाइयो, सेना में दाखिल हो जाओ," तो सारे लोग उनके उस कॉल को मान्य करते या नहीं? पालमेंट बहुत भारी मत से उनके पक्ष में अपना मत देती या नहीं? अहिंसा पर, शांति पर विश्वास रखनेवाले पं० नेहरू जब शस्त्र बढ़ाने की बात कह रहे हैं, तब हमें जरूर शस्त्र बढ़ाने चाहिए, ऐसा लोग कहते कि नहीं? परंतु पं० नेहरू ने देश को संयम में रखा, इसलिए लोगों ने कुछ धीरज रखा। हम कबूल करते हैं कि इस मामले में जनता की शक्ति का विचार करना पड़ता है। जनता

में हिम्मत होती है तो राज्यकर्ताओं में भी हिम्मत आती है। लेकिन इसकी दूसरी बाजू यह है कि सरकार और नेताओं में ताकत हो तो जनता में भी ताकत आ जाती है, याने दोनों बाजू से एक-दूसरे पर असर होता है। हम कहते हैं कि जनता को हम सब मिलकर अगर उसका हित समझा सकें और शस्त्रास्त्र कम करने की हिम्मत, ताकत बढ़ाने के लिए कर सकें तो उसके लिए आज मौका है। यह हमारी अल्प मति है।

आज की सरकार जिस ढंग से सोचती है, उसका हम विरोध नहीं कर रहे हैं। उनकी जिम्मेदारी है। इसलिए उनको हमारी अपेक्षा ज्यादा बातें मालूम हैं, ऐसा भी मानने को हम तैयार हैं और अपने माननीय नेताओं पर श्रद्धा रखना हम अपना कर्तव्य समझते हैं, विशेष करके जिस नेता के मन में शान्ति की प्यास है, वह भी जब यह कहता है कि शस्त्र-शक्ति की जरूरत है, तब उस बात में वजन है, यह मानने के लिए हम तैयार हैं। लेकिन यहां तो हम अपने उन भाइयों के साथ प्रकट चिन्तन कर रहे हैं, जो कि सर्वोदय-विचार को मानते हैं। यह प्रकट-चिन्तन हम इसलिए कर रहे हैं कि सर्वोदय-विचार को माननेवालों में भी शस्त्रास्त्र बढ़ाने की आवश्यकता है, ऐसा विचार रखनेवाले कुछ लोग आज हैं। उस दिन राजाजी ने बिल्कुल कठोरता से कह दिया कि अगर यहां कोई शस्त्र पाकिस्तान से डरता है तो उसका सर्वोदय-समाज में स्थान नहीं है। हमने अपने मन में सोचा कि यह तो सतहत्तर साल का बूढ़ा शस्त्र है। कहां से उसकी वाणी में यह शक्ति आई? यह शक्ति शरीर की नहीं है, आत्मा की है। उसी आत्मा के बल से हम निर्भय हो सकते हैं।

हम बार-बार कहते हैं कि रूस और अमरीका, दोनों एक दूसरे का खयाल न करें और एकपक्षीय निःशस्त्रता को स्वीकार करें, तब हमारी जिम्मेदारी स्पष्ट है। हम जानते हैं कि एकपक्षीय निःशस्त्रता का विचार हमारी सरकार ने नहीं पेश किया है। लेकिन यह विचार हम लोगों में चलता है। 'पर उपदेस कुशल बहु-तेरे'—बहुत-से लोग परोपदेश में कुशल होते हैं। अगर इस विचार का अमल हम स्वयं करते हैं तो उसका एक नैतिक असर दुनिया पर होगा। आज भी भारत की आवाज दुनिया में बुलन्द है। परंतु यह नजदीक का मसला जबतक हल नहीं होता है और उसके लिए हम निर्भय नहीं बनते हैं, तबतक उस आवाज में वह ताकत नहीं आयेगी, जिससे कि दुनिया और हमारा अपना देश हमेशा के लिए बच सके। भगवद्गीता में भगवान् ने कहा है कि "संतों की रक्षा के लिए मैं अवतार लेता हूं।" इसका अर्थ कुछ लोग यह करते हैं कि गीता कहती है कि सज्जनता की रक्षा के लिए, धर्म की रक्षा के लिए, शस्त्र उठाना चाहिए। हम कहते हैं कि हमारे सामने दो ही विकल्प हैं, दो ही रास्ते हैं—या तो हम दृष्ट हों, या हम साधु ह। अवतार तो हम हो नहीं सकते। इनमें से हमारी कौन-सी कोटि है, उसका हम

निर्णय करें। अगर हम साधु हैं तो साधुत्व ही हमारा रक्षण करेगा। यह इस भगवत्-वचन का वास्तविक अर्थ है। उसी साधुत्व को ईश्वर की विभूति कहते हैं। हमने तो लिख रखा है— 'सत्यमेव जयते।' हमने यह कहा लिख रखा है कि 'शस्त्र-शक्तिः विजयते?' हमने तो लिखा है, 'सत्यम् एव जयते' केवल सत्य की ही जय होती है। क्योंकि सत्य के बचाव के लिए सत्य के सिवा और किसी चीज की जरूरत नहीं। परन्तु यह सारी चर्चा व्यर्थ हो जाती है, इसलिए कि सामने-वाला कहता है कि आपकी सारी बातें हमको मान्य हैं। जिसको हमारी बातें मान्य नहीं हैं, उसके साथ चर्चा हो सकती है। लेकिन यह तो कहता है कि 'सारी' बातें मंजूर हैं। परन्तु आज की परिस्थिति में देश की रक्षा के वास्ते कुछ तो करना पड़ेगा। चित्त की यह जो दशा है, वह जबतक नहीं मिटती, तबतक दुनिया का निस्तार नहीं।

सर्वोदय-समाज को इस बात का निश्चय करना पड़ेगा। हम बार-बार कहते हैं कि जो अहिंसा में विश्वास रखते हैं, उनको लोक-नीति की स्थापना में ताकत लगानी चाहिए। याने राजनीति की समाप्ति करने की कोशिश में हमको लगना चाहिए। अभी तक तो बहुत प्रयत्न किये गए कि राजनीति को 'स्पिरिच्युलाइज' किया जाय। गोखले ने इस शब्द का प्रयोग किया, गांधीजी ने उस शब्द को उठा लिया। लोग समझते हैं कि गांधीजी ने ही प्रथम बार राजनीति को, राज-कारण को, पॉलिटिक्स को, 'स्पिरिच्युलाइज' करने की, नीतिमय बनाने की कोशिश की। गांधीजी ने यह कोशिश जरूर की, लेकिन उन्होंने इतिहास में पहली दफा यह कोशिश की, ऐसा नहीं है। यही कोशिश मुहम्मद पैगम्बर ने की। लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। 'राज' और 'नीति', ये दो शब्द एक-दूसरे को काटते हैं। 'नीति' को 'राज' शब्द काटता है और 'राज' को 'नीति' शब्द काटता है। नीति आती है, तो राज्य-व्यवस्था आप ही खंडित हो जाती है। राज्य-व्यवस्था आती है तो नीति खतम होती है। इसके आगे राज्य नहीं चाहिए, इसके आगे प्राज्य चाहिए। हम नहीं जानते, कितने दिन में यह हो सकेगा। परन्तु करने लायक कोई काम अगर हमारे लिए है, तो यही है। "मेरे तो मुख राम नाम, दूसरा न कोई"—मेरे मुंह से राम-नाम के सिवा और कुछ नहीं निकलेगा, ऐसा निश्चय सर्वोदय-समाज को करना चाहिए। लेकिन गांधीजी के बहुत-से साथी मनोग्रस्त हैं। वे समझे हुए हैं कि हर हालत में राज्य चलाने की जिम्मेदारी हमारी है ही। हम भी कबूल करते हैं कि अगर हमने स्वराज्य हासिल किया और राज्य चलाने की जिम्मेदारी नहीं उठाते तो स्वराज्य हासिल किया ही क्यों? हमने जरूर वह हासिल किया, लेकिन इसलिए कि वह सत्ता हम अपने हाथ में लें और उस सत्ता का विलयन करने का आरंभ, हाथ में लेने के दूसरे क्षण से ही कर दें। वह चीज हम चाहे साधें पचास साल में; लेकिन उसका आरंभ आज से ही करना चाहिए।

भाइयो, इस विचार की छान-बीन हम जितनी करें, थोड़ी ही है। कम्युनिस्ट लोग भी मानते हैं कि राज्य क्षीण होना चाहिए। पर वे मानते हैं कि आज की स्थिति में राज्य अधिक-से-अधिक मजबूत होना चाहिए। उसके आधार पर उसके प्रतिकूल जो शक्तियाँ हैं, उनके क्षीण होने पर राज्य के क्षय का आरंभ होगा। इसलिए कम्युनिज्म में राज्य-शक्ति मजबूत करना, यह है 'नकद' और राज्य-शक्ति का विलयन होना, यह है 'उधार'। वह उधार कब हासिल होगा, इसका कोई हिसाब नहीं। आज की हालत में मजबूत-से-मजबूत ताकत चाहिए, यही इसका निष्कर्ष है।

कौन जाने, कल क्या होगा ? गांधीवाले क्या कहते हैं ?—गांधीजी के नाम पर वे कहते हैं, इसलिए उन्हें गांधीवाले नाम से संबोधित किया—वे कहते हैं कि राज्यसत्ता हर हालत में किसी-न-किसी अंश में जरूर रहेगी—कम रहेगी, विभाजित रहेगी, पुण्यकारक रहेगी—लेकिन रहेगी जरूर, यह उनकी श्रद्धा है। बहुतों की यह श्रद्धा है, बहुत-से सज्जनों को श्रद्धा है कि आखिर में यह राज्य-सत्ता किसी-न-किसी रूप में कायम रहेगी। हमको लगता है कि यह गांधी-विचार नहीं है। परन्तु हम इस तरह बार-बार नहीं बोलते, याने गांधीजी के नाम से नहीं बोलते, क्योंकि गांधीजी के नाम से बोलना शुरू करेंगे तो उनकी जो पोथियाँ और वचन हैं, वे सारे हमको देखने पड़ेंगे और वाद-विवाद शुरू होगा। फिर भगवान् बुद्ध के शिष्यों का जो हाल हुआ, उससे बदतर हाल हमारा होगा। एक शिष्य ने कहा कि बुद्ध भगवान् ने यह बताया, दूसरे ने कहा वह बताया। चार ही दिशाएँ थीं, इसलिए उनके चार ही पक्ष हुए और उनकी भी आपस में लड़ाई चली ! हम समझते हैं कि हम अगर गांधीजी के नाम पर यह वाद-विवाद करेंगे तो हमारे चार नहीं, चालीस पक्ष बनेंगे।

यह भी कहा जाता है कि कश्मीर पर जब सेना भेजी गई तो गांधीजी के आशीर्वाद से भेजी गई थी। हम कहते हैं कि गांधीजी का ही नाम क्यों लेते हो ? गांधीजी ने जिसको सिर पर रखा, उस गीता का ही नाम लीजिये न ! गीता आज भी उपस्थित है। गीता का आधार दीजिये। वस, हो गया। लोग कहते हैं न, कि गीता में युद्ध के लिए संपूर्ण बचाव है। हम कितना भी क्यों न कहें, यह वाद अभी तक मिटा नहीं है। तो हम कबूल करते हैं कि गीता का आधार भी आपके पास है। फिर वही आधार क्यों नहीं लेते हो ? तब वे कहते हैं कि वह आधार हम इस लिए नहीं लेते कि गीता 'आउट ऑफ डेट' (बीते हुए जमाने की) है। तो हम कहना चाहते हैं कि गांधीजी ने जो सम्मति दी थी, वह भी 'आउट ऑफ डेट' है। उसको अब आठ साल हो गये। गांधीजी ने १९१८ में 'रिफ्रूट भरती' के लिए कितनी कोशिश की, यह हमने अपनी आँखों से देखा। धूम-धूम करके आखिर बीमार पड़ गये, परन्तु गुजरात में रिफ्रूट नहीं मिले। तब फिर उन्होंने जैन-धर्म

को, वल्लभ-संप्रदाय को दोष देना शुरू किया। कहने लगे कि इन लोगों ने बिल्कुल निर्वीर्य अहिंसा सिखाई है। यह सन् १९१८ की कहानी है।

१९३९ की दूसरी लड़ाई में उन्होंने क्या रुख अस्तिथार किया? “हम सरकार के साथ सहयोग नहीं कर सकते, युद्ध में हमें सहयोग नहीं देना चाहिए।” उनके अनुयायियों ने नहीं माना तो अनुयायी और गुरु महाराज अलग हो गये। अनुयायी तैयार हो गये थे, सरकार के साथ कुछ शर्तों पर सहयोग करने के लिए। जब सामनेवाली सरकार ने उन शर्तों को नहीं माना तो गुरु महाराज और शिष्य फिर एक हो गये। यह तो हमने अपनी आंखों के सामने देखा है। उस हालत में गांधीजी का नाम लेकर क्या करेंगे? (विनोद की भाषा में तो यही कहना होगा कि) वह शस्त्र बिल्कुल दगावाज था? एक शब्द पर कभी वह कायम नहीं रखता था। किसीको कोई भरोसा नहीं था कि आज गांधीजी ने ऐसा रुख लिया है तो कल क्या लेंगे! क्योंकि वह विकासशील मनुष्य थे, उन्हें खयाल हमेशा सत्य की खोज का होता था, न कि अपनी बात पर अड़े रहने का। उन्हें सत्य का नित्य नया दर्शन होता था, इसलिए वह पुरानी बात का आग्रह नहीं रखते थे। उन्होंने लिख रखा है कि उनके ग्रंथों को अध्ययन किस तरह करना चाहिए। उन्होंने लिखा “हमारे पुराने और नये, सब वचन एक ही अनुभूति में मे निकले हैं और उनमें वस्तुतः सुसंगति है। परन्तु अगर किसीको विसंगति दीख पड़ी तो पहले के वाक्य गलत समझो और बाद के सही समझो।” इस तरह से जो मनुष्य प्रतिक्षण जागरूक था और जिसमें परिस्थिति से लाभ उठाकर ऊंचे-ऊंचे चढ़ने की शक्ति थी, उस नित्य विकासशील साधक के शब्दों का आधार हम खोजते हैं।

हमारी जो कठिनाई वास्तव में है, उसको हम आपके सामने पेश कर रहे हैं। शस्त्र-त्याग के रास्ते में हमारी जो वास्तविक कठिनाई है, उसकी तरफ आपका ध्यान दिलाना है। मुश्किल यह है कि हमारे देश के अन्तर्गत व्यवहार में, हमारे आन्दोलनों में, प्रजा में, जो काम करते हैं, उनमें हम सौमनस्य स्थापित नहीं कर सके, अहिंसा स्थापित नहीं कर सके। यह हमारी बहुत बड़ी और असली कमजोरी है। हमने बार-बार कहा कि हमको पाकिस्तान का जरा भी डर नहीं है। लेकिन हम कबूल करना चाहते हैं कि हमारे दाहिने हाथ को बाएं हाथ का डर मालूम हो रहा है और बाएं को दाहिने का।

एक भाई ने कहा कि बाबा सबसे शस्त्र-त्याग की बात तो कहता है, लेकिन फिर भी सरकारी पक्ष के लिए थोड़ी-बहुत गुंजाइश रखता है। वह इसलिए गुंजाइश रखता है कि बाबा को अन्तर्गत बात मालूम है और हमने उसका थोड़ा इशारा अपने व्याख्यानो में किया है। हम लोगों में से, हिन्दुस्तान की प्रजा में से, हिंसा का विश्वास मिटा नहीं है। इसलिए हम कमजोर हैं। इसीलिए पूरी तरह से शस्त्र त्याग करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। अगर बाबा को यह विश्वास होता, आप

लोगों को यह विश्वास होता और ऐसी परिस्थिति स्पष्ट दिखाई देती कि हिन्दु-स्तान में सीमनस्य है और जब कोई भी सार्वजनिक कार्य किया जाता है, चाहे कोई आन्दोलन भी क्यों न किया जाता हो तो भी उसमें किसी प्रकार का क्षोभ नहीं निर्माण होता, तब बाबा निःसंदेह होकर कहता कि शस्त्र-त्याग करो। इसलिए हमको बार-बार इस बात का मंथन करना चाहिए कि हम देश में नई शक्ति कैसे उपस्थित करें, जो कल्याणकारी हो, जो समस्याएं हल करने में समर्थ हो और किसी तरह का क्षोभ न होने दे। समस्याओं को हल करनेवाली समस्या-मोचिनी क्षोभ-रहित शक्ति की आवश्यकता है और भूदान-यज्ञ में यह हमारी खोज हो रही है।

आप सब लोगों को इस खोज में लगना है। इसलिए हम एक बात बार-बार कहा करते हैं कि अपनी बुद्धि को किसी भी प्रकार की उपाधि से मत बांधो। मैं ब्राह्मण हूं, यह उपाधि गलत है, मैं फलानी भाषावाला हूं, फलाने धर्म का हूं, मेरा फलाना सम्प्रदाय है, मेरा फलाना राजनैतिक पक्ष है, यह उपाधि गलत है। ये सारी उपाधियां तोड़े बिना अहिंसा की शक्ति के विकास के लिए हमारी बुद्धि काम नहीं देगी। जैसे सूर्यनारायण आता है तो किसी प्रकार के भेद उसके सामने टिकते नहीं, सबकी समान रूप से वह सेवा करता है। सूर्यवत् उदासीन हुए बिना हम अहिंसा की खोज नहीं कर सकते। सबसे समान भाव से निर्लिप्त होना चाहिए। सबके अभिमुख हम हों। सबके सम्मुख हम हों। सबसे प्यार करें, लेकिन सब उपाधियों से अलग रहें। स्नेह-सम्बन्ध करना चाहिए, ऐसा लोग कहते हैं। मैं इसका यह उत्तर देता हूं कि स्नेह बढ़ना चाहिए, सम्बन्ध की जरूरत नहीं।

मुझे बड़ी खुशी हुई कि यही विचार आज हमने विल्कुल ऐसी ही भाषा में 'कुरल' में देखा। उसमें कहा है कि अगर मैत्री-भाव का विकास करना चाहते हो तो करो। मैत्री का विकास करना चाहते हैं तो 'पुनर्चि' की जरूरत नहीं है, 'उत्तर्चि' की जरूरत है। प्रेम-भावना होनी चाहिए। एक भाई ने हमसे पूछा कि प्रेम-भावना बढ़ाने के लिए क्या करना चाहिए? तो मैंने कहा कि अनासक्त होना चाहिए। चन्द लोगों के साथ, चन्द संस्थाओं के साथ, चन्द सम्प्रदायों के साथ, अगर हमारी आसक्ति जुड़ी होगी तो हम सबके साथ समान भावसे बरत नहीं सकेंगे। मान लीजिये, वतुल का घेरा है, जिसे परिधि कहते हैं। परिधि में अनेक बिन्दु हैं। उन बिन्दुओं में से मैं एक बिन्दु बनू तो परिधि में जितने बिन्दु हैं, उन सबसे समान दूरी पर मैं नहीं रह सकता। एक बिन्दु मेरे नजदीक है और दूसरा दूर है। अगर मैं चाहता हूं कि सब बिन्दुओं से समान फासले पर रहूं तो मुझे मध्य-बिन्दु बनना चाहिए, न कि परिधि का बिन्दु। इसीका नाम है निष्पक्ष-वृत्ति। हम पक्ष में पड़ करके, मत में पड़ करके, सम्प्रदाय में पड़ करके, उपाधि उठाकर किसी के नजदीक रहेंगे और किसीसे दूर रहेंगे। हम अहिंसा-शक्ति विकसित करना

चाहत हों तो हमें उपाधिरहित होना ही पड़ेगा ।

कुछ लोग कहते हैं कि तुम ये सारी बातें कहते तो हो, लेकिन अगर तुमको उठा करके ऊँच कुर्सी पर बिठा दिया जाय, राज्य चलाने के लिए तो तुम भी वैसा ही बोलोगे, जैसा वे बोलते हैं । मैं कहता हूँ कि मैं अपनी अवल के साथ उस कुर्सी पर बैठूँगा ही क्यों ? जिस तरह मेरी बुद्धि आज काम करती है, उस तरह जबतक वह काम करेगी, उस कुर्सी पर बैठने का मेरे लिए सवाल ही नहीं है । जब मेरी आज की बुद्धि बदल गई होगी, तब जैसा वे बोलते हैं, वैसा ही मैं भी बोलूँगा ।

असली सवाल यह है कि जनता को किस दिशा में हम ले जायें । लोगों की तरफ से कुछ दंगा होता है तो हमारा दिल व्याकुल हो उठता है । हमको बहुत तीव्र वेदना होती है । दूसरे लोग डरते हैं 'वर्ल्ड वार' से, जागतिक युद्ध से । हम तो 'जागतिक युद्ध' को कहते हैं कि "तू आ जा, जितनी जल्दी आना चाहे, आ जा, जितनी जल्दी आना चाहे, आ जा ।" मैं तो उसको बुलाता हूँ, उसे 'डिवाइन', 'देवी' कहता हूँ । जागतिक युद्ध मनुष्य नहीं लाता है । उसे परमेश्वर लाता है । परमेश्वर जब संहार चाहता है, तब वह जागतिक युद्ध लाता है । भगवान् कृष्ण का अवतार किसलिए हुआ था ? भू-भार अवतरण के लिए । भूमि को जो भार हुआ था, उसके अवतरण के लिए उसने कौरवों का संहार कराया, पांडवों का संहार कराया । उसके बाद भगवान् गांधारी से मिलने के लिए गये तो गांधारी ने कहा, "तूने ही यह सारा संहार कराया है ।" यों तो स्वभाव से वह साध्वी शान्त थी, लेकिन उस वक्त बहुत क्षुब्ध हो गई, क्योंकि उसके पुत्रों का संहार हो चुका था । बोली, "तू क्या समझता है, तूने कौरवों का संहार कराया, पांडवों का संहार कराया तो क्या तेरे यादव बच्चे रहेंगे ? उनका भी संहार जरूर होगा ।" भगवान् हँसे । इतना ही उसमें लिखा है, और कह दिया कि "तुम जो सोचती हो, वह जरूर होगा ।" इसलिए जब भगवान् संहार चाहता है, तब वह जागतिक युद्ध पैदा करता है । उसकी हमें जरा भी चिन्ता नहीं है । लेकिन बम्बई के दंगे, उत्कल की घटनाएँ, हृदय को बहुत दुःखी बनाती हैं । ये सारी चीजें आज हिन्दुस्तान में नहीं होतीं तो बाबा बिल्कुल छप्पर पर खड़ा होकर जाहिर करता कि हिन्दुस्तान का प्रथम कर्तव्य है कि वह शस्त्रों का परित्याग आज ही करे । हमारे शस्त्र-त्याग के मार्ग में पाकिस्तान बाधक नहीं है । यह जो '४२ के आन्दोलन में हमने एक मूर्खता सीख ली है और जिसका अभ्यास अब भी हम कर रहे हैं, वह हमारा मुख्य डर है ।

अपने समाज का, सर्वोदय-समाज का कर्तव्य है कि हम हिन्दुस्तान में सार्व-भौम प्रेम पैदा करें और सब प्रकार से निरुपाधिक वृत्ति लोगों में निर्माण करें । आज महादेवी ने मुझसे कहा कि यहां बहुत-से व्याख्यान हुए, लेकिन स्त्रियों के लिए कुछ नहीं कहा गया । यहां इतनी स्त्रियाँ आई हैं, इसलिए उनके लिए भी कुछ

कहिये। बार-बार यह विश्वास भी बतलाया जाता है कि पुरुषों से ज्यादा अहिंसा स्त्रियों के दिल में होती है। लेकिन हमारा विश्वास है कि अहिंसा का विकास न तो वे करेंगे, जो पुरुष हैं और न वे करेंगी, जो स्त्रियां हैं। लेकिन वे करेंगे, जो पुरुष और स्त्री, दोनों से भिन्न आत्मस्वरूप हैं।

जबतक हम शरीर का यह आवरण लिये हुए हैं और इसमें फंसे हुए हैं तबतक अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। आप कहेंगे कि आपने बहुत कठिन बात बताई। हम कहना चाहते हैं कि हमने कोई कठिन बात नहीं बताई, जो सत्य वस्तु है, वही कही है। हमारा विश्वास है कि एक बच्चे को भी देह-भिन्न आत्मा का भान कराया जा सकता है।

कुछ लोग हमसे पूछते हैं कि नई तालीम की व्याख्या करो। कई प्रकार की व्याख्याएं की जाती हैं। कहा जाता है कि उद्योग के जरिए जो तालीम दी जाती है, उसे नई तालीम कहते हैं। जिस तालीम के द्वारा शरीर और आत्मा के पृथक्करण की भावना बच्चों में पैदा होगी और 'मैं देह नहीं हूं, बल्कि देह से भिन्न आत्मा हूं', इस तरह का प्रत्यय बच्चों में पैदा होगा, वह सर्वोत्तम, श्रेष्ठ तालीम है। उसे चाहे नई तालीम कहिये, चाहे पुरानी।

इस साल हमने जो काम किये और उनसे हमारा जो उत्साह बढ़ा, उसके विषय में एक निवेदन करना है और वह यह है कि इस साल सूतांजलि कुछ ठीक हासिल हुई है। कोई छः लाख से ज्यादा गुण्डियां इकट्ठी हुई हैं। पांच साल से इसके लिए काम हो रहा है। इस साल नाम लेने लायक काम हुआ, लेकिन यह बहुत कम है। कम-से-कम सौ मनुष्यों के पीछे एक मनुष्य की एक गुण्डी के हिसाब से काम होता तो छत्तीस लाख गुण्डियां होतीं। यह बिल्कुल ही छोटी चीज है, लेकिन जितनी छोटी है, उतनी ही शक्तिशाली है। हरेक मनुष्य को इसमें शरीर-परिश्रम की, अहिंसा की, प्रेम की और त्याग की दीक्षा मिलती है। इतनी सारी विविध दीक्षाएं एक छोटी-सी गुण्डी से सिद्ध होती हैं। सर्वोदय के लिए कितने वोट हैं, इसका अन्दाजा हमको उससे लगता है। हम कहते हैं कि इस चीज को खूब बढ़ावा देना चाहिए।

एक दफा हमारे पास अपनी सरकार द्वारा प्रकाशित गांधीजी के चित्रों का बहुत बड़ा एलबम आया था। बड़े-बड़े सुन्दर चित्र उसमें थे। परन्तु जब हम सूत की गुण्डी देखते हैं तो उसमें गांधीजी का जितना अनूठा रूप दीख पड़ता है, उतना हमने और कहीं नहीं देखा है। इसलिए मेरा कहना है कि आप सब लोग यह काम करिये और केवल श्रम-दान पर यह आन्दोलन चल सकता है, यह सिद्ध करिये। श्रम-दान का सर्वोत्तम और सर्वसुलभ प्रकार यह सूतांजलि है।

**आठवां सर्वोदय-सम्मेलन**

**कांचीपुरम, २६ मई १९५६**

## ८ : : विज्ञान और आत्मज्ञान

किसी भी प्रकार का सम्मेलन करना हो तो उसमें दूसरे सारे प्रबन्धों के साथ-साथ खाने का भी प्रबन्ध करना पड़ता है, क्योंकि सर्वोदयवालों को भी अन्न की भूख लगती है। यही सब समाजवादी-सम्मेलन में भी करना पड़ता है और कम्युनिस्ट-सम्मेलन में भी। कोई भी सम्मेलन क्यों न हो, उसमें यह करना ही पड़ता है, क्योंकि ये सारे लोग भिन्न-भिन्न 'वादी' भले हो हों, फिर भी उनको अन्न की भूख समान रूप से लगती है। जैसे खाने की भूख सबको लगती है, वैसे ही इन दिनों विश्व-शान्ति की भूख सबको लगी है। यह एक विशेष शुभ-लक्षण है। विश्व-शान्ति की भूख जब लगती है तो उसके लिए साधन भी जुटाने पड़ेंगे। वे साधन भी लोग ढूँढ़ रहे हैं। आज आपने यहां हमारे कम्युनिस्ट भाई का व्याख्यान सुना। उन्होंने कहा कि "ग्रामदान के जरिये अगर यह भूमि का मसला प्रेम से हल किया गया तो सर्वोदय, साम्यवाद और समाजवाद में बहुत भेद न रहेगा।" इन दिनों इस प्रकार की अनुभूति बहुत लोगों की हो रही है। कुछ विश्व-शान्तिवाले भाई भी यहां सम्मेलन में आये हैं। आप लोग जानते हैं कि इन दिनों 'न्यूक्लियर-वेपन्स' (आणविक अस्त्रों) के परीक्षण हो रहे हैं। दुनिया को युद्ध होने पर जो हानि होगी, उसके अलावा इन परीक्षणों से भी बहुत हानि होनेवाली है। यह सारा अनर्थ है। यह हानिकारक काम नहीं करना चाहिए, ऐसी भावना इन विश्व-शान्तिवालों की है। आप जानते हैं कि ऐसी ही आवाज हमारे देश में श्री जवाहर-लाल नेहरू ने उठाई है। हमारे वृद्ध पुरुष श्री राजाजी ने भी उसके बारे में बहुत दफा कहा है। इसमें कोई शक नहीं कि यह बहुत ही अनर्थकारी कार्य हो रहा है। रूस का काम उधर पर्वतों में चलता ही है। अमरीका भी अपना कार्य करता ही है। अब इनके पीछे-पीछे जाने की कोशिश, थोड़ा आरम्भ, इंग्लैंड कर रहा है। इस तरह यह अनर्थ-परम्परा बढ़ रही है। हम भी यहां जाहिर करना चाहते हैं, यद्यपि हमारे लिए शब्दों से जाहिर करने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि हमारा विचार स्पष्ट ही है, फिर भी इसका हम अत्यन्त तीव्र निषेध करते हैं।

सब लोग जानते हैं कि हम तो इस कार्य में मग्न हैं, जो विश्व-शान्ति के लिए सर्वोत्तम, सरल और मुविधाजनक कार्य है। बहुत दफा हमने जाहिर किया है कि भूदान के लिए दिया जानेवाला एक-एक दान-पत्र विश्व-शान्ति के लिए एक-एक वोट है। विश्व-शान्ति की चाह उनको भी है, जो लोग इन अस्त्रों के परीक्षण में लगे हुए हैं। फिर भी यह काम चल रहा है, एक-दूसरे का भय दोनों को इस काम के लिए प्रेरित कर रहा है। सब जानते हैं कि इससे कोई लाभ नहीं, सब प्रकार की हानि है। फिर भी यह इसीलिए चल रहा है कि उन्हें विश्व की कई प्रकार की समस्याओं का हल निकालने का मार्ग सूझ नहीं रहा है। वे समझते हैं और अपने

वक्त्रों को भी समझाते हैं कि हम ये अणु-शस्त्र आदि केवल संरक्षण के लिए बना रहे हैं, ताकि दुनिया में हिंसा न हो सके। वह इसे 'डिटरण्ट' (प्रतिबन्धक) समझते हैं। कहते हैं कि यह चीज पड़ी है, इसी वास्ते लोग विश्वयुद्ध शुरू करने का साहस न करेंगे। इसलिए 'बाइबिल' पर उतना विश्वास नहीं रख सकते, जितना इन साधनों पर उन्होंने रख लिया है। इस तरह बुद्धि काम नहीं कर रही है तो हाथ काम कर रहे हैं। हमारा कहना है कि इसे रोकने की सामर्थ्य वैज्ञानिकों में है। इसकी शोध करने की जिम्मेदारी उन्हींकी है। वे केवल गुलाम बन जाते हैं, सरकारों की आज्ञा मानते हैं और जैसी आज्ञा की जाती है, वैसे ही अस्त्र बूढ़ने में अपनी बुद्धि लगाते हैं। हम इसे बुद्धि का अत्यन्त दुरुपयोग समझते हैं। बुद्धिमानों को इतनी बुद्धि होनी चाहिए कि वे समझें कि इस प्रकार के काम करना अनुचित है। उनमें अगर यह बुद्धि पैदा हो जाय, और यह कहने की हिम्मत तथा साहस आ जाय कि "आपकी आज्ञा के अनुसार हम शस्त्रास्त्रों की खोज न करेंगे" तो सारा मामला ही सुलभ जाय। परन्तु जब ज्ञानी की ज्ञान-बुद्धि ही ठिकाने पर न रहे, तब दुनिया को कौन बचायेगा ?

विज्ञान के पीछे भी आत्म-ज्ञान की शक्ति चाहिए। यह हम इसीलिए कहते हैं कि केवल विज्ञान की शक्ति विज्ञान पर अंकुश रखने की शक्ति नहीं दे रही है। अगर इतना थोड़ा-सा आत्म-ज्ञान वैज्ञानिकों को उपलब्ध हो जाय तो यह सारा मामला वहीं खतम हो जाय। महान वैज्ञानिक आइन्स्टाइन मरते समय कह गये कि "ये सारे आयुध खतरनाक हैं और इनका संग्रह नहीं होना चाहिए।" पर इन आयुधों का शायद एक प्रतिबन्धक उपाय के तौर पर उपयोग हो सकता है और उसमें दुनिया को कुछ लाभ हो सकता है। यह प्रेरणा उसी महावैज्ञानिक को प्रारम्भ में हुई थी और उसके अनुकूल उसने काम किया था। बहुत ही दुःखदायक घटना है यह ! विज्ञान-शक्ति कितनी अपूर्ण है, इसका इससे निदर्शन मिलता है। इसीलिए हमारे अनुभवी पुरुषों ने कहा था कि बिना आत्मज्ञान के पाप में से निस्तार हो ही नहीं सकता। हरेक को आत्मज्ञान हासिल नहीं हो सकता, लेकिन इतनी बुद्धि रहे कि देश का नेतृत्व किसी आत्मज्ञानी के हाथ में ही होना चाहिए। परन्तु इन दिनों देश का नेतृत्व इस ढंग से बनता है कि आत्मज्ञान का कोई पता नहीं चलता। कल काकासाहब से बात हो रही थी। वह कहते थे कि जैसे जुआ होता है, आजकल वैसे ही चुनाव चलते हैं। इसका मतलब यह होता है कि देश का नेतृत्व आज जिस ढंग से बनता है, उस ढंग में फर्क करना होगा। इन सब समस्याओं के बारे में जितना हम सोचते हैं उतना ही सर्वोदय-विचार पर आकर ठहर जाते हैं।

अभी अलबर्टस्वीटजर ने इन प्रयोगों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। उसका उत्तर एक दूसरे वैज्ञानिक ने दिया, "यह तो ठीक है कि आपका हृदय

सहानुभूतिपूर्ण है। नुकसान जरूर होता है इन प्रयोगों से, लेकिन इतना ज्यादा नहीं होता कि उससे हम डरें।” थोड़ा होता है कि ज्यादा होता है, इसके बारे में ‘वाद’ है। लेकिन नुकसान होता है, यह वाद का विषय नहीं है। आखिर नुकसान होता क्या है? होता यह है कि जनन-शास्त्र ही खंडित होता है। याने आगे जो प्रजा उत्पन्न होगी, उसकी शक्ति क्षीण होगी। अब इसे वे कम भयानक चीज मानें तो मोचने की बात है कि इससे अधिक भयानक चीज क्या हो सकती है? लेकिन खैर, थोड़ा ही भय है, ऐसा ही समझ लीजिये; फिर भी अगर ये सारे प्रयोग इकट्ठे होंगे तो भय का भी समूह बनेगा। ये प्रयोग तो चलते ही जायेंगे, क्योंकि सामनेवाला जितने प्रयोग करेगा, उससे ज्यादा हमें करने पड़ेंगे। इस तरह यह मामला बढ़ता ही जायगा। इसलिए इसका निषेध करना सब लोगों का कर्तव्य हो जाता है। हमारा भी कर्तव्य है। इसलिए हमने चन्द शब्दों में वह प्रकट किया।

पर जैसा कि मैंने कहा, मामला शब्दों से नहीं निपटता। विश्व-शान्ति के लिए और विश्व-समाधान के लिए हमें मार्ग ही स्थापित करना होगा। हमें बहुत ख़ुशी होती है कि हिन्दुस्तान में जबसे ग्रामदान का विचार निकला है, तबसे राजनैतिक विचार करनेवालों को विचार में कुछ राहत मिल गई है। हम इसे बहुत ही बड़ी घटना समझते हैं। ग्रामदान जितनी बड़ी घटना है, वह विचार जितना बड़ा है, उसमें भी बड़ी घटना यह है कि सबको वह विचार जंच रहा है। सद्विचार अपने में जितने महत्व का होता है, शायद उससे कहीं ज्यादा महत्व उसका बढ़ जाता है, जब वह सर्वसम्मत होता है। तो यह ग्रामदान का विचार सद्विचार होते हुए भी सर्वसम्मत विचार हो गया है। इस हालत में अगर हम सब लोग अपने अनेक मतभेदों को जरा वाजू में रखकर इसीके चिन्तन में ला जायें तो विश्व-शान्ति की राह खुल जायगी, इसमें हमें कोई शक नहीं।

हम जब केरल में प्रवेश करनेवाले थे, उसके पहले तामिलनाडु में कार्यकर्ताओं में भी कभी-कभी चर्चा चलती थी। कुछ लोग शंका उपस्थित करते थे कि “बाबा वहां जायगा तो उसे वहां की सरकार की तरफ से सहयोग तो क्या मिलेगा, बल्कि कुछ विरोध ही होगा।” कुछ लोग यह भी कहते थे कि “सम्भव है कि बाबा को वहां समूचे केरल का ही दान मिल जाय।” मैंने कहा, “मैं दूसरा ही सम्भव मानता हूं। केरल में ‘केरल-दान’ ही मिलना चाहिए। उसके बिना, कम्युनिस्टों को जो मौका मिला है, वह उन्होंने खोया, ऐसा होगा।”

कुछ लोगों का खयाल है कि कम्युनिस्ट ध्वंसवादी हैं। उनके और हमारे विचारों में कई जगह मतभेद हैं और उम खयाल से उनपर हमने कई जगह टीका की है। पर कम्युनिज्म स्वयं विध्वंसवादी है, ऐसा हम तो समझे नहीं हैं। स्वयं अपने-आपमें कम्युनिज्म एक चिन्तनीय वस्तु है। एक बहुत बड़ी बात कम्युनिज्म

में है, जो उसके पहले विचारकों में नहीं थी। मैं उसका यहां विश्लेषण या विवेचन नहीं करूंगा। कम्युनिज्म पर टीका करनेवाली एक छोटी-सी वृत्ति मैंने लिखी है। उसमें मार्क्स का उल्लेख करते हुए मैंने 'महामुनि मार्क्स' लिखा है। खूबी यह है कि 'महामुनि मार्क्स' के ग्रंथ पढ़कर असंख्य लोगों का हृदय-परिवर्तन हुआ और वे कम्युनिस्ट लोग हृदय-परिवर्तन में विश्वास नहीं करते। बस, यहीं हमारा और उनका मतभेद शुरू होता है। हम कहते हैं कि भाई, आप स्वयं ही हृदय-परिवर्तन की मिसाल हैं और फिर कहते हैं कि हृदय-परिवर्तन होता नहीं है। हम कहते हैं कि कम्युनिज्म स्वयं एक बहुत अच्छी चीज है।

अब उसके साधन। इसमें किसी भी कम्युनिस्ट को शंका नहीं है कि मानव का हृदय शुद्ध है। यानी बुद्धिपूर्वक कोई कम्युनिस्ट इस सिद्धान्त का विरोध नहीं कर सकता। मोहपूर्वक इसका विरोध कर सकता है और करता भी है, लेकिन कम्युनिस्ट-विचार के अनुसार विरोध नहीं कर सकता; क्योंकि वह मानता है कि एक विशिष्ट घटना होने के बाद स्टेट खतम हो जायगी। जो शब्द, स्टेट कही-न-कहीं जाकर खतम होगी, यह मानता है, उसका मानव-हृदय पर निःसंशय ही विश्वास है, यह मानना ही पड़ेगा। लेकिन वह तो मानता है कि एक अवस्था के बाद समाज ऐसा बनेगा कि उसके आगे स्टेट की जरूरत न रहेगी। यह उनका सोचने का ढंग है। जो कम्युनिस्ट नहीं हैं, ऐसे कुछ लोग कहते हैं कि पहले सत्य-युग था, जबकि शासन की जरूरत नहीं थी और शासन था नहीं, लेकिन आगे आयेगा, उस वक्त शासन की जरूरत नहीं रहेगी। भूतकाल में सत्ययुग था, ऐसा माननेवाले 'पुराणमतवादी' लोग हैं और भविष्य में सत्ययुग आयेगा, ऐसा कहनेवाले कम्युनिस्ट लोग हैं। वे पुराणमतवादी और ये कम्युनिस्ट दोनों सत्ययुगवादी हैं। ये जो सत्ययुग बीत गया, उसकी कल्पना किया करते हैं और वे जो सत्ययुग आगे होगा, उसकी कल्पना किया करते हैं। हम क्या कहते हैं? भूत और भविष्य दोनों हमारे हाथ में नहीं हैं। वर्तमान हमारे हाथ में है। हम वर्तमान में ही सत्ययुग की कोशिश करेंगे। बस, इतना ही मतभेद है। पुराणकार भूत-सत्ययुगवादी, कम्युनिस्ट भविष्य-सत्ययुगवादी और सर्वोदय वर्तमान सत्ययुगकारी। यह 'वादी' नहीं, 'कारी' है और यह भूत-भविष्यवाला नहीं, वर्तमानवाला है।

अतः हमारे लिए दोनों का विरोध हो सकता है और दोनों की सहानुभूति भी। और होती भी है। कभी कोई जनसंघवादी हमें मिलते हैं। उनका पुराण पर विश्वास होता है। वे कहते हैं कि "तू क्या अहिंसा की बात बोलता है? अरे, यह कलियुग है, कलियुग में तेरी अहिंसा चलेगी? अहिंसा तो सत्ययुग की बात है, पुरानी बात है। आज यह तुम्हारी बात नहीं चलेगी, बेकार है।" इस तरह वह विरोध करता है। कम्युनिस्ट भी हमारा कभी-कभी विरोध करता है। कहता है,

“कैसे ‘कल्पनावामी’ बन गये हो ! आज अहिंसा से कोई काम होगा ? आज जरूरत पड़े तो हिंसा करने के लिए तैयार रहना पड़ेगा । आखिर में अहिंसा जरूर आयेगी । उस आखिर की अहिंसा के लिए आज हिंसा करने की हिम्मत रखनी चाहिए । अगर आज अहिंसा की बात करोगे तो आज तो अहिंसा आयेगी ही नहीं, और वह जो आखिर में आनेवाली अहिंसा है, वह भी टल जायेगी । परन्तु आज अगर आवश्यक हिंसा के लिए मन में तैयारी और भविष्य में अहिंसा की आशा रखते, हो तो सम्भव है, उस अन्तिम अहिंसा को हम ला सकें ।” ऐसा कुछ विचार-भेद है ।

परन्तु सत्ययुग क्या है, उसकी व्याख्या में मतभेद नहीं है । आदर्श समाज क्या होगा, इसमें कोई खास मतभेद हमने कभी देखा नहीं है । बारीक-बारीक भेदों की बात मैं नहीं करता । सर्वमाधारण भेद की बात करता हूँ । पुराणकारों का जो चित्र है, वही चित्र इन कम्युनिस्टों का होता है । जिस प्रकार उनके स्वर्ग का वर्णन होता है, उसी प्रकार का इनके आदर्श समाज का । हम पुराणकारों से पूछते हैं कि “तुम्हारा स्वर्ग तो बड़ा आकर्षक है, बड़ा लोभ होता है हमें, परन्तु वहां जाने के लिए सीढ़ी तो बताओ ।” तो बोलते हैं, “सीढ़ी है ।” “कौन-सी सीढ़ी है, रे भाई ?” बोलते हैं, “मरना पड़ेगा । मरने के बाद स्वर्ग मिलेगा । अत्यन्त आकर्षक होने हुए भी मरने के बाद आयेगा ।” इसमें हमारा विश्वास नहीं बैठता । अब इससे पूछते हैं कि “तुम्हारा स्वर्ग हमें बड़ा अच्छा लगता है, लेकिन कौन-सी सीढ़ी है वहां पहुंचने की ?” तो कहता है कि “आज हमें परिपूर्ण हिंसा की तैयारी रखनी चाहिए । मारने के लिए तैयार रहना पड़ेगा ।” वह मरने के बाद स्वर्ग बतलाता है और यह मारने के बाद, इस तरह हमारे लिए दोनों ओर से मुश्किल मामला हो जाता है ।

अब हमारे बारे में उन्हें क्या मुश्किल होती है ? वे कहते हैं कि “तुम तो बहुत ही अच्छा उपदेश करते हो । लेकिन यह बताओ कि क्या तुम्हीं अच्छा उपदेश करने के लिए दुनिया में आज पहले-पहल पैदा हुए ? सैकड़ों सन्त-पुरुष हो गये, उनके ग्रंथ पढ़-पढ़कर रटते हो और वही जहाँ जहाँ बुद्ध, क्राइस्ट और दूसरे सारे बेकार साबित हुए, वहाँ अब तुम कारगर साबित होनेवाले हो ? बाइबिल में अहिंसा की तालीम क्या कम है ? हमने पढ़ा कि दुनिया की एक हजार भाषाओं में बाइबिल का तर्जुमा हो गया है और नई कोई छियालीस भाषाओं में तर्जुमा हो रहा है । अब इतनी भाषाओं में तो बाइबिल पहुंच गई । और ख्रिस्ती सिपाही जब मरते हैं तो सम्भव है उनके सामने बाइबिल रहती होगी । इतना बाइबिल का प्रचार है । इसपर भी ईसाई लोग हिंसा कर ही रहे हैं । भगवान् का नाम लेते हैं, इतवार के रोज बाइबिल पढ़ते हैं और बाकी छः रोज दोनों को भूल जाते हैं । अब इस हालत में तुम्हारा उपदेश क्या पराक्रम करेगा ? इसलिए हमें उपदेश की जरूरत नहीं । क्या तुम अपने उपदेश से कोई परिवर्तन ला सकते

हो ? अगर ला सकते हो तो लाकर दिखाओ । हमारा विश्वास नहीं है कि तुम परिवर्तन ला सकोगे ।” सारांश, उनकी हमारे साथ मुश्किल यह है कि उनकी राय में हमारा विचार बहुत अच्छा है, लेकिन आज उसका अमल होने की स्थिति नहीं है । हमारे बारे में यही उनकी दृष्टि है । अब इस हालत में हमें क्या करना होगा ? उनके साथ वाद-विवाद कर क्या लाभ मिलेगा ? हम सबको यह निश्चय करना होगा कि अगर इन विचारों में दुनिया का काम बनाने की कोई ताकत है तो वह कोई ताकत प्रकट करे ।

पोचमपल्ली में बिना किसी अपेक्षा के जब भूदान की घटना बन गई तब रात को लेटे-लेटे हमारा खूब चिन्तन चला कि यह क्या घटना हुई ? क्या इसमें कोई ईश्वर का इशारा है ? ऐसा हम सोचने लगे । हमने कई बार कहा है कि ईश्वर के साथ-साथ दूसरा हमारी श्रद्धा का विषय गणित है । तो हमने मन में जरा गणित भी किया—कम-से-कम पांच करोड़ एकड़ जमीन हासिल करनी होगी, तब भूदान से कुछ काम बनेगा । हमारी देह के अन्दर से शका और भय पैदा होने लगा । यह मानना असम्भव हो गया कि आज एकसौ एकड़ जमीन प्राप्त हो गई, इस वास्ते यह कोई तरीका है और इसी तरीके से पांच करोड़ एकड़ जमीन हासिल हो सकेगी । जब हमारा यह तर्क कुंठित होने लगा तो हमारे सामने कम्युनिस्टों का दर्शन हुआ । उनका कुछ काम यहां चलता था । मैं सोचने लगा कि अगर इस बात पर विश्वास नहीं बैठता कि “प्रेम और दान के तरीके से करोड़ों एकड़ जमीन हासिल होगी और मसला हल होगा” तो मुझे कम्युनिज्म पर विश्वास रखना चाहिए । तीसरी कोई बात हमारे मन में कभी आई ही नहीं । अगर यह अहिंसा का, सर्वोदय का विचार बेकार है, तो मानना ही पड़ेगा कि कम्युनिज्म के सिवा छुटकारा नहीं । इतने हम एक-दूसरे के अत्यन्त नजदीक होते हैं । तो, कम्युनिज्म हिंसा को मान्य करता है, पर वह कर्षणाप्रेरित है, यह समझना चाहिए । एक बड़ी विचित्र वस्तु दीख पड़ती है—प्रेरणा कर्षणा की, और हिंसा पर श्रद्धा । परन्तु यह कोई आज की विसंगति नहीं, यह विसंगति तो बिल्कुल अनादिकाल से ही चली आई है । हमने ‘गीता-प्रवचन’ में लिख रखा है कि एक जमाने का संहार-कर्त्ता कारुण्य-मूर्ति परशुराम ! स्पष्ट ही विरोध है । हाथ में परशु है और कारुण्य-मूर्ति है ! तो उसके जमाने से आज तक यह विसंगति चली आई है । हमें यह विसंगति तोड़नी है और शांति की शक्ति तथा प्रेम की शक्ति को सिद्ध करना है ।

आज होता क्या है ? ‘शान्तिः-शान्तिः-शान्तिः’ हम तीन दफा बोलते हैं । लेकिन इस तरह जप करनेवाले ‘स्टेटस् को’ (स्थितिवादी) होते हैं । याने ये शान्ति चाहनेवाले समाज में परिवर्तन होने में डरते हैं । इससे उलटे समुदाय में बिल-कुल क्रान्ति चाहनेवाले उद्विग्न लोग अहिंसा की कैद मानना नहीं चाहते । वे न तो

‘हिंसावादी’ होते हैं और न ‘अहिंसावादी’, वरन् वे होते हैं कारुण्यवादी। ये कारुण्यवादी ही हिंसा के लिए प्रवृत्त हो सकते हैं। अवश्य ही यह विसंगति है; लेकिन वह कहते हैं, “जीवन कोई लाजिक (तर्कशास्त्र) है? वह तो विसंगति से भरा है। किसका जीवन विल्कुल सुसंगत चल सकता है? इसलिए एक दफा यह विसंगति कबूल कर ऐसी समाज-रचना कर डालो, बाद में शासन-वासन कुछ न रहेगा। तब जो अहिंसा शुरू होगी, वह अनन्तकाल तक चलेगी। हिंसा अनादि है, अतिप्राचीन काल से चल रही है। लेकिन हमें उसका अन्त करना है और हम करेगे!” इस तरह वह हिंसा को ‘अनादि-मान्त’ मानते हैं। ‘सान्त’ याने ‘अन्त-वान्’। इसी तरह वह यह भी मानते हैं कि एक अच्छा समाज बनाने के बाद जब एक बार हम अहिंसा शुरू कर देंगे तो वह अनन्तकाल तक चलेगी। यानी अहिंसा को यह ‘सादि-अनन्त’ मानते हैं। एक अनादि-सांत और दूसरी सादि-अनन्त! अब हम इस बीच के काल में हैं। वे कहते हैं कि “अरे, जरा जोर लगाओ। मन में अहिंसा का विश्वास तो रखो, लेकिन हाथ से थोड़े हथियार भी उठाओ। तुम्हें कृष्णा नहीं आती? बेचारे दरिद्र भीसे जा रहे हैं। इस हालत में उनकी तरफ से कुछ हिंसा करनी पड़ी तो तैयार हो जाओ न! अगर तैयार नहीं होते तो निष्क्रिय बन जाते हो।” यह उनका आक्षेप चितन करने योग्य है।

सारांश, शान्तिवादी स्थिति-स्थापक बन गये और क्रान्तिवादी हिंसा के लिए तैयार हो गये। अब हम क्या करना चाहते हैं? हम क्रान्तिवादी रहते हुए शान्ति से काम करनेवाले बनना चाहते हैं। हमपर जिम्मेदारी है कि हम दिखा दें कि शान्ति से इस दुनिया का महत्त्व का मसला हल हो सकता है। यहां जो जमात इकट्ठी हुई है, उसकी जिम्मेदारी क्या है, यह मैं समझा रहा हूँ। हमें छः साल में यह दर्शन हुआ है कि हमारा जो कुछ अल्प-सा प्रयत्न हुआ, उसपर से उनको भी शका आने लगी है कि शायद शान्ति से क्रान्ति हो सकेगी। जिनके मन में यह निश्चय था कि शान्ति से क्रान्ति हो ही नहीं सकेगी, उनको भी शंका आने लगी है कि शायद शान्ति से क्रान्ति हो जाय। हम समझते हैं कि छः साल के प्रयत्न से यदि इतना यश मिला तो हमारी अपेक्षा से वह यश बहुत ज्यादा है।

आज जयप्रकाशजी ने भी कहा कि “इस आन्दोलन में हम कहां-से-कहां चले गये, यह जब सोचते हैं तो आश्चर्य होता है कि इतनी छोटी अवधि में हम इतना परिवर्तन कैसे ला सके?” उन्होंने एक असन्तोष भी प्रकट करते हुए कहा कि “हम आशा करते थे कि इस सम्मेलन में सर्व-सेवा-संघ का जो प्रस्ताव रखा गया, उसकी वजाय राष्ट्रीय संकल्प, यानी सर्व-देश का राष्ट्रीय संकल्प हम यहां उपस्थित करते।” उनकी अपेक्षा थी कि यहां एक राष्ट्रीय संकल्प घोषित होता। वह न हो सका और सर्व-सेवा-संघ का ही प्रस्ताव रखना पड़ा। अब इसमें जरा सोचने की बात है। राष्ट्रीय संकल्प किसे करना है? थोड़ा सूक्ष्म विचार करें। सम्पूर्ण समाज

के जीवन में परिवर्तन करनेवाले जो विचार होते हैं, उनका उद्गम-स्थान किसी एक व्यक्ति का दिमाग होता है। क्राइस्ट ने क्रिश्चियनिटी का विचार दुनिया के सामने रखा। मुहम्मद के दिमाग में इस्लाम का विचार अवतरित हुआ। जिस प्रकार ऊँचे शिखर बादल से पानी पहले खींच लेते हैं, फिर वह भूमि पर गिरता है, उसी प्रकार कोई व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो नये विचार को खींच लेते हैं। उनका वह विचार उनके ध्यान से दृढ़ होता है। परिणामस्वरूप वह विश्व-संकल्प बनता है। तब वह राष्ट्रीय संकल्प नहीं रह जाता। हम कहना चाहते हैं कि आज जो प्रस्ताव आपके सामने रखा गया, वह 'सर्व-सेवा-संघ' ने जरूर रखा, परन्तु वास्तव में वह विश्व-संकल्प है, क्योंकि उसमें लोगों के सामने एक परिशुद्ध विचार रखा गया है। वह परिशुद्ध, निरुपाधिक विचार है। ऐसी अवस्था में जब परिशुद्ध विचार लोगों के सामने रखा तो वह विश्व-संकल्प का रूप ले लेता है। इसलिए यह समझने की जरूरत है कि अगर राष्ट्रीय संकल्प नहीं हो सका तो भी यह विश्व-संकल्प हो गया है। जो जमात किसी प्रकार के राजनैतिक चिन्तन के लिए बंधी नहीं है, परिशुद्ध और निरुपाधिक चिन्तन करने के लिए जो मुक्त है, ऐसी मुक्त संस्था समाज के सामने जो परिशुद्ध विचार रखती है, वह विश्व-संकल्प हो जाता है। इसलिए यह समझने की जरूरत है कि इस सभा में राष्ट्रीय संकल्प नहीं हो सका तो भी कुछ कम प्राप्ति नहीं हुई। जिस विचार की परिशुद्ध और निरुपाधिक चिन्तन करनेवालों को स्फूर्ति हुई और जिसका विरोध करने की जरूरत राजनैतिक पक्षों को नहीं हुई, वह विश्व-संकल्प ही है। उस संकल्प को आकार देने के लिए चन्द लोगों को संकल्प करना होगा। फिर एक समाज को संकल्प करना पड़ेगा। तब राष्ट्र को संकल्प करना पड़ेगा। उसके बाद अन्तर्राष्ट्र का संकल्प होगा। इस तरह स्थूल संकल्प की व्याप्ति बढ़ती जाती है। परन्तु मुख्य समझने की बात यह है कि हरेक परिशुद्ध संकल्प वास्तव में विश्व-संकल्प ही होता है।

परन्तु दूसरी जो बात उन्होंने कही, वह बहुत महत्त्व की है। इस अवधि में कुछ काम हम पूरा करना चाहते थे, वह नहीं कर पाये—यह हमारी शक्ति की न्यूनता है। मैं बहुत दिनों से अपने साथियों से कहता आया हूँ कि विचार हमारा परिशुद्ध है, यही हमारा बल है। इसलिए जिनकी उस विचार में श्रद्धा है, उन लोगों को अपना तन-मन प्राण इसमें लगाना चाहिए। आज रिवाज है, 'तन-मन-धन' कहने का। लेकिन यह जो 'धन' है, वह बिल्कुल 'निधन' है। इसलिए मैंने 'तन-मन-प्राण' कहा। होता क्या है कि हम लोगों में से कुछ रचनात्मक काम में पड़े हैं, उन्हें उस काम की आसक्ति है। कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें गृहासक्ति है। ऐसी आसक्तियाँ पड़ी हैं, जिनके कारण हम अपना चितन सर्वस्व इसमें नहीं लगा सके।

हमने अपने अनुभव से देखा है कि कोई भी देवता एकाग्र उपासना के बिना प्रसन्न नहीं होता। छोटी-सी बात है। हमें आरोग्य बढ़ाने की जरूरत हुई। उन

दिनों मेरा वजन केवल ६० पौंड था। वजन बढ़ाने का निश्चय हुआ। मन में यह हुआ कि सब काम छोड़ आरोग्य की उपासना करनी चाहिए। उन दिनों आरोग्य के लिए मैंने कम-से-कम बारह महीने दिये। इतने महीनों में मैंने अपने अन्तर में भी कोई विचार नहीं आने दिया। बिल्कुल शून्य मन जिसे कहते हैं, वैसा बन गया। बहुत रोचक और रोमांचकारी अनुभव हुआ वह ! ४० पौंड वजन बढ़ा। बीच में एक महीना आया, जबकि हम चिन्तन न कर सके। उसमें मुझे नई तालीम के लिए काम करना था। उस एक महीने में मेरा वजन नहीं बढ़ा। आहार आदि वही था। परन्तु दिमाग में तालीम का चिन्तन चलता था। नायकमजी से पहले बात हां चुकी थी। इसलिए मैंने वह काम किया। तो, दो देवताओं की उपासना शुरू हुई—तालीम-देवता और आरोग्य-देवता। एकाग्रता सध न सकी। यानी कुल ११ महीनों तक ठीक वजन बढ़ता गया और एक महीने में कुछ नहीं बढ़ा। मैं जानता था कि इसमें वजन घटेगा। आरोग्य के समान एक सामान्य देवता भी मत्सर-युक्त है। जब वह दूसरे देवता की उपासना सहन नहीं करता तो भू-दान-यज्ञ जैसा बड़ा देवता क्या अपने उपासक में एकाग्रता का अभाव सहन करेगा ? परन्तु ग्राम-दान-विचार के रहते हुए वह भी संतुष्ट हो रहा है; यह जो प्राप्ति है, वह बहुत बड़ी प्राप्ति है। इतना हो जाने के बाद हमारा और आपका काम आसान भी होता है और कठिन भी। आसान इसलिए होता है कि हमारा इसमें उपयोग होता है और नारायण की शक्ति लगेगी। कठिन इसलिए होता है कि इसमें हमारी गुण-परीक्षा होती है।

आज मैं बम्बईवालों के सामने बात कर रहा था। कोई ऐसा शब्द हमारे मुंह से निकल गया, जो एक भाई को चुभा। उसने हमें दुःख के साथ एक लम्बा पत्र लिखा। उसको भास हुआ कि हमने गलती की। खैर, मैं तो उनके साथ बात करके उनका समाधान कर दूंगा। फिर भी यहां हम उनसे इसकी क्षमा मांग लेना चाहते हैं। यद्यपि क्षमा मांगने जैसी कोई हमारी गलती हुई हो, ऐसा हमें नहीं लगता। वे भाई हमें समझा देंगे। फिर भी हम क्षमा इसलिए मांग लेते हैं कि हमारे मुंह से कोई ऐसा शब्द निकल गया, जिससे उन्हें दुःख हुआ। इसमें हमारी गुण-परीक्षा हुई। हमारी वाणी से कोई ऐसा शब्द नहीं निकलना चाहिए, जिससे प्राप्त सहानुभूति में कोई कमी हो। आपके लिए सहानुभूति का पात्र भरा हुआ है और वह भरा हुआ पात्र लेकर आपको चलना है। अगर चलने में आप चंचलता रखेंगे तो वह नीचे गिरेगा और वह पूरा भरा हुआ पात्र खाली हो जायगा। जब वह खाली था, पानी ऊपर तक भरा हुआ नहीं था, तबतक आप मजे में चाहे जहां आ-जा सकते थे। उसमें क्या नुकसान होता ? वह खाली ही था। भीतर थोड़ा-सा पानी था, जो अन्दर ही रह जाता। पर जब भरा हुआ पात्र हम लेकर चलते हैं तो बड़ी सावधानी से चलना पड़ता है। आप विश्वास रखकर यहां से जाइये कि अगर हम

सावधानी से चलेंगे तो यह जिम्मेदारी उठा सकेंगे। अब उस पात्र में और अधिक सहानुभूति भरने की गुंजाइश नहीं है। वह पूरा भरा हुआ है। हो सके तो अब कम ही हो सकेगा। कम न हो, इसकी सावधानी हमें रखनी होगी और बड़ी कुशलता से इसे ले चलना होगा। अगर वैसा हम करते हैं तो ईश्वर के नजदीक पहुंचते हैं। आखिर यह सब काम क्या हम करनेवाले हैं? समूह की इच्छाशक्ति प्रकट करने का काम हमारा है। गणपति की कृपा हासिल हो गई तो आगे का काम गणपति कर लेगा। कार्यारम्भ हो गया है। काम की शुरुआत में पहले गणपति की कृपा प्राप्त करनी पड़ती है। 'कार्यारम्भे गजाननः।' छः साल तक हमने कितनी जमीन हासिल की, आदि बातें छोड़ दीजिये। जो कुछ काम किया, उस सबको यही समझ लीजिये कि हमने गणपति की कृपा हासिल की। अब हमारा कार्य निर्विघ्न हो गया। अब इसमें अगर विघ्न होगा तो उसे हम ही करनेवाले हैं। अब दूसरों की तरफ से विघ्न उपस्थित न होगा। यही हमने केरल में देखा। यहां हमें सबसे सहानुभूति मिली। उसका हम पर बहुत असर हुआ। जमीन की मालिकियत मिटाने की बात इतनी आसान नहीं कि धर्म-संस्था उसे मान ले। लेकिन यहां की जो क्रिस्ती संस्था है, उसने भी इस विचार को मान्य किया वह धर्म-संस्था और कम्युनिस्ट, ये दो सिरे हैं। दोनों की सहानुभूति हासिल हुई। अब बाकी के सारे तो इस चिमटे में आ गये, यह अनुभव हमें केरल में हुआ। आप लोगों से प्रार्थना है कि आप लोग इस विश्वास से यहां से जाइये कि हम बिल्कुल शिखर के करीब पहुंचे हैं। मंजिल काफी तय हो चुकी है। लेकिन आखिरवाला शिखर कुछ लंबा होता है। चढ़ाई भी सीधी होती है, इसलिए चलना हमें मुश्किल हो जाता है। अतः ऐसी कोशिश करनी चाहिए कि हम सब तरह से सावधान होकर चलें।

ये लोग हमें गणित सिखाते हैं। हमें बड़ा आश्चर्य होता है और आनन्द भी। आश्चर्य यह होता है कि हम रोजमर्रा गणित करते हैं, फिर भी ये हमें गणित सीखते हैं। गणित तो उसे सिखाना पड़ता है, जो गणित जानता नहीं। पर ये हमें सिखाते हैं, जो कि निरन्तर गणित करता रहता है। आनन्द इसलिए होता है कि जिस गणित पर हमारी बहुत श्रद्धा है, उसपर इनकी श्रद्धा भी बैठ रही है। ये गणित यह सिखाते हैं कि छः साल में ४० लाख एकड़ जमीन मिली तो पांच करोड़ के लिए कितने साल लगे? अब गणित में श्रद्धा रखते हुए भी हमें कबूल करना होगा कि हमारी अक्ल इसमें नहीं चलती। क्रान्ति का काम सिर्फ हिसाब से नहीं, बेहिसाब काम भी होता है। काम जब होगा, तब दो दिनों में नहीं, एक ही दिन में होगा। वह एक दिन पार करने का दिन है। वेद ने कहा है कि वह पार करने का दिन है। उसे काटना है। उसके लिए हमें कोशिश करनी चाहिए।

इसके लिए हमें दो-चार बातें करनी होंगी। हम लोगों में आपस में परिपूर्ण स्नेहभाव होना चाहिए, यह हम बार-बार कहते हैं। इसलिए नहीं कि हम अपने

लोगों को स्नेह-शून्य पा रहे हैं। यह कार्य इतना पवित्र है कि इससे स्नेह तो बढ़ेगा ही, परन्तु हम सारे कार्यकर्ता परिपूर्ण नहीं हैं। अनन्त गुण-दोषों से भरे हैं। उस हालत में हम एक-दूसरे के गुण-दोष पर ध्यान देगे तो शक्ति न बढ़ेगी। परन्तु वैभव और संपत्ति के लिए वैराग्य के साथ यह हमें बहुत ध्यान में रखना चाहिए कि आपस में अनुराग होना चाहिए। दूसरे भी कई समाज हमने देखे हैं, जहां अनुराग की कमी पाई। परिणामस्वरूप अनुराग का महत्त्व हमारे मन में और भी दृढ़ हो गया। इसलिए आप जिसे 'स्नेह' कहते हैं, 'भक्ति' कह सकते हैं, वह परस्पर के लिए होनी चाहिए।

दूसरी बात यह है कि हमारे काम में सातत्य रहना चाहिए। सातत्य के अभाव में समुदाय की शक्ति निर्माण नहीं होती। मान लीजिये कि बाबा पैदल-यात्रा का जो हठ लेकर बैठा है, वह न बँठता तो क्या होता। महत्त्व के काम के लिए उसे कई बार बुलावा आता है। कई मर्यादाएं जीवन में होती हैं। हमने पंच-वार्षिक योजना पर कही टीका की थी। पंडितजी का तार आया कि जल्दी-से-जल्दी आइये, इतमीनान से बातें करेंगे। मैंने उन्हें लिखा कि आपकी आज्ञा से शीघ्र ही निकल रहा हूँ, लेकिन पैदल निकल रहा हूँ। आज तार आया और परमों में निकला। कुछ इन्तजाम करना था, क्योंकि मैं पैदल यात्रा करनेवाला था। मेरे मन में दो प्रकार का समाधान था : एक तो यह कि मैं एक महापुरुष की आज्ञा का पालन करता हूँ। शीघ्र बुलाया तो शीघ्र निकला। और दूसरा यह कि पैदल चलना शुरू किया। मान लीजिये कि पैदल चलने का आग्रह न होता तो कभी इधर और कभी उधर जाना पड़ता। काम तो बाबा के पीछे था ही। इस वास्ते एकाग्रता के टुकड़े हो जाते। लोग कहते, जब बाबा फुरसत से काम कर रहा है तो हम भी फुरसत से काम करेंगे। फिर आज जो एकाग्रता से शक्ति बनी है, वह न बनती। इसलिए जैसे अभिषेक-धारा अखंड चलती है वैसे ही काम भी अखंड होना चाहिए। उसमें सातत्य होना चाहिए।

तीसरी बात बीच-बीच में मिल-जुलकर थोड़ी ज्ञान-चर्चा करनी चाहिए, नहीं तो क्या होता है? आप गांव में आते हैं तो लोग कहते हैं कि "अरे, भूदानी आया है। उसकी बात एक बार सुन ली है, अब बार-बार क्या सुनना है! उसका नाम ही 'भू-दानी' पड़ा। इससे अलग उसकी कोई पहचान होनी चाहिए। लोगों को लगना चाहिए 'हमारा सेवक' आया है, अनेकविधि सेवा करनेवाला सेवक आया है। उसके लिए आपको अध्ययन करना होगा, ज्ञान-चर्चा करनी होगी। बीच-बीच में ज्ञान-चर्चा के लिए रुकना चाहिए और परस्पर विचार करना चाहिए। ये तीन बातें हम करते हैं तो हमें विश्वास है कि हमारा कार्य सम्पन्न होगा।

**नयां सर्वोदय-सम्मेलन**

**कालड़ी, १० मई १९५७**

## ६ : : विचार-निष्ठा

ॐ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।  
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥  
सत्यमेव जयते नानृतम्, सत्येन पन्थाः विततो देवयानः ।  
येनाक्रमन्ति ऋषयो ह्याप्तकामाः, यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥

सात साल से एक विचार-यज्ञ चल रहा है। भारत एक बहुत पुराना देश है और उसमें अनेक प्रकार के आध्यात्मिक और सामाजिक प्रयोग किये गए हैं। उन प्रयोगों की पृष्ठभूमि इस देश के सारे इतिहास को उपलब्ध हुई है और परमेश्वर की योजना के अनुसार इस देश का सम्बन्ध दुनिया के बहुत-से देशों के साथ बहुत पुराने जमाने से आज तक चला आया है। इसलिए विचारों का लेन-देन इस देश और दुनिया के दूसरे देशों के बीच सतत चला आया है। कभी-कभी उस लेन-देन और विचार-विनिमय को आक्रमण का स्वरूप आया तो कभी संघर्ष का स्वरूप आया और कभी परस्पर प्रेम-परामर्श का रूप आया। इस देश पर बहुत बार आक्रमण हुए। फिर भी सारे इतिहास में इस देश की ओर से उस किस्म का आक्रमण दूसरे किसी देश पर हुआ हो, ऐसा स्मरण नहीं है। यह कोई छोटी चीज नहीं है कि इतने बड़े देश के लिए यह कहा जाता है कि इसने बाहर के किसी देश पर आक्रमण नहीं किया है। मेरे खयाल से यह एक बहुत बड़ी चीज है।

इस देश की श्रद्धा निरन्तर विचारों पर रही है और विचारों के समन्वय पर रही है। यहांपर जितने भी बाहर से लोग आये, चाहे वे व्यापार-व्यवहार के लिए आये हों, चाहे आश्रय के लिए आये हों, चाहे भूमि-प्राप्ति के लिए आये हों, चाहे राज्य-सत्ता की, वैभव की लालसा से आये हों, चाहे विचार-दान के लिए या विचार-चर्चा के लिए आये हों, या धर्म-प्रचार के लिए आये हों, ऐसे अनेक निमित्तों से जितने भी लोगों का यहां प्रवेश हुआ, उन सबको इस देश ने एक ही ढंग से स्वीकार किया और वह ढंग था कि जो विचार मिले, उसे अपने में पचा लेना, उसका समन्वय करना।

सात साल से हमारा यह जो आरोहण चला है, उसमें भारत की इस दृष्टि का निरन्तर खयाल रहा है। अपने चिन्तन का थोड़ा-सा अंश मैं आपके सामने रखना चाहता हूं। मेरे अन्दर समन्वय का जो द्वंद्व चल रहा है, उसका भी आपको दर्शन होगा। मैंने 'द्वंद्व' शब्द इसलिए कहा कि जबतक परिपूर्ण समन्वय सधता नहीं तबतक उसके अन्दर कुछ द्वंद्व भी रहता है। मैं अपना परीक्षण करता रहता हूं। दुनिया में जो भिन्न-भिन्न तत्त्वज्ञानी पुरुष, विचारक और चिन्तक हुए, उन्होंने जिस ढंग से काम किया, उसका दर्शन भी मैं कराऊंगा।

उन लोगों में कुछ ऐसे होते थे, जिन्होंने पहले से अंत तक केवल विचार पर

ही निष्ठा रखी। आदि में विचार, मध्य में विचार और अंत में विचार, इस तरह से जिनकी आदि-मध्यांत केवल विचार पर ही निष्ठा रही और विचार-समभ्रकर जिन्होंने सन्तोष माना ऐसे लोगों की जमात दुनिया में दीख पड़ती है। कुछ नाम लेना अपरिहार्य हो जाता है, उसके बिना चर्चा अव्यक्त दीख पड़ती है, इसलिए मैं कुछ नाम लूंगा। जैसे, 'महावीर'। वह जिस किसीसे मिलते थे, उसकी भूमिका पर जाकर उसे विचार समझाते थे। अपने निज के किसी विचार का आक्रमण सामनेवाले पर नहीं करते थे, बल्कि पूछ लेते थे कि वह शस्त्र किस प्रकार की विचार-पद्धति को मानता है। अगर वह वेदों को मानता था तो उसे वेदों के अनुसार समझाते थे। अगर वह दूसरी प्रणाली मानता था तो उसे उस प्रणाली के अनुसार समझाते थे। ऐसी कई प्रणालियां भारत में उन दिनों चलती थीं, जिनका दिग्दर्शन मंस्कृत, पाली, अर्थमागधी आदि भाषाओं में होता है। इस तरह उसकी परंपरा और विचार-पद्धति के अनुसार ही एक-एक को वह समझाते थे और यही कहते थे कि विचार कभी एकांगी नहीं होता है। जो एकांगी होता है, वह विचार नहीं, बल्कि अविचार होता है। इसलिए जो तुम मोचते हो, वह भी सही है, लेकिन उसमें भिन्न बातें भी सही हो सकती हैं, इसका खयाल मन में रखो और अपने विचार की पूर्ति के लिए उस विचार में बाहर जाकर कुछ विचार पाने की, विचार के विकास की पुष्टि की आशा रखो। उसके लिए हृदय खुला रखो। जो शस्त्र किसी प्रकार की विचार-प्रणाली पहले से नहीं मानते थे, उनके पास पहुंचने पर वह उन्हें अपने ढंग से विचार समझाते थे। इस तरह अग्र्यन्त अनाग्रह से वह विचार समझाते थे। उन्होंने दुनिया को एक बड़ी भारी देन दी है कि कोई भी विचार परिपूर्ण सर्वांगीण ही हो सकता है। जो सर्वांगीण नहीं होता, वह विचार ही नहीं है। उन्होंने कोई भी स्थूल कार्य अपने हाथ में नहीं लिया था और जिसे उन्होंने 'मध्यस्थ दृष्टि' कहा, उस मध्यस्थ दृष्टि से जनता को सिर्फ विचार ही समझाते गये।

महावीर के चालीस साल के बाद उनसे एक भिन्न अवतार हुआ, गौतम बुद्ध का। बुद्ध ने उनसे भिन्न विचार-प्रक्रिया चलाई। उन्हें समाज के सामने एक विचार रखना था, इसलिए उसके लिए आधार-रूप एक कार्य भी उन्होंने बूझ लिया था। वह कार्य उनके लिए सर्वस्व नहीं था, परन्तु वह विचार उनके लिए विचार का वाहन था और विचार-प्रचार के लिए एक साधन के तौर पर उन्होंने उस जमाने में यज्ञ में जो विकार आया था, उसकी शुद्धि का कार्य हाथ में लिया। वह प्रचार तो विशुद्ध करुणा का ही करते थे, परन्तु साथ-साथ यज्ञ में किया जाने-वाला बलिदान बंद करने का कार्यक्रम भी उन्होंने हाथ में लिया। विचार-प्रचार की यह दूसरी पद्धति है, जिसमें विचार पर श्रद्धा तो है ही, परन्तु उसके प्रचार के लिए कोई स्थूल आलंबन चाहिए, ऐसा समभ्रकर एक कार्य हाथ में ले लिया।

इसके आगे जाकर जिनकी विचार में श्रद्धा थी, उन्होंने विचार-प्रचार के लिए

कुछ संप्रदाय, शिष्य-परंपरा आदि बनाना शुरू किया। इस प्रकार से गुरु-पंथ, संप्रदाय आदि बने, जिसके परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न धर्म, जो एक-दूसरे के विरोधी नहीं थे, यद्यपि विरोधी दीख पड़ते थे, निर्माण हुए और उनके लाखों अनुयायी बने। इतिहास को दर्शन हुआ कि जब धर्म-विचार का आरंभ हुआ, तब खालिस विचार की दृष्टि से समझाया जाता था और लोग धीरे-धीरे समझते थे, परन्तु कुछ वरसों के बाद उसमें कुछ शक्तियां दाखिल होती थीं। जैसे ईसाई-धर्म में कांस्टेंटाइन के बाद एक परिवर्तन आया, बौद्ध धर्म में अशोक के बाद एक परिवर्तन आया। जैसे हिन्दूधर्म में और वैष्णव संप्रदाय में गुप्त-साम्राज्य के बाद एक परिवर्तन आया, जैसे लाओत्से और कनफ्यूशियस के विचार के साथ चीनी सत्ता जुड़ने से दूसरी शक्ति से प्रचार हुआ, ऐसी कई मिसालें मिलती हैं। इस तरह खालिस विचार समझाना और केवल विचार ही समझाते रहना, उसके साथ कोई कार्य हाथ में न लेते हुए विचार समझाते रहना, यह एक पद्धति हुई और विचार-प्रचार के लिए कुछ कार्य हाथ में लेकर उसके जरिए विचार समझाना, यह दूसरी पद्धति हुई।

तीसरी पद्धति में विचारों का शासन आया, यानी शासन के या सत्ता के जरिये लोगों में विचार-प्रचार किया गया। विचार के ग्रहण के लिए भौतिक अनुकूलताएं पैदा करना और उसके अग्रहण के लिए भौतिक प्रतिकूलताएं पैदा करना, यह सारा किया गया। जो उस विचार को माने, उनके लिए अनुकूलताएं पैदा की गईं और जो नहीं माने उनके लिए प्रतिकूलताएं पैदा की गईं। इस तरह का आयोजन हुआ। अब धर्म-विचार के साथ सत्ता जुड़ गई और सत्ता ने धर्म-विचार का प्रचार करना अपना कर्तव्य समझा। जिस सत्ता ने ऐसा अपना कर्तव्य समझा, वह सत्ता उस जमाने में लोकमान्य हुई और उस-उस धर्म के अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ी। उसका परिणाम क्या हुआ, हम सब जानते हैं। आज दुनिया में एक-एक धर्म को माननेवाले की करोड़ों की तादाद है, लेकिन धर्म-विचार की असलियत छिप गई है या विकृत हो गई है, वह प्रकट नहीं हो रही है।

इससे आगे जाकर जिस विचार को हम अत्यंत पवित्र समझते हैं और जिसके ग्रहण से मनुष्य-जाति का कल्याण होगा, ऐसा मानते हैं, उसके विरोध में कोई शक्ति खड़ी हो तो उस शक्ति को तोड़ना भी आवश्यक माना गया और विचार-प्रचार में या विचार-प्रचार के नाम पर सैनिक शक्ति की भी मदद ली गई। आरंभ में तो सुरक्षा के नाम पर सैनिक शक्ति आई। मुहम्मद पैगम्बर ने शुरू-आत में अत्यन्त तितिक्षा और सहनशीलता बरती और सबको यही समझाया कि हमारे विचार परमेश्वर की हमारे लिए देन हैं। उनके वास्ते लोग हमें तकलीफ देते हैं तो उन्हें सहन करना चाहिए। लेकिन बीच में ऐसा हुआ कि शिष्यों की सहन-शक्ति टूट गई और वे भागने लगे तो पैगम्बर को यह कहने का मौका आया कि डरपोक बनकर भागना ठीक नहीं है, इससे बेहतर है कि तुम तलवार लेकर

मुकाबला करो। लेकिन जितनी मात्रा में उसकी जरूरत है, उतनी ही मात्रा में उसका उपभोग करो। इस तरह जब उनके शिष्य क्षमा, तितिक्षा और अहिंसा के नाम से डरपोक बनकर पलायन करने लगे, तब उन्हें प्रतिकार की आज्ञा देनी पड़ी। इस तरह विचार-प्रचार के लिए नहीं, बल्कि विचार के बचाव के लिए आरंभ में हिंसा को सम्मति दी गई। यह पैगम्बर की एक ही मिसाल नहीं है; महाभारत में भी यही दिखाई देता कि विचार-प्रचार के साथ एक नई शक्ति आई और शुद्ध विचार के साथ उसे जोड़ा गया। उसके बाद किसी प्रकार का विचार समझना ही नहीं रहा और ऐसे काम किये गए, जिसमें जो विचार न समझता हो, उसे दंड ही देना चाहिए। इस तरह विचार-प्रचार के मोह में ऐसी शक्तियां प्रकट हुईं, जिनसे विचार अविचार में परिणत हुआ।

यह सारा इतिहास मेरे सामने है। मैं सोचता हूँ कि मेरी श्रद्धा इनमें से किस पर है और मैं कर क्या रहा हूँ। समन्वय का द्वंद्व मुझमें चल रहा है। उसका दर्शन मैं आपको कराना चाहता हूँ। मेरी श्रद्धा विचार के सिवा और किसी चीज पर लेशमात्र भी नहीं है, बल्कि अपने अनुभव से मैंने देखा है कि विचार जब ध्यान में आता है, तब ध्यान में आने पर, समझने पर, पचने पर वह ठीक मालूम होता है, और उसका साक्षात् दर्शन होने पर अमल में लाने के लिए बीच में कुछ करना पड़ता है यह मेरी समझ में ही नहीं आता है। इसका मतलब यह नहीं कि जो विचार समझ में आया, उसपर मैंने फौरन अमल किया हो। इसके अमल में बहुत समय गया, परन्तु वह समय क्यों गया, इसका विश्लेषण करते हुए ध्यान में आया कि विचार को मैंने पूरी तरह से समझा ही नहीं था, इसलिए इसके अमल में कुछ समय गया। लेकिन जो विचार मैं पूरी तरह से समझा था, उसके आचरण के लिए और कोई कृति करनी पड़ती हो, कोई तप या साधना करनी पड़ती हो, यह मेरी समझ में नहीं आता। जब विचार समझने पर उसके अमल करने में मुसीबतें आती हैं, तब मैं अपने मन में यही समझता हूँ कि उस विचार को मैंने परिपूर्ण समझा नहीं है। विचार के अमल के लिए विचार को परिपूर्ण समझना ही परिपूर्ण और पर्याप्त है, यह मेरी श्रद्धा है। फिर भी मैं कर क्या रहा हूँ !

निरंतर घूमने का व्रत मैंने लिया है। यह भी ठीक है। घूमना और विचार समझाना चलता हो तो उसमें भी कोई विशेष विमंगति नहीं है। परन्तु मैंने विचार देने के लिए एक कार्य भी उठा लिया है और उससे भी आगे जाकर अब शांतिसेना की बात निकली है। शांतिसेना के लिए कुछ योजना भी करनी पड़ती है। लोगों ने मुझसे पूछा कि “शांतिसेना के लिए आयोजन क्यों करते हो ?” उसके लिए शर्तें, योग्यता, पावंदी यह सब क्यों रखते हों ?” मैं कहना चाहता हूँ कि इन सवालों का कोई जवाब मेरे मन में नहीं है, क्योंकि ये लाजवाब सवाल हैं। मेरी श्रद्धा विचारों पर होने के कारण मेरी तरफ से उन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया जा

सकता है। अगर मेरी चले तो मैं शांतिसेना का प्रयोग नहीं करता, उसकी योजना और प्रबंध नहीं करता, उसके लिए पाबंदियां नहीं रखता। अगर मेरी चले तो मैं किसी कार्य-विशेष को हाथ में नहीं लेता। अगर मेरी चले तो विचार-प्रचार के लिए धूमने की ही मुझे अन्दर से जरूरत नहीं महसूस होती, बल्कि विचार को परिसिद्ध करना, यही विचार-प्रचार का साधन है, ऐसा मैं मानता हूं। उसके लिए शब्द भी कमजोर साधन है।

प्रायः यह माना जाता है कि शब्द से कृति बलवान साधन है, परंतु मैं वैसा नहीं मानता हूं। कभी-कभी मैं वैसा बोलता हूं, परंतु मैं समझता यह हूं कि कृति से शब्द श्रेष्ठ साधन है और शब्द से निःशब्द, 'मौन' श्रेष्ठ साधन है। वाणी से जो प्रचार होता है, उससे अधिक प्रचार चिंतन से होता है। जब चिंतन में शुद्ध विचार आता है तो उसका तीव्र वेग से प्रचार होता है, ऐसा मेरा मानस मुझसे कहता है। यद्यपि इन दिनों बाहर के कार्य में तीव्र वेग से कर रहा हूं और शांतिसेना आदि का आयोजन भी कर रहा हूं, तथापि विचार पर मेरी जो श्रद्धा है, वह उत्तरोत्तर दृढ़ ही होती जा रही है।

दसवां सर्वोदय-सम्मेलन

पंढरपुर, १ जून १९५८

## १० : : वेदान्त, विज्ञान और विश्वास

गंगोत्री में गंगा बहुत ही निर्मल और परिशुद्ध होती है, परन्तु उसकी धारा छोटी होती है। आगे-आगे गंगा का प्रवाह जोरदार बनता है, उसका विस्तार होता जाता है और सागर-संगम के स्थान पर तो वह बहुत ही बढ़ता जाता है। फिर भी जैसे-जैसे विस्तार बढ़ता है, वैसे-वैसे उसकी स्वच्छता और निर्मलता कम होती जाती है। दुनिया में बहुत दफा ऐसे ही अनुभव आते हैं, जहां संख्या-वृद्धि हुई, वहां गुण का कुछ ह्रास ही हुआ; और जहां गुण पर जोर दिया गया, गुण बढ़ा, वहां संख्या कम हुई। मैं इस घटना पर बहुत चिन्तन करता हूं कि क्या सचमुच गुण-वर्धन और संख्या-वृद्धि में विरोध है? सभी चिन्तनों का मूल आधार, परम आदर्श, परमेश्वर है। जब उसकी तरफ देखता हूं तो मुझे यही दीख पड़ता है कि वह परम शुद्ध है और परम व्यापक भी। वहां तो शुद्धि और व्यापकता का विरोध नहीं दीखता, दोनों एक साथ ही दीखते हैं। हम आसमान की तरफ देखते हैं, वहां भी यही दीख पड़ता है कि उसकी व्यापकता के साथ उसकी निर्मलता में कोई कमी नहीं हुई। वह परम निर्मल और परम व्यापक ही है। किन्तु गंगा की हालत कुछ

दूसरी ही दीखती है। तब यही अनुभव आता है कि हमारी हालत गंगा के समान है, आसमान के समान नहीं। हम परमेश्वर की प्रतिमा नहीं बन सकते। उसके साथ हमारे जीवन और अनुभव का मेल नहीं बैठ पाता।

आखिर इसकी क्या वजह है, इसपर जब मैं बहुत सोचता हूँ तो मालूम होता है कि जो एकदेशीय रहकर शुद्धि की कोशिश करते हैं, उनकी शुद्धि सकोच में टिकती है। इसीलिए व्यापकता याने सख्या, और शुद्धि यानी गुणों, के बीच विरोध पैदा होता है। व्यापक चिन्तन में यह विरोध लाजमी नहीं है। अभी हमें सोचना पड़ेगा कि हमारा चिन्तन कहां तक ठीक चलता है? हम एक बात निकालते हैं तो दूसरी बात ढीली पड़ती है; दूसरी निकालते हैं तो पहली ढीली पड़ जाती है और तीसरी निकालते हैं तो दोनों ढीली पड़ जाती है। इस तरह एकाग्रता में और समग्रता में बाधा पहुंचती है। जहां ऐसा होता है, कहना पड़ेगा कि वहां एकाग्रता में, उस कल्पना में भी कोई दोष ही है। अतः हमें ऐसी कोई युक्ति साधनी चाहिए, जिसमें एकाग्रता और समग्रता एकत्र हो सके। जब कि साधक अक्सर सब लोगों को टालकर ध्यान के लिए एकान्त में जाते हैं और वहां परमेश्वर के साथ एकरूप होने की कोशिश करते हैं, वहां भीरा दुनिया के सारे वन्धन तोड़ लोगों के सामने नाचती और कहती है, “मैं तो गिरिधर आगे नाचूंगी।” अतः कहना पड़ेगा कि उमें कोई ऐसी युक्ति सध गई है, जिसमें समग्रता और उसकी एकाग्रता बाधक नहीं होती। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें ऐसी युक्ति साधनी चाहिए, कि सारी सृष्टि परमेश्वर के विविध रूप में बनी हुई है, ऐसा अनुभव हो। अतएव जब हम एक चीज पर जोर देते हैं और दूसरी चीज ढीली पड़ जाती है तो यही समझना चाहिए कि हमारा विचार ही कृण्टित है। बाबा ने सर्वोदय-पात्र की बात शुरू की तो कुछ लोग समझने लगे कि ग्रामदान-विचार पीछे ही रह गया। यही चिन्तन का दोष है। मैं सूचित करना चाहता हूँ कि हमें अपना यह चिन्तन-दोष देखना और उसे संशोधित करना चाहिए।

अभी देखिये, ‘पक्षमुक्त’ और ‘पक्षातीत’—एक नई परिभाषा है। कल मुझे उसपर प्रकाश मिला और मैं बोल गया। अभी उसका पूरा अर्थ ध्यान में नहीं आया, धीरे-धीरे आ जायगा; लेकिन उसका परिणाम क्या हुआ, यह आपने देख ही लिया। इससे गोकुलभाई के दिल को ठण्डक पहुंची और उन्हें हिम्मत हुई। मैं सोचता रहा कि गोकुलभाई जैसे मनुष्य को जिस विचार में संकोच मालूम हो, निश्चय ही उसमें कुछ एकांगिता होनी चाहिए। मेरा मन तत्त्व-ज्ञान से बना होने के कारण कोई दरवाजा खोलने में क्या-क्या खतरे हैं, यह मैं सोच सकता हूँ। उन्हें अपनी आंखों से ओभल नहीं कर सकता। फिर भी मैंने यही सोचकर दरवाजा खोल दिया कि अगर वास्तव में हममें गुण हैं तो संख्या-वृद्धि भी हो जायगी। व्यापक दृष्टि करने से दोनों में विरोध नहीं आयेगा। फलस्वरूप आपने देख ही लिया कि

गोकुलभाई ने अत्यन्त भावनायुक्त चित्त से यहां जाहिर कर दिया कि राजस्थान में शान्ति-सैनिकों की जो अपेक्षा की गई है, वह पूर्ण होने की आशा की जा सकती है।

यह कोई छोटी बात नहीं है। हमने शान्ति-सैनिकों की जो मांग की है, उसमें एक ओर प्राणार्पण करने की प्रतिज्ञा है तो दूसरी ओर नित्य सेवा की प्रतिज्ञा है। रविशंकर महाराज कह रहे थे, “आपकी पहली प्राणार्पण की प्रतिज्ञा तो बहुत आसान है, लेकिन दूसरी नित्य सेवा की प्रतिज्ञा नित्य मरण ही है। यह बड़ा कठिन काम है। इसलिए अगर आप यह दूसरी कैंद न रखें तो संभव है कि प्राणार्पण की नैयारी करनेवाले लोग मिल जायेंगे।” महाराज के कहने में वजन है, क्योंकि वह जो कुछ कहते हैं, अनुभव से कहते हैं, कोरी विद्वत्ता से नहीं। तात्पर्य यह कि यह भी कठिन है और वह भी कठिन है। ऐसी द्विविध कठिन प्रतिज्ञाएं करनेवाले बहुत तादाद में मिलेंगे, ऐसी आशा नहीं। इस तरह जब हम व्यापक दृष्टि में सोचेंगे तभी काम होगा।

मेरे समझता हूं कि गुण और संख्या का विरोध वहीं होता है, जहां-जहां प्रयत्न एकांगी रहता है। ईसामसीह ने यूरोप और एशिया में नव-विचार फैलाने का प्रयत्न किया। उनके शिष्य भी अच्छे थे और उनके विचार भी बहुत ही सुन्दर थे। दुश्मन पर प्यार करना, अपनी सब चीजें सबके साथ बांटकर खाना, एक ही परमेश्वर मानना—ये कोई ऐसी बातें नहीं, जिनपर आक्षेप किये जा सकें। वह ऐसी सर्वांग-सुन्दर जीवन-दृष्टि लेकर निकले। लेकिन बाद में उनके शिष्यों द्वारा उसमें एक ऐसी चीज दाखिल की गई, जिससे वह विचार अच्छा होने पर भी एकदेशीय बन गया। इसीलिए जब उनकी संख्या बढ़ी तो गुण घटने लगा। जहां संख्या बढ़ने लगी, वहां गुण नहीं बढ़ा और जहां गुण बढ़ने लगा, वहां संख्या घट गई। वह एकांगी विचार यही था कि “एकमात्र ईसामसीह परमेश्वर के पुत्र हैं और उन्हींके द्वारा हम परमेश्वर के पास पहुंच सकते हैं।” इसके बजाय अगर वे यों कहते कि “हम सब परमेश्वर के पुत्र हैं और उनमें ईसामसीह एक उज्ज्वल पुत्र-रत्न हैं” तो कोई उच्च न होता।

मैं जरा आहिस्ता-आहिस्ता चिन्तन कर रहा हूं। पहले सर्वोदय-सम्मेलन की बात है, जो गांधीजी के प्रयाण के बाद सेवाग्राम में हुआ था। उस समय इसके नामकरण की बात चली। कुछ लोगों ने कहा कि “इसे गांधीजी का नाम दिया जाय।” मैंने कहा, “ऐसा क्यों कहते हैं? ‘सर्वोदय’ यह शब्द बड़ा ही सुन्दर है और गांधीजी ने ही हमें दिया है। इससे भी अधिक प्राचीन आधार उसे प्राप्त है। इसलिए यही बेहतर होगा कि उसीको हम चलायें और गांधीजी का नाम न रखें।” खुशी की बात है कि लोगों को यह समझ में आ गया और उन्होंने मेरी बात मान ली। जिस तरह ‘ला इलाही इल् इल् लाह’ (ईश्वर के सिवा कोई महान् नहीं, कोई पूजनीय नहीं) इसके साथ ‘मुहम्मदुर्रसूल उल्लाह’ (मुहम्मद हमारा रसूल

है) यह जोड़ दिया गया, उसी तरह अगर हम भी यह कहते कि 'सत्यनिष्ठा और अहिंसा हमारे उपास्य देवता हैं और गांधीजी हमारे गुरु हैं' तो निःसंदेह हम अपने सद्बिचार में एकदेशीयता दाखिल करते। परिणामस्वरूप यह आपत्ति आती कि संख्या बढ़ती, पर गुण घटता जाता। लेकिन वह आपत्ति टल गई, क्योंकि हमने उस नाम को अपने हृदय में ही रखा, वाणी में नहीं आने दिया।

तुकाराम की एक बहुत ही अद्भुत उक्ति है। सहज स्फूर्ति से उसने कहा है :  
**“आहे ऐसा देव वदवावी वाणी। नाहीं ऐसा मनीं। अनुभवावा।”**

यानी परमेश्वर है, ऐसी वाणी से बोलना चाहिए और वह नहीं है, ऐसा मन में अनुभव करना चाहिए। तुकाराम भी उसी कोटि के मनुष्य थे, जिस कोटि के हमारे रविशंकर महाराज हैं। वह ज्यादा पढ़े नहीं थे, पर जो भी थोड़ा पढ़ा, उसे उन्होंने पचाया। उनकी यह युक्ति हमें बड़ी कारगर मालूम हुई। यदि आप ऐसा कहीं कहते तो आप एकदेशीय और संकुचित हो जायेंगे। अगर आप 'हैं,' तो 'हैं' में 'नहीं' भी हैं। आपका पूर्ण क्रियापद 'नहीं' है। वह इतना व्यापक है कि वह अन्तर्गत भी है। इसलिए आप 'नहीं' कहते हैं तो आपके अन्तर में वह है नहीं। और अगर आप 'हैं' कहते हैं तो उसके अन्तर में 'नहीं' है, ऐसा अनुभव आपको करना होगा। परमेश्वर है, यह बोलने की बात है और नहीं है, यह अन्तर में अनुभव करने की बात है। इस तरह स्पष्ट है कि जहां हमारे चिन्तन में एकदेशीयता आ जाता है, वहां गुण और संख्या के बीच विरोध खड़ा हो जाता है। किन्तु जहां एकदेशीयता नहीं है, वहां इस प्रकार का भय नहीं है। इन दिनों इस चीज पर मेरा चिन्तन चल रहा है।

सत्याग्रह की ही बात लीजिये। पूछा जाता है कि क्या लोकतंत्र में सत्याग्रह को स्थान है? एक कहता है—'नहीं,' तो दूसरा कहता है—'है'। किन्तु दोनों सत्याग्रह की असत् कल्पना कर बैठे हैं। अगर हम सत्याग्रह की परिशुद्ध कल्पना करें तो कहना पड़ेगा कि लोकतंत्र में उसे एक विशेष स्थान हो सकता है। यहां हमें 'सत्याग्रह' को व्यापक अर्थ में लेना होगा। अगर यह नहीं हो पाता तो सत्याग्रह में भी वही आपत्ति आयेगी—जहां संख्या बढ़ाने की बात आयेगी, वहीं गुण घटेगा और जहां गुण बढ़ाने की कोशिश होगी, वहां संख्या घटेगी। संकुचित कल्पना में यह आपत्ति आती ही है।

मैंने कहा था कि वेदांत, विज्ञान और विश्वास—ये तीन शक्तियां इस जमाने को चाहिए। वेदान्त का अर्थ है, वेदों का अन्त याने खात्मा। अर्थात्, सभी कृत्रिम धर्मों का अन्त। वेद को उनका प्रतिनिधि मान लें तो वेदान्त का अर्थ हुआ—बाइबिलान्त, पुराणान्त, कुराणान्त या जितनी पुस्तकें, उन सबका अन्त। इस तरह वेदान्त अत्यन्त व्यापक वस्तु हो जाती है। इसीलिए मैं मानता हूं कि वेदान्त ही दुनिया को बचा सकता है। अगर मैं 'वेदान्त' का अर्थ उपनिषद् वगैरह कहूं,

तो फौरन एकदेशीपन आ जायगा। इसलिए ऐसा संकुचित विचार में नहीं मानता। मनुष्य को मनुष्य से अलग करनेवाली सभी कल्पनाओं का अन्त ही वेदान्त है। जब हम उसका ऐसा विशाल, व्यापक अर्थ करते हैं तो निःसन्देह वेदान्त से दुनिया का भला होगा।

विवेकानन्द ने अमरीका की धर्म-परिषद् में यही गर्जना की थी। वेदान्त में हम किसी एक पुरुष के साथ बंधे नहीं हैं, जैसे कि ईसाइयत ईसा के व्यक्तित्व के साथ बंधी है या जैसे कुछ कम मात्रा में सही, मुहम्मद के साथ इस्लाम की विचार-सरणी किंवा गौतम के साथ बौद्ध-धर्म की विचार-सरणी जुड़ी दीख पड़ती है। 'दीख पड़ती है' यह मैं जान-बूझकर कह रहा हूँ। वास्तव में वह नहीं है, दीख ही पड़ती है।

बुद्ध ने यह कहीं नहीं कहा है कि आप मेरे वचनों के अनुसार ही चलें या उसी तरह विचार करें। मुहम्मद ने भी ऐसा कभी नहीं कहा। उसने तो बार-बार यही दोहराया है कि "मैं परमेश्वर नहीं हूँ, मैं परमेश्वर की जगह नहीं बैठ सकता। मैं मर्त्य हूँ, मनुष्य हूँ।" लेकिन उसके कई ऐसे साथी निकले, जिन्होंने उसे 'परमेश्वर' कहा। जहाँ गुणों का प्रकाशन ज्यादा होता है, वहाँ मनुष्य की आँखें चौंधिया जाती हैं। इसलिए उसके बार-बार परमेश्वर होने से इन्कार करने के बावजूद उसे लोग परमेश्वर ही मानते थे। वह मर गया तो वह बात फँली, लेकिन लोगों ने उसे माना नहीं। यही समझ लिया कि वह मर नहीं सकते, यह बिल्कुल अफवाह है, गलतफहमी है। आखिर अबूबकर, जो उनका शिष्य था और सर्वथा सत्यवादी के तौर पर प्रसिद्ध था, एक मसजिद पर चढ़ा और वहाँ से उसने जाहिर किया कि "मुहम्मद एक आदमी था और वह मर गया।" तब कहीं एकत्र लोगों ने इस बात को सही माना।

हाँ, तो मुहम्मद ने यह कभी नहीं कहा कि मैं अल्लाह की जगह ले सकता हूँ और मेरे साथ परिपूर्ण सत्य जुड़ गया है, बल्कि उसने यही कहा कि "पहले के रसूलों ने जो कहा है, वही मैं आपके सामने कह रहा हूँ।" किंतु 'मुहम्मदुररसूल उल्लाह' यह लोगों ने बाद में जोड़ दिया। अल्ला का रसूल है, ऐसा अर्थ मुसलमानों ने माना। लेकिन मुहम्मद ने जो कहा है, उसका अर्थ यही है कि मुहम्मद उसका रसूल मात्र है, सेवक मात्र है। अल्लाह नहीं है, उसका पैगाम पहुँचानेवाला रसूल है। लेकिन आज उसका अर्थ मुहम्मद ही रसूल है, ऐसा किया जाता है, जो गलत है, बल्कि कुरान में इससे उलटा अर्थ लिख रखा है। अल्लामियाँ पैगम्बर से बोल रहे हैं कि "उसे तो मैंने पैगाम दिया है, अरबों के लिए अरबी जवान में बोलने के लिए। तू बोलेगा, यों समझकर मैंने तुझे पैगाम दिया है। मैंने हर एक कौम के लिए रसूल भेजे हैं।" उन्होंने कुछ रसूलों के नाम भी दिये हैं और कहा है कि "कुछ रसूलों के नाम तो तू जानता है और कुछ नहीं जानता।" फिर मुसलमानों के लिए

इकरार करना पड़ता है। यह बोलना पड़ता है 'ला नु फ़ररि कु बैन अहदिम् भिर रुसुलिह्' याने हम कोई रसूलों में फर्क नहीं करते। आज ही सुबह दरगाह-शरीफ में मैं यह बोल आया हूँ। इसका अर्थ अत्यन्त व्यापक है। फिर भी मुहम्मद के साथ यह चीज जुड़ जाने से इसमें एकांगिता आ जाती है।

परिणाम क्या हुआ ? परमेश्वर एक है, यह तो ठीक है। लेकिन विभिन्न रूपों में उसकी उपासना नहीं हो सकती, यह बात उसके साथ जुड़ गई। वेद ने कहा : 'एकं सत्' सत्य एक है; ठीक वही बात, जो पैगम्बर ने कही है। लेकिन वह आगे कहता है : 'विप्राः बहुधा वदन्ति' विप्र, ज्ञानी, उपासक, भिन्न-भिन्न उसकी उपासनाएं करते हैं। मतलब यह कि उस एक उपासना में अनेकविध उपासनाएं समाई हुई हैं। लेकिन इस्लाम ने यह नहीं माना। वे यही कहेंगे 'एकं सत् मूर्खाः बहुधा वदन्ति' सत्य एक है और मूर्ख उसे बहुविध कहते हैं। किन्तु यह एकांगी विचार हो जायगा। इसका अर्थ यही होगा कि वह एकता बहुविधता को समा नहीं सकती, सहन नहीं कर सकती। ऐसी एकता एकांगी हो जाती है। किन्तु यदि आप यह कहें कि 'सत्य एक ही है, पर ज्ञानी लोग भिन्न-भिन्न रूपों में उसकी पूजा करते हैं' तो तत्काल आप व्यापक विचार करने लगते हैं। फिर गुण और संख्या का विरोध ही आयेगा।

हमारे सामने एक समस्या है : "ग्रामदानी गांव की संख्या बढ़ाते चले जाते हैं तो कुछ ग्रामदानी गांव वोगस हो जाते हैं।" मुझे किसीने पूछा था कि "क्या ऐसा नहीं होता ?" मुझे जो उपमा सूझी, वह मैंने कह दी : "शिवाजी ने पचास किले जीते जिनमें से बीस गवाये और तीस हाथ में रह गये।" यह निरुत्तर करनेवाला उत्तर है, वह चुप भी हो जाना है, फिर भी मैं जानता हूँ कि इससे समाधान नहीं होता। अतः आवश्यक है कि हम चिन्तन करें। हमारे ग्रामदानी गांव ढीले पड़ते हैं, इसका कारण कुछ भी हो, फिर भी आपने ही उसे बनाया है और आप ही कह रहे हैं कि वे कच्चे हैं तो जाइये और पक्के बनाइये। खूटा जरा ढीला हो गया तो उसे पक्का बनाइये। पारिस्थिति ने उसे ढीला बना दिया तो क्या आप उसे उठाकर फेंक देंगे ? फिर आपकी चक्की ही कैसे चलेगी ? इसलिए आप ही खूटे को पक्का बनाइये। अगर वह पक्का नहीं बनता, पक्का बनाने में ही टूट जाता है तो अलग बात है। फिर भी उसे पक्का बनाने की कोशिश तो करनी ही चाहिए।

इस तरह स्पष्ट है कि हम लोगों में जो यह विचार चलता है कि "हम थोड़े-थोड़े ग्रामदान हासिल करें और वही मजबूत काम करें", उससे परिणाम तो अच्छा होगा, पर व्यापकता नहीं आयेगी, जिसका आना बहुत जरूरी है।

दूसरा विचार यह चलता है कि 'चन्द ग्रामदान हासिल करोगे तो तुमपर जिम्मेदारी आयेगी।' मैं कहता हूँ कि जितने ज्यादा ग्रामदान हासिल होंगे उतनी समाज पर जिम्मेदारी आयेगी, तुम्हारी जिम्मेदारी नहीं रहेगी। उस हालत में

विचार व्यापक बनेगा और लोगों को विविध प्रयोग करने होंगे। यदि हम इसकी व्यक्तिगत जिम्मेदारी उठाते हैं, कदाचित् हम नालायक साबित हों या नाकाम-याव हों तो क्या ग्रामदान का विचार भी नालायक हो जायगा? मान लो कि विनोबा किसी एक जगह बैठे और उसने कुछ काम किया तथा वह सफल भी हुआ, तो लोग यही कहेंगे कि “विनोबा जैसा व्यक्ति बैठा, इसीलिए काम हुआ, नहीं तो न होता।” याने अगर हम सफल हुए तो हार गये और हार गये तो मर गये, जैसा कि आधुनिक लड़ाई में होता है। इसलिए उसमें कोई आश्चर्य नहीं माना जायगा।

एक भाई ने मुझसे कहा है कि आप काफी धूम चुके, अब एक जगह बैठ जायें और काम करें। इसपर मैंने उसे वेद का एक मन्त्र सुनाकर समझाया कि सबकी रक्षा करनेवाला परमेश्वर बैठे ही हैं। वह जिम्मेदारी मेरी नहीं है। कार्ल मार्क्स को किसीने नहीं कहा कि तुम करके बताओ। इसलिए ये जो दो विचार चलते हैं, वे एक-दूसरे को काटनेवाले हैं। इनसे सारा विचार ही संकुचित, कुंठित हो जायगा। दोनों मिलकर एक ही विचार है—कुछ ग्रामदान मजबूत बनाये जाय और नये-नये ग्रामदान हासिल किये जाय। ग्रामदान के लिए हवा भी खूब बनाई जाय, प्रचार भी खूब किया जाय। संख्या की वृद्धि से हमें डर नहीं, पर उसके साथ ही गुणवृद्धि होना भी लाजिमी है। जब हम ऐसी व्यापकता के साथ काम करेंगे, तभी हमारी ताकत बढ़ेगी। मैं इस विचार को बहुत महत्त्व दे रहा हूँ। हमारे कार्य-कर्त्ताओं के मन में द्विधा नहीं, त्रिविधा ही नहीं, चौविधा भी प्रकट हो सकती है—हम यह करें या वह करें, ऐसा वे सोच सकते हैं। लेकिन पहले हमें यही समझना चाहिए कि हम ही करनेवाले कौन हैं? सर्वोदय-पात्र कहेगा कि हम यानी कुल हिंदुस्तान। फिर हरेक से जितना बन सके, उतना वह करे, वह हमारा ही काम माना जायगा।

आज सुशीलाबहन नैयर से बातें हो रही थीं। वह गांधीजी के पास रही हैं, इसका हमपर बहुत असर है। वह कह रही थी कि “ग्वालियर के नजदीक डाकुओं का मुल्क है। जी चाहता है कि वहां शान्ति-सेना का काम करूं। लेकिन अगर आपके शान्ति-सेना के नियमों में वह बैठता हो, तभी कर सकूंगी। आप आशीर्वाद दीजिये।” मैंने उससे कहा—“यह मैं जाहिर कर देना चाहता हूँ कि शान्ति-सेना का काम करने के लिए शान्ति-सेना के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने की बिल्कुल जरूरत नहीं। फिर भी प्रतिज्ञा-पत्र हासिल करने का मेरा यह नाटक जारी ही रहेगा। शान्ति-सेना का काम जिसे सधे, वह करे। जिसके दिल में उसके लिए तीव्रता हो, वह यह काम करेगा ही। मैं जानता हूँ कि मनुष्य की कुछ मर्यादा होती है। ऐसे मनुष्य के लिए वे नियम लागू नहीं होते। हमारे शास्त्र में कहा है कि ‘जो तेजस्वी हो, उसे दोष लागू नहीं होते।’ तुलसीदास ने भी यही लिखा है—‘समरथ को नहिं दोष गुसाई।’ अगर सुशीला यह दिखा दे कि वह वहां जाती,

काम करती और कामयाब होती है तो अच्छा ही है। वह वहां जायगी तो दो चीजें होंगी : (१) उसके कार्य से उसका जीवन सफल होगा या (२) उसमें वह कतल हो जायगी। इसलिए नियमों में न बैठ सकें तो भी लोग समय पर यह काम कर ही सकते हैं। मैं व्यापक बनना चाहता हूं और मैं व्यापक ही हूं।

मुझे कुछ लोग अजीब सवाल पूछते हैं। अभी राजस्थान में ही एक भाई ने पूछा कि “क्या हम बीड़ी पीते हैं तो शान्ति-सैनिक हो सकते हैं?” मैंने पूछा—“क्या प्रतिज्ञा-पत्र में ऐसा लिखा है कि बीड़ी नहीं पीनी चाहिए?” उसने कहा—“नहीं लिखा है।” इसपर मैंने कहा कि “ऐसा नहीं है, यही समझ लो।” प्रतिज्ञा में मैं ऐसी कंद नहीं रखता। अगर रखता तो खतम ही हो जाता। उसमें न बीड़ी पीने का निषेध किया गया है और न खादी पहनने या सूत कातने का विधान। ऐसा कुछ है ही नहीं। मैं संकुचित बनने का साहस नहीं कर सकता। मैं तो समझता हूँ कि वह ‘सेप्टी वाल्व’ है, उससे बचाव हो सकता है।

मैंने यह कहा है कि सत्याग्रह का अर्थ यही है कि सत्य को ही आग्रह करने दीजिये, आप सत्य का आग्रह मत कीजिये। आप तो सत्य का पालन ही कीजिये। आप अगर समझते हैं कि हमारा आग्रह ठीक है तो सामनेवाला भी आग्रह रखेगा। इस तरह एक आग्रही मन के खिलाफ दूसरा आग्रही मन खड़ा हो जायगा और दो मनों की टक्करों को टालना होगा। सज्जनों के मनों की विरोधी टक्करें नहीं होने देनी चाहिए। अगर कोई भी सज्जन आकर मुझे कहे कि तुम्हारा विचार संकुचित मालूम होता है तो मैं उसे यही कहूंगा कि तुम्हारे लिए मैंने वह खोल दिया है, क्योंकि सज्जन के विरोध में मैं खड़ा नहीं हो सकता। मैं जानता हूँ कि सामनेवाला सज्जन है और वह भी जानता है कि मैं सज्जन हूँ। इस तरह जब दोनों एक-दूसरे को जानते हैं तो संकुचितता नहीं होनी चाहिए। मेरी हमेशा यही कोशिश रहती है। इसलिए संकुचितता छोड़कर परिणाम देखना चाहिए। सही विचार मालूम करना चाहिए और मन में किसी तरह का आग्रह नहीं रखना चाहिए।

इसपर कल से ही लोग मुझे पूछने लगे कि “क्या चुनाव में खड़ा होनेवाला भी शान्ति-सैनिक बन सकता है?” मैंने गोकुलभाई से कहा कि आप ही इस बारे में बताइये। उन्होंने फैसला दिया—“चुनाव में खड़ा होनेवाला शान्ति-सैनिक नहीं बन सकता।” वह अगर दूसरा ही फैसला देते तो भी मैं सोचता। कोई अगर यह कहता कि “चुनाव में भी यदि कोई राग-द्वेष-रहित, परिपूर्ण शांत और तटस्थ मन से खड़ा होना चाहे तो क्या हर्ज है?” तो मैं यही कहता कि “हां भाई, कोई हर्ज नहीं।” इसलिए मेरा भरोसा ही मत कीजिये, मैं कुछ भी कह सकता हूँ। बड़ी मजेदार बात है। गुजरात में मैंने ‘शान्ति-सेना’ और ‘शान्ति-सहायक’ के लिए कभी कुछ कहा तो कभी कुछ। मैं एक भाई के सवाल का जवाब

दे रहा था तो नारायण ने कहा कि “परसों तो आप इससे भिन्न बात कहते थे।” बात यह है कि मैं जो बातें रखता या कहता हूँ, वे मुझे बाद में याद भी नहीं रहतीं। आग्रह के लिए याद तो रखनी चाहिए न? लेकिन याद नहीं रहतीं। इसी-लिए अंततः मैंने नारायण से पूछने का रिवाज रखा कि “क्यों नारायण, मैंने क्या कहा था?” तात्पर्य यह कि हम जितने व्यापक बन सकते हैं, उतने व्यापक बनें। हम यही चाहते हैं कि हम व्यापक बनें और हम सबको एक करें। हम सब सज्जनों को एक करना चाहते हैं। यही हमारी दृष्टि है।

किन्तु ऐसी दृष्टि रखते हुए भी हमने अंकुश तो रखा ही है। इसका कारण यही है कि हम जानते हैं कि बिना अंकुश के और काम तो हो सकते हैं, पर शान्ति-सेना का काम नहीं हो सकता। सिर फूटेंगे, पर सफलता नहीं मिलेगी। फिर सिर फुड़वाना ही हमारा लक्ष्य हो तो वह अलग बात है। अतः हम सफलता का प्रबन्ध करके ही सिर फुड़वाये। अगर ऐसा नहीं करते तो वह हमारी मूर्खता ही साबित होगी।

रविशंकर महाराज की ही बात देखिये। वह हमारे साथ चार-पांच महीने रहे हैं। वह कहते थे कि उनके विचारों के जो दोष थे, वे दूर हो गये हैं। मैंने भी उनके साथ रहकर अपने विचारों में जो दोष थे, उन्हें दुरुस्त कर लिया है। यह बात मैंने उनके सामने तो नहीं कही, अब कह रहा हूँ। उनके अनुभव की बात है। आप जानते ही हैं कि अहमदाबाद में महागुजरात के प्रश्न पर दंगा हुआ और कुछ गोलियाँ भी चलीं। उस समय महाराज ने कहा कि “जिनके हाथ में दण्ड-शक्ति है, उन्हें गोली चलानी पड़ी, इसमें इतना हर्ज नहीं। किन्तु जब कांग्रेस-आफिस से गोली चली तो मेरे मन में यह विचार आया कि कांग्रेस आफिस गोली चलाने की जगह नहीं है। वह तो मरने की जगह है, मारने की नहीं। इसलिए मेरा दिल बगावत करता है।” उनसे मिलने के लिए कांग्रेस के कुछ भाई गये थे। महाराज अहमदाबाद से चालीस-पचास मील दूर भूदान के प्रचार के काम में घूम रहे थे। उन्होंने महाराज से कहा कि “अगर आप अहमदाबाद आयें तो शान्ति का प्रचार कर सकते हैं, लोग भी आप की बात मान लेंगे।” महाराज ने कहा, “मैं आने को राजी हूँ, जरा प्रयत्न करना होगा। किन्तु वह कहां तक सफल होगा, कह नहीं सकता। लेकिन मैं उनके साथ यह भी कहूंगा कि कांग्रेस-आफिस से गोली नहीं चलनी चाहिए।” उसके बाद उन्हें वहां बुलाने का आग्रह नहीं हुआ।

यह सोचने की बात है। मैं यह कह रहा था कि हम खूब व्यापक बनना चाहते हैं और सबके साथ सम्बन्ध रखना चाहते हैं। फिर भी अगर महाराज गोलीवाली बात पर लोगों से पूछने पर खामोश रहते तो वह बहुत महान होने पर भी शान्ति-स्थापना में नाकामयाब ही रहते। सिर फुड़वाना ही तो अलग बात है; किन्तु सत्य बोलकर ही वह शान्ति की स्थापना कर सकते थे। निष्पक्ष होकर ही सत्य

बोला जाता है। इसपर कोई पूछे कि “पक्ष के अन्दर रहकर सत्य नहीं बोला जा सकता?” तो मैं यही कहूँगा कि बोलकर दिखाइये, मुझसे मत पूछिये। मैं तो मानने को राजी हूँ। पक्षपाती कोई नहीं हो सकता, ऐसा मैं नहीं कह सकता, फिर भी इन दिनों वह बड़ा मुश्किल है, क्योंकि पक्ष के साथ लड़ाई-भगड़े जुड़ ही जाते हैं। चाहे कोई पक्षमूलक भगड़े न हों तो भी पक्ष उनके बीच आ ही जाता है और किसी-न-किसी तरह से वे मामले पक्ष के बन ही जाते हैं। उस हालत में जहाँ जो भी कुछ जिस किसी पक्ष से हुआ हो वहाँ जाकर जो यह बोलने की हिम्मत करे कि ‘फलाना काम गलत हुआ है’ तो वह पक्ष में रहकर भी पक्षातीत बन जाता है, यह मैं जाहिर करना चाहता हूँ। महाराज तो किसी पक्ष में नहीं हैं, इसलिए वह तो पक्षमुक्त ही है।

इस तरह स्पष्ट है कि हमने जो कुछ मर्यादाएं रखी हैं, वे संकुचित बनने के लिए नहीं, बल्कि कारगर बनने के लिए ही हैं। हमें ऐसा लगा कि शान्ति-सेना के काम में सफल होने के लिए ये मर्यादाएं आवश्यक हैं, इसीलिए हमने उन्हें रखा है। किन्तु मान लीजिये, उनमें कुछ सज्जनों को, जो इसमें आने के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं, कुछ बाधा पड़ रही हो तो हम उसे हटाने के लिए भी राजी हैं, ऐसा हमने कल ही कह दिया, यह मानकर कि यहाँ थोड़ी संकुचितता आ सकती है। जहाँ संकोच आये, वहाँ उसे छोड़ दे तो गुण और मर्यादा के बीच विरोध नहीं आ सकता।

हम अपने कार्यकर्ताओं से यह निवेदन करना चाहते हैं कि जिस किसी कार्य के जिस किसी भी अंग में वे लगे रहें, जिस अंग में उन्हें श्रद्धा और विश्वास हो। मान लीजिये, सर्वोदय-पात्र का काम किया जाय, ऐसा वादा ने कहा तो कोई जरूरी नहीं कि आप वही काम करें। अगर आप जमीन के बंटवारे की जिम्मेदारी महसूस करते हों, तो उसीमें लगे रहें। इस व्यासपीठ (प्लैटफार्म) से किसीको संकुचित बनानेवाला कोई भी आदेश नहीं मिलेगा। मुझसे तो और भी नहीं मिलेगा, क्योंकि मेरे विचार में तो वह चीज है ही नहीं। इसीलिए जब कोई मुझसे पूछता है कि “ऐसी हालत में शान्ति-सेना कैसे बनेगी?” तो मैं यही कहता हूँ कि “देखिये, कैसे बनेगी। यह प्रयोग करके देखने की बात है।” मैं चाहता हूँ कि किसी भी विचार को बाधा न पहुंचाते हुए काम व्यापक बने। मेरी श्रद्धा है कि इस तरह किसी भी विषय को बाधा नहीं पहुंचायेगा, तभी काम व्यापक बनेगा। फिर गुण और व्यापकता में कोई विरोध आयेगा, ऐसा मैं नहीं मानता।

ग्यारहवां सर्वोदय-सम्मेलन,

अजमेर, २६ फरवरी १९५६।









